वर्णी-वाणी

— सम्पादक-वि० नरेन्द्र जैन —

श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी

"वर्णी वाणी" पढ़ने का मुझे अवसर मिला। पढ़कर मैं प्रभावित हुआ। सरल भाषामें गूढ़ विषयोंपर श्री वर्णीजीने बहुत सुन्दरतासे अपने विचारोंको व्यक्त किया है। इन उपदेशोंको पढ़कर और इनका अनुसरण कर युवकगण अपना और समाजका उपकार कर सकेंगे। मुझे आशा है कि इन वचनोंको सभी मतके अनुयायी सम्मानसे पढ़ेंगे।

—अमरनाथ झा
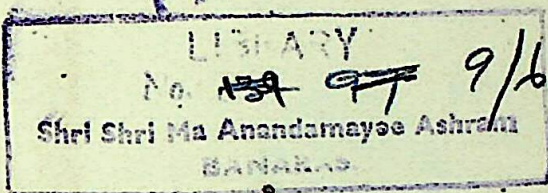
श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला २, २.

वर्णी-वाणी
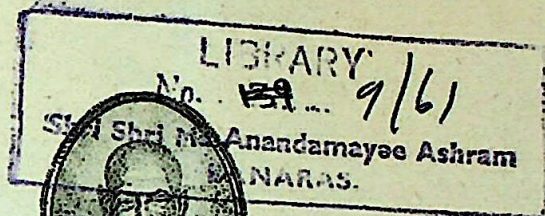
सङ्कलयिता और सम्पादक:—

विद्यार्थी "नरेन्द्र" काव्यतीर्थ, साहित्यशास्त्री

धनगुवाँ (छतरपुर)

प्रकाशक:—

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला,

भदैनीघाट, काशी

श्रीबन्ध
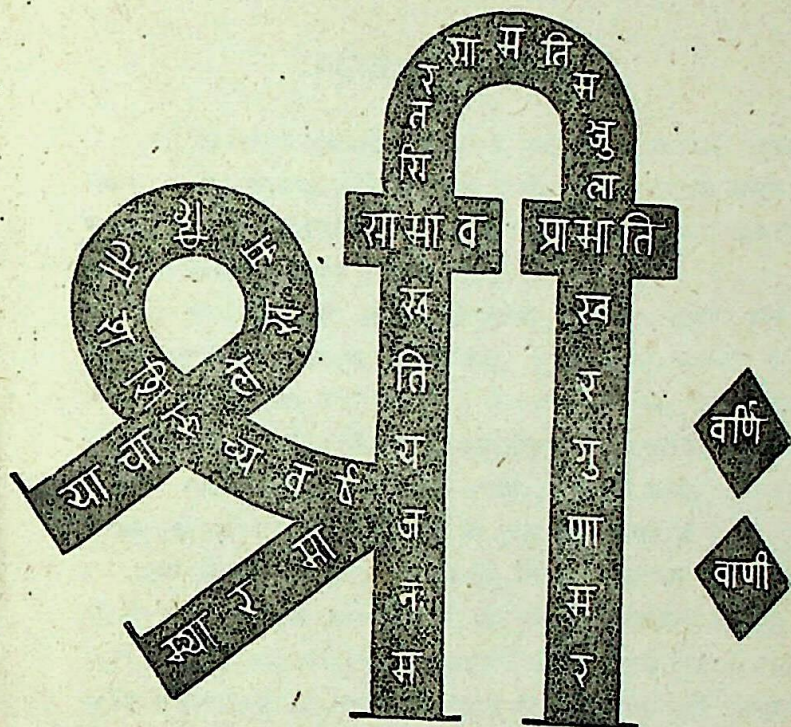
या चारुलेखमहिता शशिरुच्यवर्ष्मा,
रम्या रमा जनमनः जयति स्वभासा।
सा भावभासितरसा मतिमञ्जुलाभा,
प्रभाति भास्वरगुणामरवर्णिवाणी ॥

9/61

प्रकाशकीय वक्तव्य

दूसरे संस्करणके प्रकाशकीय वक्तव्यके अनन्तर इस वक्तव्यमें इतना कहना ही शेष रह जाता है कि समाजमें वर्णीवाणीका आशाके अनुरूप समादर हुआ है। परिणाम स्वरूप ग्रन्थमालाको उसका तीसरा संस्करण प्रकाशित करनेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

यह संस्करण दूसरे संस्करणकी अपेक्षा बड़ा है। इसमें प्रातः-स्मरणीय पूज्य श्री वर्णीजीके बाल्यावस्था, सुखकी चाह, आत्माके तीन उपयोग, मोह महाविष और सम्यग्दृष्टि ये महत्त्वपूर्ण लेख तथा उपदेश और जोड़े गये हैं। फिर भी ग्रन्थकी उपयोगिता और प्रचारकी आवश्य-कताको ध्यानमें रखकर समाजकी भावनाका आदर करते हुए इस संस्करणकी वही कीमत रखी गयी है जो दूसरे संस्करणकी थी।

प्रारम्भमें जब श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाका उदय हुआ था तब इसके माननीय सदस्योंने मेरे ऊपर इसके मन्त्रित्वका भार डाल दिया था परन्तु अपनी कठिनाइयोंके कारण मैं उसे निभानेमें असमर्थ रहा। चूंकि ग्रन्थमालाका वह प्रारम्भिक काल था और इतनी बड़ी संस्थाको खड़ा करनेमें अधिकसे अधिक जिन कठिनाइयोंकी संभावना की जा सकती है वे सब सामने आयीं, यहां तक कि ग्रन्थमालाके प्रमुख स्तम्भ अध्यक्ष सम्माननीय पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्रीके असह्य वियोगका जब-र्दस्त धक्का लगा, फिर भी दृढ़ाध्यवसायी और सतत प्रयत्नशील श्री पं० फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्रीने ग्रन्थमालाको सुदृढ़ और क्रियाशील बनाया है। ग्रन्थमालासे अब तक उसके उद्देश्यके अनुकूल जो प्रकाशन हुआ है वह काफी महत्त्वपूर्ण है और इसके लिये श्री प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्रीको जितना अधिक श्रेय दिया जाय, थोड़ा है।

अब मुझे माननीय सदस्योंके सद्भावना पूर्ण अनुरोधसे संकोचवश ग्रन्थमालाके मंत्रित्व को कार्यरूप देना पड़ रहा है इसलिये यह प्रकाशन यद्यपि मेरे सक्रिय कार्य कालमें होने जा रहा है फिर भी श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके अथक परिश्रमका ही यह परिणाम है ।

वर्णीवाणी पर श्री प्रो० राजकुमार जी साहित्याचार्य ने सुरुचिपूर्ण प्रबन्ध लिखा है और उसका ब्लाक हमें बन्धुवर प्रो० खुशालचन्द्र जी एम० ए० की सत्कृपा से प्राप्त हुआ है अतः हम इनके अत्यन्त आभारी हैं ।

अन्तमें पूज्य श्री वर्णीजीके चरणोंमें श्रद्धाञ्जलि प्रगट करते हुए मैं ग्रन्थमाला समितिके माननीय सदस्योंका आभार मानता हूँ क्योंकि उनके सत्सहयोगके फलस्वरूप ही ग्रन्थमालाका प्रकाशन प्रगतिपथ पर जा रहा है । श्री 'नरेन्द्र' जी भी धन्यवादके पात्र हैं क्योंकि वे अभी भी पुस्तकको अधिक से अधिक उपयोगी बनानेमें प्रयत्नशील हैं । और सबसे अन्तमें उन महानुभावोंका आभार मुझे मानना चाहिये जिन्होंने ग्रन्थमाला को अपने कर्तव्य पालनमें आर्थिक दृष्टिसे सुदृढ़ बनानेमें योग दिया है तथा जिनका ग्रन्थमालाके प्रति आकर्षण और सहानुभूति है ।

फाल्गुन वदि ९ वीर नि० २४७७
स्थान—बीना

—वंशीधर व्याकरणाचार्य
मंत्री श्री ग० वर्णी ग्रन्थमाला
काशी

"वर्णीवाणी" तृतीय संस्करण

की

आधारभूत सामग्री

१—मेरी जीवन-गाथा (वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित)।

२—पूज्य वर्णीजी द्वारा लिखे गये लेख।

३—वर्णीजीकी पाँच वर्ष की दैनन्दिनी (डायरियाँ)।

४—वर्णीजीके २८ वर्षके प्राचीन लेख।।

५—सागर, ढाना, जबलपुर, मुरार, ग्वालियर, इटावा आदिकी शास्त्रसभा और आम सभाओंमें दिये गये भाषणोंके संस्मरण जो मैं उस समय स्वयं लिख सका।

६—वर्णीजी द्वारा उनके भक्तोंको लिखे गये १००० पत्र।

प्रस्तावना

(द्वितीय संस्करण)

लोकमें अनेक वाद प्रचलित हैं। उन सबको अध्यात्माद और भौतिकवाद इन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तीसरा वाद और है जिसे ईश्वरवादके नामसे पुकारते हैं। यद्यपि आज तककी विश्व व्यवस्थाका आधार क्रमसे ये तीनों वाद रहे हैं तथापि वर्तमान कालीन व्यवस्थामें अध्यात्मवादका विशेष स्थान नहीं रहा है। इस समय मुख्यता ईश्वरवाद और भौतिकवादकी है। अध्यात्मवादी तो विचारे कोने में पड़े सिसक रहे हैं। वे स्वयं अध्यात्मवादी हैं इसमें सन्देह होने लगा है। अब लड़ाई शेष दो वादोंकी है। वर्तमान कालमें जो अध्यात्मवादका प्रतिनिधित्व करते हैं उन्होंने जीवन में ईश्वरवादकी शरण ले ली है। इस या उस नामसे वे ईश्वरवादका समर्थन करने लगे हैं। इसका कारण है ईश्वरवादियोंके द्वारा आत्माके अस्तित्वको स्वीकार कर लेना और उनके साहित्यमें ईश्वरवादकी छायाका आ जाना।

उपनिषद कालके पहले ईश्वरवादियोंने आत्माके स्वतन्त्र अस्तित्व पर कभी जोर नहीं दिया था पर इतने से काम चलता न देख उपनिषद काल में उन्होंने किसी न किसी रूप में आत्माका अस्तित्व मान लिया है। इससे धीरे धीरे अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दोनों गौण पढ़ते गये। फिर उनके सामने ऐसा कोई प्रश्न नहीं रहा जिसको हल करनेके लिये उन्हें विशेष प्रयत्न करना पड़ा हो।

किन्तु अब स्थिति बदल रही है और एक बार पुनः भौतिकवाद अपना सिर उठानेके प्रयत्नमें है। लड़ाई तगड़ी है। दिखाई तो यही देता है कि अन्तमें भौतिकवाद की ही विजय होगी, क्योंकि ईश्वरवादकी

सब बुराइयाँ चौड़े में आ गई हैं और जनता उनसे पिण्ड छुड़ानेके पक्षमें होती जा रही है।

इसका परिणाम क्या होगा यह कह सकना तो कठिन है पर इतना निश्चित है कि रोटी और कपड़ेका प्रश्न हल होने पर सम्भवतः मनुष्यका ध्यान पुनः अपने जीवनके संशोधनकी ओर जाय और तब सम्भव है कि अध्यात्मवादको अपनी प्राणप्रतिष्ठा करनेका अवसर मिले। पर इसके लिये अध्यात्मवादियोंको स्वयं सजग होनेकी आवश्यकता है। उन्हें अपनी बुराइयों की ओर देखना होगा। ईश्वरवादियोंके सम्पर्कसे जो बुराइयाँ उनमें घर कर गई हैं उनका तो उन्हें संशोधन करना ही होगा साथ ही अध्यात्मवादके उन मूल सिद्धान्तोंकी ओर भी उन्हें ध्यान देना होगा जिनकी प्राणप्रतिष्ठा किये बिना संसारमें चिरस्थायी शान्ति होना असम्भव है।

सुदूर पूर्व कालमें इस जगती तल पर संघर्षका कोई प्रश्न ही नहीं था। तब साधनोंकी विपुलताके सामने मनुष्योंकी संख्या न्यून थी, इससे उन्हें जीवनमें किसी प्रकारकी कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ता था। उस समय प्रायः सभी प्राकृतिक साधनों पर अवलम्बित रहते थे। प्रकृतिसे उन्हें इतने विपुल साधन उपलब्ध थे जिनसे उनका अच्छी तरह काम चल जाता था। उन्हें जीवनोपयोगी साधनोंको जुटानेके लिये किसी प्रकारका श्रम नहीं करना पड़ता था। बिना संघर्षके उनका जीवन यापन हो जाता था। वे न पर लोककी चिन्ता करते थे और न इस लोककी। आवश्यकता कम थी और साधन विपुल इसलिये उनका जीवन सुखमय व्यतीत होता था। किन्तु धीरे-धीरे यह अवस्था बदलती गई। मनुष्य संख्याके सामने साधन न्यून पड़ने लगे। इससे मनुष्योंकी चिन्ता बढ़ी और चिन्ताका स्थान संघर्षने लिया। यद्यपि उस समय इस चिन्तासे मुक्ति दिलानेवाले कुछ महानुभाव आगे आये जिन्होंने उस समयकी परिस्थितिके अनुरूप मार्ग दर्शन किया जिससे

चालू परिस्थितिमें कुछ सुधार भी हुआ। किन्तु यह अवस्था कब तक रहनेवाली थी। चालू जीवनके साथ जो नये-नये प्रश्न उठ खड़े हुए थे उनका भी समाधान आवश्यक था। उस समयके लोगोंने परिस्थिति सुलझाई तो पर स्थायी हल न निकल सका। आवश्यकता केवल जीवन यापनके नये-नये साधनोंके ज्ञान करानेकी नहीं थी किन्तु इसके साथ तृष्णाको कम करनेके उपाय बतलानेकी भी थी। यह ऐसी घड़ी थी जब योग्य नेतृत्वकी ओर सबकी टकटकी लगी हुई थी।

अध्यात्मवादको व्यावहारिक रूप देनेवाले भगवान् ऋषभदेव ऐसे ही नाजुक समयमें जन्मे थे। ये सब प्रकारकी व्यवस्थाओंके आदि-प्रवर्तक होनेसे आदिनाथ इस नाम द्वारा भी अभिहित किये गये थे। इन्होंने अपने जीवनके संशोधन द्वारा अध्यात्मवादके आधारभूत निम्न-लिखित सिद्धान्त निश्चित किये थे।

१—विश्व मूलभूत अनेक तत्त्वोंका समुदाय है। इसमें जड़ चेतन सभी प्रकारके तत्त्व मौजूद हैं।

२—ये सभी तत्त्व स्वतन्त्र और अपनेमें परिपूर्ण हैं।

३—ये सभी तत्त्व परिणमनशील होकर भी उनका परिणाम स्थायी आधारों पर अवलम्बित है। न तो नये तत्त्वका निर्माण होता है और न पुराने तत्त्वका ध्वंस ही।

४—वस्तुका परिणाम निमित्त साक्षेप होकर भी नियत दिशामें होता है। निमित्त इतना बलवान् नहीं होता कि वह किसी पदार्थके परिणमनकी दिशा बदल सके या उसे अन्यथा परिणमा सके।

५—प्रत्येक व्यवस्था पदार्थोंके स्वाभाविक परिणाम और उनके निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धोंमें से फलित होती है। जिस व्यवस्थाको कल्पना द्वारा ऊपरसे लादनेका प्रयत्न किया जाता है उसके अच्छे परिणाम निष्पन्न नहीं होते।

६—व्यक्तियोंके जीवनमें आई हुई कमजोरीके आधारसे किये गये

समझौतेके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था होती है। राजनैतिक व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्थाके ही अङ्ग हैं। पूर्ण स्वाव-लम्बनकी दिशामें जो व्यक्ति प्रगति करना चाहते हैं उनके मार्गमें ये व्यवस्थाएँ बाधक ही हैं साधक नहीं।

७—कर्म इन व्यवस्थाओंका कारण नहीं। किन्तु इन व्यवस्थाओं का मुख्य आधार जीवके अशुद्ध परिणाम हैं। जीवके अशुद्ध परिणाम कर्मके निमित्तसे होते हैं और वे इन व्यवस्थाओंमें कारण पड़ते हैं इतना अवश्यक है। कर्मका वही स्थान है जो अन्य निमित्तोंका है।

८—सब व्यवस्थाओंका मूल आधार सहयोग और समानता है। आजीविकाके साधन कुछ भी रहें उनसे समानतामें बाधा नहीं आती।

९—जीवन संशोधनका मूल आधार स्वावलम्बन है। परावलम्बी जीवन त्रिकालमें निर्मलताकी ओर अग्रेसर नहीं हो सकता।

ये वे सिद्धान्त हैं जो उनके उपदेशोंसे फलित होते हैं। इनकी पर-म्परामें आजतक जो अगणित सन्त महापुरुष हुए हैं उन्होंने भी उनकी इस दिव्यवाणीको दोहराया है और व्यक्तिस्वातन्त्र्यके मार्गको प्रशस्त किया है। पूज्य श्री वर्णीजी महाराज उन सन्तोंमें से एक हैं जिनकी पुनीत दिव्यवाणीका लाभ हम सबको होरहा है। इस पुस्तकमें उनकी वही दिव्यवाणी ग्रथित की गई है। यह प्रायः उनके उपदेशों और लेखोंके मूल वाक्य लेकर संगृहीत की गई है। इसमें उन त्रिकालाबाधित तत्त्वोंका निदश किया गया है जिनकी विश्वको सदा काल आवश्यकता बनी रहेगी।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि इस समय भौतिकवाद और ईश्वरवादका गहरा संघर्ष है। एक ओर भौतिक समाजवाद अपनी जड़ें पक्की कर रहा है। उसका सबसे मोटा यह सिद्धान्त है कि जगत्में धर्म और ईश्वरके नाम पर जितने भी पाखण्ड फैलाये गये हैं वे सब भोली जनताको फसानेके साधन मात्र हैं। उसके मतसे साधनोंके आधार से जीवनमें जो विषमता आ गई है उसका कारण वर्तमान आर्थिक

प्रणाली ही है। यदि उत्पत्तिके साधनोंपर राष्ट्रका अधिकार हो होकर उनके वितरणकी समुचित व्यवस्था हो जाती है तो ये सब बुराइयाँ सुतरां दूर हो जाती हैं। इसलिये उसके अनुयायी किसी भी उपाय द्वारा वर्तमान व्यवस्थाको बदलनेके लिये कटिबद्ध हैं। दूसरी ओर ईश्वरवादी अपनी बिगड़ी हुई साखको बिठानेमें लगे हुए हैं। वे व्यक्तिस्वातन्त्र्यका दावा तो करने लगे हैं पर जो ईश्वरवाद परतन्त्रता की जड़ है उसे नहीं छोड़ना चाहते। वे यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि ईश्वरको तिलाञ्जलि देने पर वर्तमान व्यवस्थाका कोई आधार ही नहीं रह जाता है। फिर तो समाजवादके प्रचारके लिये अपने आप मैदान खाली हो जाता है।

अब देखना यह है कि क्या इन दोनोंमें से किसी एकके स्वीकार कर लेने पर संसारका कल्याण हो सकता है? क्या व्यवस्थाका उद्देश्य केवल इतना ही है कि या तो अनन्त कालके लिये किसी अज्ञात और कल्पित शक्तिकी गुलामी स्वीकार कर ली जाय या सारा जीवन रोटीका सवाल हल करनेमें बिताया जाय। जहाँ तक हम समझते हैं ये दोनों व्यवस्थायें अपूर्ण हैं। एक ओर जहाँ ईश्वरवादको स्वीकार करने पर व्यक्तिस्वातन्त्र्यका घात होता है वहाँ दूसरी ओर केवल भौतिक समाज-वादको स्वीकार करनेसे जीवनका कोई उद्देश्य ही नहीं रह जाता। इसलिये आवश्यकता इस बातकी है कि कोई ऐसा मार्ग चुना जाय जिसके आधारसे ये सब बुराइयाँ दूर की जा सकें। हमारी समझसे अध्यात्मवादमें वे सब गुण मौजूद हैं जिनके आधारसे विश्वकी व्यवस्था करने पर जीवनका उद्देश्य भी सफल हो जाता हैं और आर्थिक व्यवस्था का भी सुन्दरतम मार्ग निकल आता है।

अध्यात्मवादका सही अर्थ हैं जड़ चेतन सबकी स्वतन्त्रा सत्ता स्वीकार करना और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको सहयोग प्रणालीके आधारपर स्वीकार करके व्यक्तिकी स्वतंन्त्रताको आँच न आने देना।

यदि हम इस आधारसे विश्वकी व्यवस्था करनेके लिये कटिबद्ध हो जाते हैं तो संसारकी समस्त बुराइयाँ सुतरां दूर हो जाती हैं।

'शान्ति और सुव्यवस्थाके साथ मानव मात्रको प्रत्येक क्षेत्रमें समानताके अधिकार मिलें, कोई जाति पिछड़ी हुई, अछूत और अशिक्षित न रहने पावे, स्त्रियोंका वर्तमान कालीन असह्य अवस्थासे उद्धार होकर पुरुषोंके समान वे नागरिकताके सब अधिकार प्राप्त करें, सांप्रदायिकता का उन्मूलन होकर उसके स्थानमें बन्धुत्वकी भावना जागृत हो और वर्तमान कालीन आर्थिक व्यवस्थाका अन्त होकर सर्वोपयोगी नयी व्यवस्थाका निर्माण हो ये वर्तमान कालीन समस्यायें हैं जिनके हल करनेमें अध्यात्मवाद पूर्ण समर्थ है।

पाठकोंको वर्णीवाणीका इस दृष्टिकोणसे स्वाध्याय करना चाहिये। मेरी इच्छा थी कि इसके कुछ चुने हुये वाक्य यहाँ दे दिये जाते किन्तु जब मैं वाक्योंको चुननेके लिये उद्यत होता हूं तब यह निर्णय ही नहीं कर पाता कि किन वाक्योंको लिया जाय और किन्हें छोड़ा जाय। इसके प्रत्येक वाक्यसे जीवन संशोधनकी शिक्षा मिलती है। विश्वके साहित्यमें इसे तामिल वेदकी उपमा दी जा सकती है। इसके एक एक वाक्यमें अमृत भरा पड़ा है। पूज्य श्री वर्णीजीने अपने जीवनमें सब समस्याओं पर विचार किया है और अपने पुनीत उपदेशों द्वारा उनपर प्रकाश डाला है। यह उन उपदेशोंका पिटारा है। इससे हमें स्वतन्त्रता त्याग, बलिदान, सेवा, कर्तव्यपरायणता, उदासीनता, भद्रता, भक्ति, मानवधर्म, सफलताके साधन आदि सभी उपयोगी विषयोंकी शिक्षा मिलती है। छोटे छोटे वाक्योंमें ये शिक्षायें भरी पड़ी हैं। जीवनमें आई हुई उलझनोंसे मुक्ति कैसे मिल सकती है यह इससे अच्छी तरह सीखा जा सकता है। ऐसी यह उपयोगी पुस्तक है। यह क्या पढ़े लिखे, क्या कम पढ़े लिखे सबके उपयोगकी है। एक बार जो इसे अपने हाथोंमें लेगा उसे छोड़नेको जी नहीं चाहेगा ऐसा सुन्दर इसका संकलन हुआ है।

संकलयिता और सम्पादक प्रिय भाई नरेन्द्रकुमारजी हैं। पूज्य श्री वर्णीजीका साहित्य यत्र तत्र बिखरा पड़ा है। अभी वह न तो एक जगह संकलित ही हो पाया है और न अभी पूरा प्रकाशित ही हुआ है। फिर भी भाई नरेन्द्रकुमारजीने पूरा श्रम करके इस कामको सम्पन्न किया है। वे इस काममें पूर्ण सफल हुए है इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। उन्होंने जिस आधारसे इसका संकलन किया है उसका निर्देश अन्यत्र किया ही है।

अन्तमें मेरी यही भावना है कि जो पुनीत सिद्धान्त इसमें ग्रथित किये गये हैं उनका घर घरमें प्रचार हो और बिना किसी भेद भावके सब इससे लाभ उठावें।

ता० ३०-४-४९
भदैनीघाट बनारस

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

पूज्य पं० नेहरूजीका शुभाशीर्वाद

वह थी ता० १६ जुलाई १९५० की मंगल प्रभात वेला, जब स्वतंत्र भारतके प्रधानमन्त्री महामना पूज्य पं० जवाहरलालजी नेहरू महोदयसे "वर्णी-वाणी" पर उनकी शुभ सम्मति लेने मैं प्रयाग पहुँचा। सुनहली सन्ध्याकी स्वर्णिम सूर्याभासे प्रदीप्त भव्यभाल पूज्य पं० नेहरूजीको मैंने प्रयाग विश्वविद्यालयके विशाल प्रांगणमें प्रमुदित पाया, और रात्रिमें ९ बजे उनके निवास निकेतन आनन्दभवनमें उन्हें आनन्द विभोर पाया। उनके मुखमण्डल पर—

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

—वाले भावोंकी अभिव्यक्ति उस समय स्पष्ट हो जाती जब वे कुछ मधुर स्मितके साथ किसीसे वार्तालाप करते, या अनन्त आकाशके दिव्य पट्ट पर टकटकी लगाये अपने पूर्वजोंकी यशःप्रशस्ति पढ़नेसे स्तब्ध रह जाते।

ठीक २० मिनिट बाद, पूज्य पं० नेहरूजी टेलीफोनवाले कमरेमें आये जहाँ उनके प्राइवेट सेक्रेटरी श्रीउपाध्यायजीने मुझे बैठाया था। उपाध्यायजीने मेरा परिचय पं० जी को देनेके पश्चात् जैसे ही मुझे संकेत किया, मैंने "वर्णी-वाणी" पुस्तक पंडितजीके कर कमलोंमें भेंट कर दी। भेंट करते समय जब उन्होंने मधुर मुस्कानके साथ मेरी पीठ ठोक दी तब कितना आनन्द हुआ कह नहीं सकता! पं० जीने पुस्तकके पन्ने पलटना प्रारम्भ किया, कुछ पढ़नेके बाद पूछा—" क्या चाहते हो?"

मैंने कहा—पुस्तक पर आपका अभिमत और शुभाशीर्वादके दो शब्द। पं० नेहरूजीने कहा—पुस्तक बहुत उपयोगी है।

मैंने कहा—और शुभाशीर्वाद?

समर्पण—
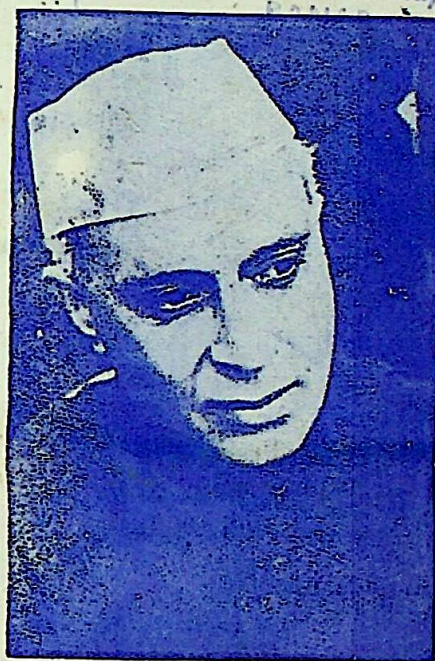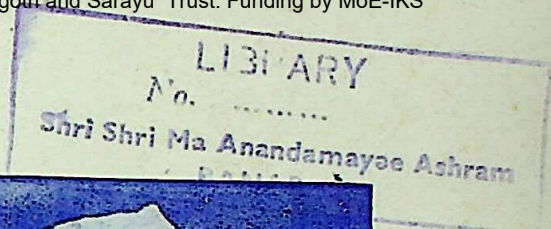
विश्ववन्द्य बापू की पुण्यस्मृति में
उनके प्रतिनिधि एवं पथानुगामी—
विश्व-हृदय सम्राट्, त्यागवीर
श्रीमान् पूज्य पं० जवाहरलालजी नेहरू महोदय
(प्रधान मन्त्री—स्वतन्त्र भारत)
के
पुनीत कर कमलों में

श्रद्धावनत—
त्रि० "नरेन्द्र"

पं० जीने कहा—आशीर्वादसे लाभ ?

मैंने उत्तर दिया—जिन्हें आपके दो शब्द प्राप्त हो जाते हैं, उनकी आशाका भण्डार भर जाता है। मैं भी उनमें एक होनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ, यही। पं० नेहरूजीने हँसते हुए कहा—शिक्षा पूर्ण करो, कर्तव्य करो, देश सेवाके लिये काम करो, सफलता अवश्य मिलेगी।

मैंने कहा—इन सभी बातों के लिये हमें आपका आशीर्वाद आवश्यक है। पं० नेहरूजीने कहा—क्या यह विना आशीर्वादके नहीं होगा ? मैंने कहा—जी नहीं, मेरा विश्वास है कि जीवनमें सफलताकी साधनाके लिये आपके शुभाशीर्वाद विना वह नवस्फूर्ति और वह नवजीवन जागृति नहीं आ सकती जो इसके लिये अपेक्षित है, अत्यावश्यक है। पं० नेहरू जीने कहा—अच्छा ? तो जाओ, सफलता अवश्य मिलेगी।

मेरे द्वारा दिये गये वर्णीजीके परिचयमें "मौनदेशभक्त वर्णीजी" शीर्षकमें वर्णीजीकी राष्ट्र कल्याणकी भावनासे वे बहुत प्रसन्न हुए। यह जानकर तो वे और भी प्रसन्न हुए कि वर्णीजीने मानवमात्रके आत्मकल्याण के लिये अपना स्पष्ट अभिमत देकर जैनधर्मके पवित्र उदार सिद्धान्तोंकी सुरक्षा की है, और विश्ववन्द्य बापूके रचनात्मक कार्य—अछूतोद्धारमें राष्ट्रीय सरकारकी सहायता कर सन्तोंको समुज्ज्वल पथ प्रदर्शन किया है।

सचमुच आजकी सामाजिक व दूसरी समस्याएँ ऐसी उलझी हुई हैं कि उनके सुलझानेके लिये वर्णीजी जैसे महामना सन्त ही समर्थ हो सकते हैं। साधारण व्यक्तियोंकी बात सुननेका समय आजकी समाज के पास नहीं है और न वह इसके लिये सजग ही है। कभी सजग होता भी हैं तो सही विचार व्यक्त करनेवालोंको दवाकर रखनेके लिये ही! एकबार मैंने एक ऐसी ही घटना वर्णीजीको सुनाई तब उन्होंने उत्तर दिया—"भैया ! यह तो संसार है, इसमें और क्या मिलेगा ? सारे समाजमें कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, उनकी प्रवृत्तियोंको देखकर ही

तो ठीक बात कहना यहीं छोड़ देना चाहिये। ऐसे अवसर पर तो उसे ऐसे व्यक्तियोंके व्यवहारोंसे यही सोचना चाहिये कि जिनकी दृष्टि ही निन्दा से देखनेकी होती है वे किसीको प्रशंसाकी दृष्टिसे देखें तो कैसे ? वर्णीजीका यह वाक्य मुझे विचारकोंको जीवनभरके लिये प्रकाश और साहस देनेवाला मन्त्र प्रतीत होरहा है। वर्णीजीके अनन्य भक्तोंमें कुछ ऐसे सजग व्यक्ति हैं जो वर्णीजीके इस मूलमन्त्रको आदर्श मानकर चलते हैं। श्रीमान् बाबू बालचन्द्रजी मलैया बी० एस० सी० सागरने एकबार ऐसे विचार अपने ता० ८-६-४७ के पत्रमें व्यक्त करते हुए मुझे लिखा था—

"भाई नरेन्द्र !

"पत्र आपका भादों कृष्ण ६ का आया। बड़े कार्य करनेके लिये ख्याल उस कार्यसे बहुत बड़े रखने पड़ते हैं। कारण, कार्य-सिद्धि तभी होती है जब कि वह मन, वचन, कायसे किया जाय। जब सभी एक ही दिशामें निर्मल प्रगति करें। मेरे यह लिखनेका तात्पर्य यही है कि अगर आप या और कोई ऐसे कार्यको उठानेका बीड़ा उठाना चाहेगा तब उन्हें ऐसा ही करना होगा। कोई कार्य बिलकुल ही उतावलीसे न करना होगा। गम्भीरता व सावधानी बहुत जरूरी है। कार्यके उपलक्ष्यमें हमें उसमें आहुति देनी होती है, तभी कार्य सफल हो सकता है। हमारे धर्मके उच्च आदर्श हैं पर वे एक अकर्मण्य समाजके हाथमें हैं, निठल्ली व मन-वचन-कायसे गिरी हुई समाजके हाथमें हैं। आत्मबल तो इसीलिये है ही नहीं। फिर बड़े कार्य करनेकी क्षमता कहाँसे हो ! आपको मैंने इन बातोंका लक्ष्य केवल इसीलिये किया है कि अगर आपको समाजका कल्याण करना है तो अपनेको उस पर आहुति देना होगा। व मेरेसे भूले भटकेकी तरह जो कुछ भी होगा, मैं सहयोगमें तत्पर रहूँगा। आपने जो पत्रमें लिखा है वह कटु-सत्य है, पर हमारे सामने समस्या एक ऐसी

है कि जिससे हम उस सत्यका प्रयोग भी नहीं कर सके हैं। कारण यह है कि हममें अबुद्धि और अविवेकका विष स्वार्थताके सहयोगसे इतना बढ़ गया है कि आपके व किसीके उसके विपरीत वचन एक केवल जलते हुए लाल लोहेके तवे पर पानीके बूँद जैसे हैं। आप कभी निराश न होवें। हमने भी आप ही जैसे प्रयास किये थे, पर वे ऐसे दबाये गये कि जिससे अब हम उस क्षेत्रमें कहीं फटक भी नहीं सकते हैं। हम जानते थे कि अभी उस क्षेत्रमें हम कुछ बदल सकते हैं व फैले हुए वातावरणको लौट सकते हैं पर कुछ असमञ्जसने हमें वहाँ रोक रखा।

"अगर आप श्री वर्णीजीके आगमनके समय हमारे भाषणमें उपस्थित होंगे तो स्मरण होगा कि मैंने समाजकी उन्नतिका केवल एक ही दृष्टिकोण रखा था व तब मेरा शिक्षा देनेके विचारसे यह मतलब था—

"हमारी शिक्षा एकदम आधुनिक हो जो पाश्चात्य तरीकों पर हो, पर साथ-साथ हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति व हमारा चारित्र हमारा ही हो।

"जब तक हम इसे सफल बनानेके मार्गमें आगे नहीं बढ़ते, तबतक हमारा उत्थान नहीं होता। मैं तो यहाँ तक कहता हूं कि धार्मिक क्षेत्रमें भी तबतक हम अपनेको नहीं उठा सकते। सामाजिक, व्यापारिक, राजनैतिक व दूसरे क्षेत्रोंकी तो कोई बात हो नहीं।

"समाज इस वक्त बराबर पण्डितोंके हाथ है व उनसे ही प्रार्थना है कि वे इसपर लक्ष्य दें। हमें आशा तो नहीं कि वे इसप्रकार ध्यान ही देंगे पर अगर आप अपने कुछ साथियों द्वारा इसका बीड़ा उठाएँ तो कार्यको सफल बनानेका उत्तरदायित्व मैं ले सकता हूँ। सिर्फ बात यह है कि कार्य गम्भीर है व गम्भीरतासे करना होगा। व आपको ज्यादासे ज्यादा ज्ञान उपार्जनमें लग जाना होगा। तब हम देखेंगे कि कार्य सफल होगा। यह भी खयाल रखें कि हर एक कार्य आदर्श बिना

रखे नहीं होता। कुछ भी हो वर्णीजीको आदर्श आपको बनाना ही होगा। वे बराबर आपके कार्यमें सहायक होंगे। आप अपने मार्गको आदर्श रखकर उसमें भी उनको आदर्श बना सकेंगे ऐसी हमें आशा है।

इससे अब जो भी लेख भेजें अपना दृष्टिकोण उसमें बिलकुल न बदलें, पर गम्भीरतासे सोचकर विषयको इसप्रकार रखें कि आपकी नीव मजबूत हो जाय। आप सच समझें आपको उस जलते हुए तवेको शान्त करना है जिसपर पानीके कुछ बूँद तो वैसे ही उछल जल जाते हैं। इसखे कार्य बड़ी गम्भीरतासे करिये। कारण इसमें बड़े-बड़े रोड़े आएँगे, जिसका मुख्य कारण यही है कि अज्ञान पर पैसेवाला समाज पण्डितोंकी प्रशंसामें इतना लट्टू है कि न समाज सुधरी न पण्डित; जो कि उसपर निर्भर हैं उसे सुधार सके। इससे प्रयोग बड़े ज्ञान व गम्भीरताका होगा व आप इसको लक्ष्यमें रखें।"

आपका—

बालचन्द्र मलैया

मलैयाजीकी इस आदर्श विचारधारामें वर्णीजीका वह मूलमन्त्र प्रतिबिम्बित दिखाई देता है जो मुझ जैसे व्यक्तियोंको अपनी प्रगतिके पथपर एक प्रबुद्ध पथप्रदर्शक या सच्चे सहयोगीका काम देता रहेगा।

पूज्य वर्णीजीके सम्बन्धमें उनकी वाणी 'वर्णीवाणी' ही प्रमाण है। मुझ जैसे विद्यार्थीका कुछ भी कहना सूर्यको दीपक दिखाने जैसा है।

मैं अपने साहित्य गुरु श्रीमान् पूज्य पं० मुकुन्दशास्त्रीजी खिस्ते साहित्याचार्य साहित्यमूर्ति तथा सुप्रसिद्ध लेखक एवं कहानीकार श्रीमान् पूज्य पं० द्विजेन्द्रनाथजी मिश्र साहित्याचार्य प्रो० गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशी, जैन समाजके प्रकाण्ड पण्डित श्रीमान् पूज्य पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री प्रधानाध्यापक श्री स्याद्वाद जैन संस्कृत विद्यालय काशी, अनेक ग्रन्थोंके सफल टीकाकार श्रीमान् पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य साहित्याध्यापक श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय

सागर और बुन्देल वसुन्धराके अनेक धूल भरे हीरोंको प्रकाशपुञ्ज देनेमें अकथ प्रयत्नशील श्रीमान् पूज्य पं० गोरेलालजी शास्त्री प्रधानाध्यापक श्री गुरुदत्त दि० जैन पाठशाला द्रोणगिरिकी कृपाका चिरकृतज्ञ हूं जिन्होंने मेरे जीवन क्षेत्रमें साहित्य शिक्षाका बीजारोपण सिञ्चित और सम्बर्द्धित कर मुझे इस योग्य बनाया जिससे मैं साहित्य देवताकी सेवामें अपने यह श्रद्धा सुमन समर्पित कर सकनेका सौभाग्य प्राप्त कर सका।

सहृदय साहित्यिक श्रीमान् पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री महोदय ने पुस्तकका पारिभाषिक शब्द कोष और मार्मिक प्रस्तावना लिखकर व ग्रन्थमाला सम्पादकके नाते अन्य प्रकारसे पुस्तक को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने आदिमें निःस्वार्थ सहयोग प्रदान किया है उसके लिए मैं उनका जितना आभार मानू थोड़ा ही है।

डा० पूज्य मुनि कान्तिसागर जी, ब्र० सुमेरचन्द्र जी भगत, डा० श्री रामकुमार जी वर्मा, श्री बाबू लक्ष्मीचन्द्र जी जैन एम. ए. डालमियां-नगर, श्रीमान् भा० सा० गोरावाला खुशालचन्द्र जी जैन एम. ए. साहित्याचार्य, सिद्धान्तशास्त्री काशी, श्री पं० ज्ञानचन्द्र जी जैन "स्वतन्त्र" सूरत प्रभृति जिन महानुभावों ने प्रत्यक्ष परोक्ष प्रोत्साहन दिया है उन सभीका मैं आभारी हूं। विदेशके जिन विद्वानोंने पुस्तक पर अपनी शुभ सम्मतियाँ भेजकर अनुगृहीत किया उनका भी मैं आभारी हूं।

इस संस्करणमें पूज्य वर्णीजीके अनेक उपयोगी विषयों का समावेश कर मैं कहां तक सफल हुआ हूं यह विज्ञ पाठक ही निर्णय करेंगे। अगला संस्करण और भी सुन्दर हो इसके लिए प्रयत्नशील हुँ।

विद्यार्थी के नाते भूल हो जाना असम्भव नहीं अतः आशा है पाठक एवं समालोचक सज्जन मुझे क्षमा करनेकी अपेक्षा त्रुटियां सूचित करेंगे जिन्हें अगले संस्करण में सुधारा जा सके।

स्वदेश और विदेशमें वर्णी-वाणीकी लोक प्रियताको देखकर तो मैं कहे बिना नहीं रह सकता कि वर्णी जी की पवित्र विचारधारा 'वर्णी-वाणी विश्व समाज को सुख समृद्धि एवं शान्तिदायक होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रयाग विश्व विद्यालय
प्रजातन्त्र दिवस
२६ जनवरी १९५१

विद्यार्थी "नरेन्द्र

जीवन झाँकी

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी

बाल जीवन—

श्री हीरालालजीका हीरा और उजियारी बहूकी आँखोंका दिव्य उजेला बालक गणेशका जन्म वि० सं० १९६१ की अश्विन कृष्णा ४ को हुआ। प्रकृतिकी निराली सुषुमा प्राकृतिक मंगलाचार करती प्रतीत होरही थी। हँसेरा ग्राम (झाँसी) अपनेको कृतकृत्य और वहाँकी गरीब कुटियाँ अपनेको धन्य समझ रही थीं। मुस्कराता हुआ बालक सहसा आतुर हो उठता खेलते-खेलते अपने आपको कुछ समझनेके लिये, दूसरोंको कुछ समझानेके लिये।

होनहार विद्यार्थी गणेशीलालका क्षेत्र अब घर नहीं एक छोटा-सा देहाती स्कूल और मड़ावराका श्री राममन्दिर था। वि० सं० १९३८, अवस्था ७ वर्षकी थी परन्तु विवेक बुद्धि, प्रतिभाशालिता और विनय सम्पन्नता ये ऐसे गुण थे जिनके द्वारा विद्यार्थी गणेशीलालने अपने विद्यागुरु श्री मूलचन्द्रजी शर्मासे विद्याको अपनी पैतृक सम्पत्ति या धरोहरकी तरह प्राप्त किया। गुरुकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझकर गुरुजीका हुक्का भरनेमें, भी कभी आनाकानी नहीं की। निर्भीकता भी कूट-कूटकर भरी थी, आखिर एक बार तम्बाकूके दुर्गुण गुरुजीको बता दिये, हुक्का फोड़ डाला, गुरुजी प्रसन्न हुए, हुक्का पीना छोड़ दिया।

बचपनकी लहर थी, विवेक परायणता साथ थी, जैन मन्दिरके चबूतरे पर शास्त्र प्रवचनसे प्रभावित होकर विद्यार्थी गणेशीलालने भी रात्रि-भोजन त्यागकी प्रतिज्ञा ले ली। यही वह प्रतिज्ञा थी, यही वह त्याग था

जिसने १० वर्षकी अवस्थामें (वि० सं० १६४१ में) विद्यार्थी गणेशी-लाल को वैदिक से जैनी बना दिया। इच्छा तो न थी परन्तु कुल पद्धतिकी विवशता थी अत: (सं० १९४३) १२ वर्षकी अवस्थामें यज्ञोपवीत संस्कार भी हो गया। विद्यार्थीजी ने (सं० १९४६) १५ वर्षकी आयुमें उत्तम श्रेणीसे हिन्दी मिडिल तो उत्तीर्ण कर लिया परन्तु दो भाइयों का असामयिक स्वर्गवास और साधनों का अभाव आगामी अध्ययन में बाधक हो गया।

गृहस्थ जीवन—

बाल जीवनके बाद युवक जीवन प्रारम्भ हुआ, विद्यार्थी जीवनके बाद गृहस्थ जीवनमें पदार्पण किया. (सं० १९४६) १८ वर्षकी आयुमें मलहरा ग्रामकी एक सत्कुलीन कन्या उनकी जीवन संगिनी बनी।

विवाहके बाद ही पिताजीका सदाके लिए साथ छूट गया लेकिन पिताजी का अन्तिम उपदेश—"बेटा ! जीवन में यदि सुख चाहते हो तो पवित्र जैन धर्मको न भूलना" सदा के लिए साथ रह गया। परिजन दु:खी थे, आत्मा विकल थी, परन्तु गृह भारका प्रश्न सामने था, अत: (सं० १९४९) मदनपुर, कारीटोरन और जतारा आदि स्कूलों में मास्टरी की।

पढ़ना और पढ़ाना इनके जीवनका लक्ष्य हो चुका था, अगाध ज्ञान सागर की थाह लेना चाहते थे अत: मास्टरीको छोड़ कर पुन: प्रच्छन्न विद्यार्थीके वेषमें, यत्र तत्र सर्वत्र साधनोंकी साधनामें, ज्ञान कणोंकी खोजमें, नीर पिपासु चातककी तरह चल पड़े।

सं० १९५० के दिन थे, सौभाग्य साथी था, अत: सिमरा में एक भद्र महिला विदुषीरत्न श्री सि० चिरौंजाबाईजी से भेंट हो गई। देखते ही उनके स्तन से दुग्धधारा वह निकली, भवान्तर का मातृप्रेम उमड़ पड़ा। बाईजी ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा—"भैया ! चिन्ता करनेकी

आवश्यकता नहीं, तुम हमारे धर्म पुत्र हुए।" पुलकित वदन, हृदय नाच उठा, बचपनमें माँ की गोदीका भूला हुआ वह स्वर्गीय सुख अनायास प्राप्त हो गया। एक दरिद्रको चिन्तामणि रत्न, निरुपायको उपाय और असहायको सहारा मिल गया।

सहनशीलताके प्राङ्गणमें—

बाईजी स्वयं शिक्षित थीं, मातृधर्म और कर्तव्य-पालन उन्हें याद था, अतः प्रेरणा की—"भैया! जयपुर जाकर पढ़ो।" मातृ-आज्ञा शिरोधार्य की।

(१) जयपुरके लिए प्रस्थान किया परन्तु जब जयपुर जाते समय लश्करकी धर्मशालामें सारा सामान चोरी चला गया, केवल पाँच आने शेष रह गये तब छः आनेमें छतरी बेचकर एक-एक पैसेके चने चबाते हुए दिन काटते बरुआसागर आये। एक दिन रोटी बनाकर खानेका विचार किया, परन्तु वर्तन एक भी पास न था, अतः पत्थर परसे आटा गूंथा और कच्ची रोटीमें भींगी दाल बन्दकर ऊपर से पलास के पत्ते लपेटकर उसे मध्यम आँचमें तोपकर दाल तैयार की। तब कहीं भोजन पा सके, परन्तु अपने अशुभोदय पर उन्हें दुःख नहीं हुआ। आपत्तियोंको उन्होंने अपनी परख-कसौटी समझा।

(२) खुरई जब पहुँचे तब पं० पन्नालालजी न्यायदिवाकर से पूछा—"पं० जी! धर्मका मर्म बताइये।" उन्होंने सहसा झिड़क कर कहा—"तुम क्या धर्म समझोगे, खाने और मौज उड़ानेको जैन हुए हो।" इस वचन बाणको भी इन्होंने हँसते-हँसते सहा। हृदयकी इसी चोट को इन्होंने भविष्य में अपने लक्ष्य-साधन (विद्वद्रत्न बनने) में प्रधान कारण बनाया।

(३) गिरनार के मार्ग पर बढ़े जा रहे थे, बुखार, तिजारी और खाज ने खबर ली। पासके पैसे खतम हो चुके थे, विवश होकर बैतूल

की सड़क पर काम करनेवाले मजदूरोंमें सम्मिलित हुए, परन्तु एक टोकनी मिट्टी खोदी कि हाथोंमें छाले पड़ गये। मिट्टी खोदना छोड़कर मिट्टीकी टोकनी ढोना स्वीकार किया लेकिन वह भी न कर सके, इसलिए दिनभरकी मजदूरीके न तीन आने मिल सके, न नौ पैसे ही नसीब हो सके। कृश शरीर. २० मील पैदल चलते, दो पैसे का बाजरे का आटा लेते, दाल देखनेको भी न थी, केवल नमककी डली और दो घूँट पानी ही उन मोटी-मोटी रूखो रोटियों के साथ मिलता था फिर भी लेकिन सन्तोषकी श्वाँस लेते अपने पथपर आगे बढ़े।

(४) धर्मपत्नीके वियोगमें दुनियाँ दुःखी और पागल हो जाती है, परन्तु भरी जवानीमें भी इनकी धर्मपत्नी का (सं० १९५३में) स्वर्ग-वास हो जानेसे इन्हें जरा भी खेद नहीं हुआ।

(५) सामाजिक क्षेत्रमें भी लोगोंने इनपर अनेक आपत्तियाँ ढहकर इनकी परीक्षा की, परन्तु वे निश्चल रहे, अडिग रहे, कर्तव्य-पथ पर सदा दृढ़ रहे, विद्रोहियोंको परास्त होना पड़ा।

इनका सिद्धान्त है—"मूर्ति अगणित टाकियोंसे टाँके जाने पर पूज्य होती है, आपत्ति और जीवन-संघर्षों से टक्कर लेने पर ही मनुष्य महात्मा बनते हैं।" इसलिए इन सब आपत्तियों और विरोधको अपना उन्नति-साधक समझकर कभी क्षुब्ध नहीं हुए, सदा अपनी सहन-शीलताका परिचय दिया।

सफलताके साथी—

कर्तव्यशील व्यक्ति कभी अपने जीवनमें असफल नहीं होते, अनेक आपत्ति और कष्टोंको सहन कर भी वे अपने लक्ष्यको सफल कर ही विश्रान्ति लेते हैं। माताकी आज्ञा और शुभाशीर्वादने इन्हें दूसरे साथी का काम दिया। फलतः विद्योपार्जनके लिये सं० १९५२ से १९८४ तक १—बम्बई, २—जयपुर, ३—मथुरा, ४—खुरजा, ५—हरिपुर,

६—बनारस, ७—चकौती, ८—नवद्वीप, ९—कलकत्ता तथा पुनः बनारस जाकर न्यायाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। विशेषता यह रही कि सदा उत्तम श्रेणीमें सर्वप्रथम (First class first) उत्तीर्ण हुए। और जहाँ कहीं भी पारितोषिक वितरण हुआ, सर्वप्रथम पारितोषिकके अधिकारी भी यही हुए।

इस तरह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अब यह साधारण विद्यार्थी या पंडित नहीं अपितु अपनी शानीके निराले विद्वद्र शिरोमणि हुए।

बड़े पण्डितजी—

विद्वत्तामें तो यह बड़े हैं ही परन्तु संयमकी साधनाने तो इन्हें और भी बड़ा (पूज्य) बना दिया है। इसलिये जिसतरह गुजरातके लोगोंने गाँधीजीको बापू कहना पसन्द किया, उसी तरह बुन्देलखण्डके भोले भक्तोंने इन्हें बड़े पण्डितजीके नामसे पूजना पसन्द किया।

इन्हें जितना प्रेम विद्यासे था उससे कहीं अधिक भगवद्भक्तिसे था, यही कारण था कि बड़े पण्डितजीने अपने विद्यार्थी जीवनमें ही सं० ५९५२ में गिरनार और सं० १९५९ में श्री सम्मेदशिखर जैसे पवित्र तीर्थराजोंके दर्शनकर अपनी भावुक भक्तिको दूसरोंके लिये आदर्श और अपने लिये कल्याणका एक सन्मार्ग बनाया।

वर्णीजी—

क्रमसे किया गया अभ्यास सफलताका साधक होता है यही कारण था कि बड़े पण्डितजी क्रमसे बढ़ते-बढ़ते सं० १९७० में वर्णी होगये। सांसारिक विषम परिस्थितियोंका गम्भीर अध्ययन करनेके बाद उन्हें सभीसे सम्बन्ध तोड़नेकी प्रबल इच्छा हुई, और इसमें वे सफल भी हुए। यदि ममत्व था तो उन धर्म माता तक ही था, परन्तु सं० १९९३ में बाईजीका स्वर्गवास होजानेसे वह भी छूट गया।

परतन्त्रता तो सदा इन्हें खटकनेवाली बात थी। एकबार सं० १९९३ में जब सागरसे द्रोणगिरि जारहे थे तब बण्डामें ड्राइवरने इन्हें फ्रन्टसीटका टिकट होनेपर भी वह सीट दरोगा साहबको बैठनेके लिये छोड़ देनेको कहा। यह परतन्त्रता उन्हें सह्य नहीं हुई, वहीं पर मोटरकी सवारीका त्याग कर दिया। कुछ लोगोंने अपने यहाँ ही महाराजको रोक रखनेके लिये सम्मति दी कि यदि आप यातायात छोड़ दें तो शान्ति-लाभ हो सकता है परन्तु वर्णीजी पर इसका दूसरा ही प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने दूसरे ही उद्देश्यसे सदाके लिये रेलगाड़ीकी सवारीका भी त्याग कर दिया।

सं० २००१ में दशम प्रतिमा धारण की, और अब फाल्गुन कृष्ण ७ २००४ में क्षुल्लक भी हो चुके हैं। इस दृष्टिसे इन्हें अब बाबाजी कहना ही उपयुक्त है परन्तु लोगोंकी अभिरुचि और प्रसिद्धिके कारण वर्णीजी "वर्णीजी" ही कहलाते हैं और कहलाते रहेंगे।

विहारके सन्त—

गिरिराज शिखरजीकी यात्राकी इच्छासे पैदल चले। लोगोंने बहुत कुछ दलीलें उपस्थित कीं—"महाराज! वृद्धावस्था है शरीर कमजोर है, ऋतु प्रतिकूल है", परन्तु हृदयकी लगनको कोई बदल न सका, अतः सवारीका त्याग होते हुए भी रेशंदीगिरि, द्रोणगिरि, खजराहा आदि तीर्थ स्थानोंकी यात्रा करते हुए कुछ ही दिन बाद ७०० मीलका लम्बा मार्ग पैदल ही तय कर सं० १९९३ के फाल्गुणमें शिखरजी पहुंच गये। शिखरजीकी यात्रा हुई परन्तु मनोकामना शेष थी—"भगवान पार्श्वनाथ के पादपद्मोंमें ही जीवन बिताया जाय" अतः ईशरी (विहार) में सन्त जीवन बिताने लगे।

आपके प्रभावसे वहाँ जैन उदासीनाश्रमकी स्थापना हो गई। कल्या-

णार्थी उदासीन जनोंको धर्म साधन करनेका सुयोग्य साधन मिला, वर्णीजीके उपदेशामृत पानका शुभ अवसर मिला।

बुन्देलखण्ड के लाल—

वर्णीजीने बुन्देलखण्ड छोड़ा परन्तु उसके प्रति सच्ची सहानुभूति नहीं छोड़ी, क्योंकि बुन्देलखण्डपर उनका जितना स्नेह और अधिकार है उतना ही बुन्देलखण्डको भी उनपर गर्व है। बुन्देलखण्डकी उन्हें पुनः चिन्ता हुई, बुन्देलखण्डको उनकी आवश्यकता हुई, क्योंकि वर्णी सूर्यके सिवा ऐसी और कोई भी शक्ति नहीं थी जो अज्ञान तिमिराच्छन्न बुन्देलखण्डको अपनी दिव्य ज्ञान ज्योतिसे चमत्कृत कर सकती। बुन्देलखण्डकी भूमिने अपने लाड़ले लालको पुकारा और वह चल पड़ा अपनी मातृभूमिकी ओर अपने देशकी ओर, अपने सर्वस्व बुन्देलखण्डकी ओर। विहार प्रान्तीय उनके भक्तजनोंको दुःख हुआ, वे नहीं चाहते थे कि वर्णीजी उन लोगोंकी आँखोंसे ओझल हों, अतः अनेक प्रार्थनाएँ कीं, वहीं रुक रहनेके लिये अनेक प्रयत्न किये परन्तु प्रान्तके प्रति सच्ची शुभ चिन्तकता और बुन्देलखण्डका सौभाग्य वर्णीजीको सं० २००१ के वसन्तमें बुन्देलखण्ड ले आया। अभूतपूर्व था वह दृश्य, जब वृद्ध बुन्देलखण्डने अपने डगमगाते हाथों (लहलहाती तरुशाखाओं) से अपने लाड़ले लाल वर्णीजीका स्पर्श किया।

मौन देशभक्त वर्णीजी—

वर्णीजी जैसे धार्मिक हैं वैसे ही राष्ट्रीय भी हैं, इसलिये देश सेवाको यह एक मानवधर्म कहते हैं। स्वयं देशसेवा तन-मन-धनसे करके ही यह लोगोंको उस पथपर चलनेकी प्रेरणा करते हैं यह इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।

सन् १९४५ (सं० २००२) जब नेताजीके पथानुगामी आजाद हिन्द सेनाके सेनानी, स्वतन्त्रताके पुजारी, देशभक्त सहगल, ढिल्लन,

शाहनवाज अपने साथी आजाद हिन्द सेनाके साथ दिल्लीके लालकिलेमें बन्द थे तब इन बन्दी वीरोंकी सहायतार्थ जबलपुरकी भरी आम सभा में भाषण देते हुए अपनी कुल सम्पत्ति मात्र ओढ़नेकी चादर समर्पित की। देशभक्त वर्णीजीकी चादर तीन मिनिटमें ही तीन हजार रुपयेमें नीलाम हुई !

चादर समर्पित करते हुए वर्णीजीने अपने प्रभाविक भाषणमें आत्म-विश्वासके साथ भविष्यवाणी की—"अन्धेर नहीं, केवल थोड़ी-सी देर है। वे दिन नजदीक हैं जब स्वतन्त्र भारतके लाल किलेपर विश्व विजयी प्यारा तिरंगा फहरा जायगा, अतीतके गौरव और यशके आलोकसे लाल किला जगमगा उठेगा। जिनकी रक्षाके लिये ४० करोड़ मानव प्रयत्नशील हैं, उन्हें कोई भी शक्ति फाँसीके तख्तेपर नहीं चढ़ा सकती। विश्वास रखिये, मेरी अन्तरात्मा कहती है कि आजाद हिन्द सैनिकोंका बाल भी बांका नहीं हो सकता।"

आखिर पवित्र हृदय वर्णी सन्तकी भविष्यवाणी थी, आजाद हिन्द सेना के बन्दी वीर मुक्त हो गये, सचमुच अन्धेर नहीं केवल दो वर्षकी देर हुई, सन् १९४७ के १५ अगस्तको भारत स्वतन्त्र हो गया। वह लाल किला अतीतके गौरव और यशके आलोकसे जगमगा उठा। लाल किलेपर विश्व-विजयी प्यारा तिरंगा भी फहरा गया।

दिल्लीमें जाकर देखो तो यही प्रतीत होगा जैसे लाल किलेका तिरंगा देशद्रोही दुश्मनोंको तर्जना दे रहा हो और यमुनाका कल-कल निनाद हमारे नेताओंकी विजय-प्रशस्ति गा रहा हो।

समाज-सुधारक—

वर्णीजीको समाज-सुधारके लिये जो कुछ भी त्याग करना पड़ा, सदा तैयार रहे हैं। सामाजिक सुधार क्षेत्रमें अनेक बार असफल हुए, फिर भी अपने कर्तव्यपर सदा दृढ़ रहे हैं। यही कारण है कि बड़े गाँव

आदिके निरपराध बहिष्कृत जैन बन्धुओंका और द्रोणगिरि आदिके निरपराध बहिष्कृत ब्राह्मणों आदि अजैन बन्धुओंका उद्धार सफलताके साथ कर सके। वर्णीजीको जातीय पक्षपात तो छू भी नहीं सका है। यही कारण है कि जैन-अजैन पक्षोंके बीच उन्हें सम्मान मिला, पक्षोंकी दुरंगी नीतियाँ, अनेक आक्षेप और समालोचनाएँ उनका कुछ भी न बिगाड़ सकीं। अनेक जगहकी जन्मजात फूट और विद्वेषको दूरकर बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और अनमेल विवाह एवं मरण-भोज जैसी दुष्प्रथाओंका बहिष्कार करनेका श्रीगणेश करना वर्णीजी जैसोंका ही काम है। कहना होगा कि समाजकी उन्नतिमें बाधक कारणोंको दूरकर वर्णीजीने बुन्देलखण्डमें जो समाज-सुधार किया, उसीका परिणाम है कि बुन्देलखण्डके जैन समाजमें जैन संस्कृति जीवित रह सकी है।

संस्था-संस्थापक—

प्रकृतिका यह नियम-सा है कि जब किसी देश या प्रान्तका पतन होना प्रारम्भ होता है तब कोई उद्धारक भी उत्पन्न हो जाता है। बुन्देलखण्डमें जब अज्ञानका साम्राज्य छा गया तब वर्णीजी जैसे विद्वद्रत्न बुन्देलखण्डको प्राप्त हुए। विद्या-प्रेम तो आपका इतना प्रगाढ़ है कि दूसरोंको ज्ञान देना ही वे अपने लिए ज्ञानार्जनका प्रधान साधन समझते हैं। प्रतीत होता है कि वर्णीजी ज्ञान-प्रचारके लिए ही इस संसारमें आये थे। उन्होंने १—श्रीगणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय सागर, २—श्रीगुरुदत्त दि० जैन पा० द्रोणगिरि, ३—श्रीपार्श्वनाथ विद्यालय बरुआसागर, ४—श्री शांतिनाथ दि० जैन पा० अहार, ५—श्री पुष्पदन्त विद्यालय शाहपुर, ६—शिक्षा-मन्दिर जबलपुर, ७—श्रीगणेश गुरुकुल पटनागंज, ८—श्री द्रोणगिरि क्षेत्र गुरुकुल मलहरा, ९—जैन गुरुकुल जबलपुर आदि पाठशालाओं, विद्यालयों, शिक्षा-मन्दिरों और गुरुकुलोंकी स्थापना की। बुन्देलखण्डकी इन शिक्षा-संस्थाओंके अतिरिक्त सकल विद्याओंके केन्द्र काशीमें भी जैन

समाजकी प्रमुख आदर्श संस्था श्रीस्याद्वाद दि० जैन संस्कृत महाविद्यालयकी स्थापना की।

बुन्देलखण्ड जैसे प्रान्तमें इन संस्थाओंकी स्थापना देखकर तो यही कहना पड़ता है कि इस प्रान्तमें जो भी शिक्षा प्रचार हुआ वह सब वर्णीजी जैसे कर्मठ व्यक्तिका सफल प्रयास और सच्ची लगनका फल है। वर्णीजी के शिक्षा प्रचारसे बुन्देलखण्डका जो काया पलट हुआ वह इसीसे जाना जा सकता है कि आजसे ५० वर्ष पूर्व जिस बुन्देलखण्डमें तत्त्वार्थ सूत्र और सहस्रनाम जैसे संस्कृतके साधारण ग्रन्थ मूलमात्र पढ़ लेनेवाले महाशय पण्डित कहलाते थे उसी बुन्देलखण्डका आज यह आदर्श है कि जैन समाजके लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंमें ८० प्रतिशत विद्वान बुन्देलखण्डके ही हैं।

कहना होगा कि बुन्देलखण्डकी धार्मिक जाग्रतिके कारण सोते हुए बुन्देलखण्डके कानोंमें शिक्षा एवं जागृतिका मन्त्र फूँकनेवाले और बुन्देलखण्डके सद्गृहस्थोचित आचार-विचारके संरक्षक यदि हैं तो वे एकमात्र वर्णीजी ही हैं।

मानवता की मूर्ति—

वर्णीजीके जीवनमें सरलता और भावुकताने जो स्थान पाया है वह शायद ही औरोंको देखनेको मिले। किसीके हृदयको दु:ख पहुंचाना उनकी प्रकृतिके प्रतिकूल है। यही कारण है कि अनेक व्यक्ति उन्हें आसानीसे ठग लेते हैं। कड़े शब्दों और व्यङ्गात्मक भाषाका प्रयोग कर दूसरोंको कष्ट पहुंचाना उन्होंने कभी नहीं सीखा। हितकी बात आसानीसे मधुर शब्दोंकी सरल भाषामें कह कर मानना न मानना उसके ऊपर छोड़कर अपने समयका सच्चा सदुपयोग ही उन्हें प्रिय है।

आपत्तियोंसे टक्कर लेना, विपत्तिमें कर्म न छोड़ना, दूसरोंका दु:ख

दूर करनेके लिए असहायोंकी सहायता, अज्ञानियोंको ज्ञान और शिक्षार्थियोंको सब कुछ देना इनके जीवनका व्रत है।

दाव-पेंचकी बातोंमें जहाँ वर्णीजीमें बालकों जैसा भोलापन है वहां सुधारक कार्योंमें युवकों जैसी सजीव क्रान्ति और वयोवृद्धों जैसा अनुभव भी है। संक्षेपमें वर्णीजी मानवताकी मूर्ति हैं अत: उसीका सन्देश देना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा है।

मेरी शुभकामना है कि वर्णीजी चिरायु हों, मानवताका सन्देश लिए विश्वको सदा कल्याण पथ-प्रदर्शन करते रहें।

वि० "नरेन्द्र" जैन

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

वर्णीवाणी पर लोकमत

[१]

प्रस्तुत वर्णीवाणीको मैंने मनोयोगसे पढ़ा । मुझे इसने बहुत प्रभावित भी किया । इसका कारण मुझे तो यही प्रतीत होता है कि इसमें केवल आध्यात्मिक विषयका ही समावेश किया गया है परन्तु यह आध्यात्मिकता समाज विरुद्ध नहीं हैं । सदाचारमय जीवन यापनके लिये ऐसे ग्रन्थोंकी आवश्यकता स्वतन्त्र भारतके लिए अधिक है । अगली दुनिया के लिये इसमें मार्ग है, प्रेरणा है, चेतना है और स्फूर्ति है । वर्णीजीने इस युगमें आध्यात्मिक ज्योतिको प्रज्वलित कर रखा है जो भारतके लिए गौरवकी बात है । इसके विचारोंका प्रचार सम्पूर्ण भारत ही नहीं किन्तु विश्वमें होना चाहिये । विदेशी भाषामें यदि किसीने लिखी होती तो शायद इसका प्रचार अधिक होता । अच्छा हो ग्रन्थमालावाले इसे कई भाषाओंमें प्रकाशित करें । वर्णीजीसे भी मैं आशा करूँ कि वे भावी भारतके जैनोंके लिए कोई व्यवस्था देकर जैन संस्कृतिका गौरव बढ़ावेंगे ।

मुनि कान्तिसागर

[२]

'वर्णी-वाणी' जीवनके पथ प्रदर्शनके लिये ज्योति-स्तम्भ है । आज हमारा जीवन संसारकी विषमताओंमें बुरी तरह उलझा हुआ है । हम अपनी ओर न देखकर संसारकी मृगतृष्णामें ही भूले हुए हैं । हमारे पास कोई नैतिक आधार भी नहीं है । 'वर्णी-वाणी' इस दृष्टिसे अमूल्य ग्रन्थ है । इसमें जीवनको स्वस्थ्य और बलिष्ठ बनानेकी अमोघ शक्तियाँ हैं । मैं विद्यार्थी 'नरेन्द्र' जैनकी सराहना करता हूँ कि उन्होंने बड़े परिश्रमसे इस ग्रन्थका संकलन और सम्पादन किया है । मुझे विश्वास है कि वे

इसी प्रकारके अमूल्य रत्न हिन्दी पाठकोंको प्रदान करेंगे। इस क्षेत्रमें मैं उन्हें अपना हार्दिक आशीर्वाद दे रहा हूँ।

साकेत, प्रयाग
२०-१२-५०

रामकुमार वर्मा,
(एम. ए., पी. एच. डी., डी. लिट्.)

[३]

पूज्य वर्णीजीकी आध्यात्मिकतासे जैन मतावलम्बी तो सभी परिचित हैं। उनके मुखारविन्दसे उनके उपदेश सुननेका अवसर सबको प्राप्त नहीं हो सकता। अत: उनके निर्मल विचारोंको इस पुस्तकमें संकलित करके श्री "नरेन्द्र" जीने उन्हें सर्वसुलभ बना दिया है। इसके लिये वह जनता के धन्यवादके पात्र हैं।

सन्तप्रसाद टण्डन
परीक्षामन्त्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
२८-४-४८

[४]

श्रीमान् माननीय पं० गणेशप्रसादजी वर्णी महोदय उन व्यक्तियोंमें से हैं जिन्होंने रागद्वेषपर विजय प्राप्तकर निरन्तर आत्मचिन्तनसे वास्तविक आत्म सुखको प्राप्त किया है। परम सौभाग्यसे मेरा भी इनके साथ चिर परिचय रहा। परम दयालुता, परोपकारिता, शान्ति प्रियता, शास्त्राध्ययन, कुशलता, आदि प्रशस्त गुणोंके यह एक आश्रय हैं। समय-समय पर इनके द्वारा दिये गये सदुपदेशोंका संग्रहात्मक ग्रन्थ—"वर्णी-वाणी" के श्रवण तथा अध्ययनसे सांसारिक दु:खोंसे सन्तप्त जीवोंको चिरकाल तकके लिये सुख शान्तिका लाभ होगा ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। वि० "नरेन्द्र" जीने इसका संकलन एवं सम्पादन कर प्रकाशित कराकर समाजका महान् उपकार किया है।

२-५-४९

मुकुन्दशास्त्री खिस्ते, साहित्याचार्य
प्रो० गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, काशी

[५]

ग्रन्थमें जैन महात्मा श्रीगणेशप्रसाद वर्णी द्वारा व्यक्त किये गये विचारों तथा उनके व्याख्यानोंका संग्रह है। वर्णीजीकी जीवन-गाथाके अतिरिक्त इसमें पांच वर्षकी डायरी भी दी गयी है जिससे उनके जीवन को अत्यधिक निकटसे देखनेका अवसर मिलता है। उनके लेख काफी विचारपूर्ण और गम्भीर हैं, जिससे जीवनको यथेष्ट ज्ञान और दिशाका संकेत मिलता है। पवित्र जीवनयापनके निमित्त, जिसपर देश और लोक-कल्याण निर्भर है ऐसी पुस्तकोंकी भारतको ही क्या समस्त विश्वको आवश्यकता है। भारत ही ऐसा देश है जहाँ वर्णीजी जैसे महापुरुष आज भी अँधेरेमें अपने जीवनका उदाहरण प्रस्तुत करके प्रकाश दे रहे हैं। पुस्तक मननीय और संग्रहणीय है।

दैनिक 'आज' काशी
२ अप्रैल १९५०

[६]

'वर्णी-वाणी' को आद्योपान्त पढ़कर चित्तमें बहुत आनन्दानुभूति हुई। आजके इस संघर्षमय युगमें यह पुस्तक मुझे 'शान्तिके दूत' की तरह प्रतीत हुई।...

दाव-पेंच खेलकर मनुष्य सांसारिक सफलताकी अन्तिम सीढ़ीपर भले ही पहुंच जाय, फिर भी कुछ ऐसा बच रहता है जिसके लिये वह पिपासाकुल रह जाता है। और वह पिपासा किसी प्रकार शान्त होना नहीं चाहती।

जो ज्ञानी है, कहिये जो भाग्यवान् है, वह किसी 'सरोवर' की खोज में लग जाता है। सरोवरतक चाहे अपने जीवन-कालमें न भी पहुंचे, चैन उसे मिलने लगती है, जीवन फिर हाहाकारमय नहीं रहता।

यह पुस्तक उसी सरोवरके मार्गकी ओर ले जानेवाली है।...

छोटे-छोटे वाक्य हैं, बिलकुल सरल और सुबोध। कहीं तो लगता है कि जैसे बालकने कुछ कह दिया है। अपनी निश्छल भाषामें और कहीं

पर उपनिषदोंकी जैसी गम्भीर वाणी सुनाई देती है। परन्तु सब कहीं 'कल्याण' की छाया है।

सन्तोंकी वाणियाँ सम्प्रदाय विशेष, मत विशेष और दुराग्रहसे परे होती हैं। वर्णी-वाणीमें भी वही विशेषता है। चाहे कोई इससे अपना जीवन सुखमय बना सकता है। कहीं रोड़ा नहीं है, घुमाव-फिराव भी नहीं है, ठोंकर लगनेका भय नहीं है।...

श्रीनरेन्द्रजीका यह प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय है। सम्पादनमें उन्होंने बहुत परिश्रम किया है और सफल भी हुये हैं।

काशीधाम
२६ मार्च, १९४९

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र
साहित्याचार्य

[७]

दर्शनके क्षेत्रमें वैचारिक स्वाधीनताका बड़ा मूल्य है। भारतीय दार्शनिक परम्परामें जैन न्याय और बौद्ध विज्ञानवादका अपना विशेष महत्व है। श्री 'नरेन्द्र' जी जैनने वर्णीजीके सूत्रोंको संग्रहीत करके उसी परम्पराकी कड़ीको निभानेका स्तुत्य प्रयत्न किया है। आशा है कि न केवल जैन समाजमें पर उससे बाहर भी यह पुस्तक आदर पायेगी।

अ० भा० रेडियो स्टेशन
प्रयाग
५-३-५१

प्रभाकर माचवे

[८]

श्री विद्यार्थी "नरेन्द्र" जीने 'वर्णी-वाणी' के संकलन और सम्पादनसे न केवल वर्णीजीकी उपदेशामृत धाराको प्रवाहितकर सर्वसुलभ बनाया है अपितु विद्यार्थी वर्गको सम्पादन कलाकी ओर आकर्षित करते हुए हिन्दी-साहित्यकी सच्ची सफल सेवा भी की है।

गोरेलाल जैन शास्त्री
द्रोणागिरि
१८-१२-५०

[९]

"वर्णी-वाणी" पढ़ने का मुझे अवसर मिला। पढ़कर मैं प्रभावित हुआ। सरल भाषामें गूढ़ विषयोंपर श्री वर्णीजीने बहुत सुन्दरता से अपने विचारोंको व्यक्त किया है। इन उपदेशोंको पढ़कर और इनका अनुसरण कर युवकगण अपना और समाजका उपकार कर सकेंगे। मुझे आशा है कि इन वचनोंको सभी मतके अनुयायी सम्मानसे पढ़ेंगे।

—अमरनाथ झा

[१०]

I have read with much pleasure and benefit for myself "Varni Bani" So ably written by my dear pupil shri Narendra Kumar. His presentation of the subject matters, which though by itself, is so liked and so admirably charming that it goes straignt to the heart and carries its own appeal. I commend the book to all concerned and I hope it will win for itself the popularity which it deserves.

—**Sarojesh Chandra Bhattacharya,**

———

कहाँ क्या पढ़िये ?

कर्णी-काणी

[कल्याणका मार्ग]

वर्णी-वाणी

यः शास्त्रार्णवपारगो विमलधीर्यं संश्रिता सौम्यता ।
येनालम्भि यशः शशाङ्कधवलं यस्मै व्रतं रोचते ॥
यस्माद् दूरतरं गता प्रमदता यस्य प्रभावो महान् ।
यस्मिन् सन्ति दयादयः स जयति श्रीमान् गणेशः सुधीः ॥

कल्याण का मार्ग

१. जिन कार्यों के करने से संक्लेश होता है उन्हें छोड़ने का प्रयास करो, यही कल्याण का मार्ग है।

२. कल्याण का उदय केवल लिखने, पढ़ने या घर छोड़ने से नहीं होगा अपितु स्वाध्याय करने और विषयों से विरक्त रहने से होगा।

३. कल्याण के पथ में बाह्य कारणों की आवश्यकता नहीं। कालादिक जो उदासीन निमित्त हैं वे तो शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों की प्राप्ति में समान रूप से कारण हैं, चरम शरीरादिक सब उपचार से कारण हैं। अतः मुख्यतया एकत्व परिणत आत्मा ही संसार और मोक्ष का प्रधान कारण है।

४. श्रद्धापूर्वक पर्याय के अनुकूल यथाशक्ति निवृत्ति मार्ग पर चलना कल्याण का मार्ग है।

५. कल्याण का मार्ग बाह्य त्याग से परे है और वह आत्मानुभवगम्य है।

६. कल्याण का पथ बातों से नहीं मिलता; कषायों के सम्यक् निग्रह से मिलेगा।

७. यदि हमको स्वतन्त्रता रुचने लगी तब समझना चाहिये अब हमारा कल्याण का मार्ग दूर नहीं।

८. कल्याण पथ का पथिक वही जीव हो सकता है जिसे आत्मज्ञान हो गया है।

९. इस भव में वही जीव आत्मकल्याण करने का अधिकारी है जो पराधीनता का त्याग करेगा, अन्तरङ्ग से अपने ही में अपनी विभूति को देखेगा।

१०. निरन्तर शुद्ध पदार्थ के चिन्तवन में अपना काल बिताओ, यही कल्याण का अनुपम मार्ग है।

११. स्वरूप की स्थिरता ही कल्याण की खनि है।

१२. आडम्बर शून्य धर्म कल्याण का मार्ग है।

१३. कल्याण की जननी अन्य द्रव्य की उपासना नहीं, केवल स्वात्मा की उपासना ही उसकी जन्मभूमि है।

१४. कहीं (तीर्थयात्रादि करने) जाओ परन्तु कल्याण तो भीतरी मूर्च्छा की ग्रन्थि के भेदन से ही होगा और वह स्वयं भेदन करनी पड़ेगी।

१५. तत्त्वज्ञानपूर्वक रागद्वेष की निवृत्ति ही आत्मकल्याण का सहज साधन है।

१६. अपने परिणामों के सुधार से ही सबका भला होगा।

१७. परपदार्थ व्यग्रता का कारण नहीं, हमारी दृष्टि ही व्यग्रता का कारण है, उसे हटाओ। उसके हटने से हर स्थान तीर्थक्षेत्र है, विश्व शिखरजी है और आत्मा में मोक्ष है।

१८. संसार के सभी सम्प्रदायानुयायी संसार यातना का अन्त करने के लिये नाना युक्तियों, आगम, गुरु परम्परा तथा स्वानुभवों द्वारा उपाय दिखाने का प्रयत्न करते हैं। जो हो हम और आप भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हैं, कुछ विचार से काम

लेवें तब अन्त में यही निर्णय सुखकर प्रतीत होगा कि बन्धन से छूटने का मार्ग हम में ही है, पर पदार्थों से केवल निजत्व हटाना है।

१९. इच्छामात्र आकुलता की जननी है, अतः वह परमानन्द का दर्शन नहीं करा सकती।

२०. कल्याण का मूल कारण मोहपरिणामों की सन्तति का अभाव है। अतः जहाँ तक बने इन रागादिक परिणामों के जाल से अपनी आत्मा को सुरक्षित रक्खो।

२१. जगत की ओर जो दृष्टि है वह आत्मा की ओर कर दो, यही श्रेयोमार्ग है।

२२. जग से ३६ छत्तीस (सर्वथा परान्मुख) और आत्मा से ६३ (सर्वथा अनुकूल) रहो, यही कल्याणकारक है।

२३. मन वचन और काय के साथ जो कषाय की वृत्ति है वही अनर्थ की जड़ है।

२४. सत्पथ के अनुकूल श्रद्धा ही मोक्षमार्ग की आदि जननी है।

२५. कल्याण की प्राप्ति आतुरता से नहीं निराकुलता से होती है।

२६. कल्याण का मार्ग अपने आपको छोड़ अन्यत्र नहीं। जब तक अन्यथा देखने की हमारी प्रकृति रहेगी, तब तक कल्याण का मार्ग मिलना अति दुर्लभ है।

२७. राग द्वेष के कारणों से बचना कल्याण का सच्चा साधन है।

२८. कल्याण का पथ निर्मल अभिप्राय है। इस आत्मा

ने अनादि काल से अपनी सेवा नहीं की केवल पर पदार्थों के संग्रह में ही अपने प्रिय जीवन को भुला दिया। भगवान अर-हन्त का उपदेश है "यदि अपना कल्याण चाहते हो तो पर पदार्थों से आत्मीयता छोड़ो।"

२९. अभिप्राय यदि निर्मल है तो बाह्य पदार्थ कल्याण में बाधक और साधक कुछ भी नहीं है। साधक और बाधक तो अपनी ही परिणति है।

३०. कल्याण का मार्ग सन्मति में है अन्यथा मानव धर्म का दुरुपयोग है।

३१. कल्याण के अर्थ संसार की प्रवृत्ति को लक्ष्य न बना कर अपनी मलिनता को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

३२. अर्जित कर्मों को समता भाव से भोग लेना ही कल्याण के उदय में सहायक है।

३३. निमित्त कारणों के ऊपर अपने कल्याण और अकल्याण के मार्ग का निर्माण करना अपनी दृष्टि को हीन करना है। बाहर की ओर देखने से कुछ न होगा आत्मपरिणति को देखो, उसे विकृति से संरक्षित रखो तभी कल्याण के अधिकारी हो सकोगे।

३४. कल्याण का मार्ग आत्मनिर्मलता में है, बाह्याडम्बर में नहीं। मूर्ति बनाने के योग्य शिला का अस्तित्व संगमर्मर की खनि में होता है मारवाड़ के बालुकापुञ्ज में नहीं।

३५. पर की रक्षा करो परन्तु उसमें अपने आपको न भूलो।

३६. वही जीव कल्याण का पात्र होगा जो बुरे चिन्तन से दूर रहेगा।

३७. यदि कल्याण की इच्छा है तो प्रमाद को त्याग कर आत्मस्वरूप का मनन करो।

३८. कल्याण का मार्ग, चाहे वन जाओ, चाहे घर में रहो, आप ही में निहित है। पर के जानने से कुछ भी अकल्याण नहीं होता, अकल्याण का मूल कारण तो मूर्च्छा है। उसको त्यागने से सभी उपद्रव दूर हो जावेंगे। वह जब तक अपना स्थान आत्मा में बनाये है, आत्मा दुःखी हो रहा है। दुःख बाह्य पदार्थ से नहीं होता अपने अनात्मीय भावों से होता है।

३९. कल्याणार्थियों को चाहिये कि जो भी कार्य करें उसमें अहंबुद्धि और ममबुद्धि का त्याग करें अन्यथा संसार-बन्धन छूटना कठिन है।

४०. अन्याय का धन और इन्द्रियविषय ये दो सुमार्ग के रोड़े हैं।

४१. कल्याण का पथ निरीहवृत्ति है।

४२. संसार मोहरूप है, इसमें ममता न करो। कुटुम्ब की रक्षा करो परन्तु उसमें आसक्त न होओ। जल में कमल की तरह भिन्न रहो, यही गृहस्थ को श्रेयस्कर है।

४३. कल्याण के अर्थ भीषण अटवी में जाने की आवश्यकता नहीं, मूर्च्छा का अभाव होना चाहिये।

४४. मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो जीव आत्मकल्याण को चाहते हैं वे अवश्य उसके पात्र होते हैं।

४५. अनादि मोह के वशीभूत होकर हमने निज को जाना ही नहीं, तब कल्याण किसका ? इस पर्याय में इतनी योग्यता

है कि हम आत्मा को जान सकते हैं परन्तु बाह्याडम्बरों में फँसने के कारण उसे हम भूले हुए हैं।

४६. कल्याण के लिये पर की आवश्यकता नहीं, हमको स्वयं अपने बल पर खड़ा होना चाहिये और राग द्वेष से बचना चाहिये।

४७. कल्याण का मार्ग आप में है। केवल पर का बुरा करने में अपने उपयोग का दुरुपयोग करने से हम दरिद्र और दुःखी हो रहे हैं।

४८. कल्याण का मार्ग विशुद्ध परिणाम हैं और विशुद्ध परिणाम राग द्वेषकी निवृत्तिसे होते हैं।

४९. यह तो विचारो कि आत्मकल्याण का मार्ग अन्यत्र है या आपमें ? पहला पक्ष तो इष्ट नहीं, अन्तिम पक्ष ही श्रेष्ठ है तब हम मृगतृष्णा में क्यों भटकें ?

५०. जिन्हें आत्मकल्याण की अभिलाषा हो वे पहिले शुद्धात्मा की उपासना कर अपने को पवित्र बनावें।

५१. कल्याण का पात्र वही होता है जो विवेक से काम लेता है।

५२. चिद्रूप ही आत्मकल्याणका हेतु है।

५३. "कल्याण की प्राप्ति में ज्ञान ही कारण है" यह तो मेरी समझमें नहीं आता। ज्ञानसे पदार्थों का जानना होता है, और केवल जानना कल्याण में सहायक होता नहीं। बाह्य आचरण भी कल्याण में कारण नहीं, क्योंकि उस आचरण का सम्बन्ध बाह्य से है। वचन की पद्धति भी कल्याण में कारण नहीं, क्योंकि वचन योग का निमित्त पाकर पुद्गलों का परिणमन

विशेष है; अतः उत्तम ता यही है कि ज्ञान के द्वारा जो परिणाम बन्ध के कारण हो रहे हैं उन्हें त्यागना चाहिये। इसी से कल्याण होगा।

५४. निःशल्य होकर आनन्द से स्वाध्याय करो, यह कल्याण में सहायक है।

५५. हम लोग अनादि काल से पराधीन हो रहे हैं अतः पर से ही आत्मकल्याण की प्राप्ति चाहते हैं। परन्तु मेरी तो यह दृढ़ श्रद्धा है कि पर के द्वारा किया गया कार्य कल्याणपथ का कारण नहीं। जैसे कोई यह माने कि मैंने धन दिया तब क्या पुण्य न हुआ? पर आप उससे प्रश्न कीजिये कि क्या भाई धन तेरी वस्तु है जो उसे देने का अधिकारी बनता है? वास्तवमें तेरा स्वरूप तो चैतन्य है और धन अचैतन्य है। यदि उसे तू अपना समझता है तब तू चोर हुआ और चोरी के धन से पुण्य कैसा? इसी प्रकार शरीर भी पर है और मन वचन भी पर हैं; अतः इन से भी कल्याण मानना उचित नहीं, क्योंकि कल्याण का मार्ग तो केवल आत्मपरिणाम हैं।

५६. विशेष कल्याण का अर्थी जो पुरुष अपने अस्तित्व में दृढ़ प्रतीति रखता है उसी के पर का अवबोध हो सकता है, वही जीव देव गुरु धर्म की श्रद्धा का पात्र है, उसीको भेद विज्ञान होता है और वही रागद्वेष की निवृत्ति रूप चारित्र को अङ्गीकार करने का पात्र है। उस जीव के पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं। शुभोपयोग के होते हुए उसमें उपादेय बुद्धि नहीं, विषयों की अपरिमित सामग्री का भोग होने पर भी आसक्तता नहीं, और विरोधी हिंसा का सद्भाव होने पर भी विरोधियों में विरोधभाव का लेश नहीं। कहाँ तक कहें उस जीव की महिमा अवर्णनीय

है। मेरा तो यही विश्वास है कि उसके भाव में अनन्त संसार की लता को उन्मूल करनेवाली जो निर्मलता है वह अन्य किसी भाव में नहीं। यदि वह भाव नहीं हुआ तब उसकी उत्पत्ति के अर्थ किये जानेवाले सारे प्रयास (सत्समागम जप तप आदि) पानी को विलोड कर घी निकालने के सदृश हैं।

५७. पर्याय की जितनी अनुकूलता है उतना ही साधन करने से कल्याण मार्ग के अधिकारी बने रहोगे।

५८. जबतक अपनी परिणति विशुद्ध और सरल नहीं होती कल्याण का पथ अति दूर है।

५९. दूसरे प्राणियों की कथा मत कहो, अपनी कथा कहो और देखो कि अबतक मैं किन दुर्बलताओं से संसार में रुल रहा हूँ। उन्हें दूर करने की चेष्टा करो। यही कल्याण का मार्ग है।

६०. यदि आप सत्यपथ के पथिक हैं तो अपने मार्गसे चले जाओ, कल्याण अवश्य होगा।

६१. अचिन्त्य शक्तिशाली आत्मा को परपदार्थों के सहवास से हम ने इतना दुर्बल बना दिया है कि बिना पुस्तक के हम स्वाध्याय नहीं कर सकते, बिना मन्दिर गये हमारा श्रावक धर्म नहीं चल सकता, बिना मुनिदान के हमारा अतिथिसंविभाग नहीं चल सकता और बिना सत्समागम के हमारी प्रवृत्ति नहीं सुधर सकती।

६२. कल्याण तो अपने आत्मा के ऊपर का भार उतारने से ही होगा। यह कार्य केवल शब्दों द्वारा दशधा धर्म के स्तवनादि से नहीं होगा किन्तु आत्मा में जो विकृत औदयिक भाव हैं उन्हें अनात्मीय जानकर त्यागने से होगा।

६३. आत्महित का कारण ज्ञान है। हम लोग केवल ऊपरी बातें देखते हैं जिससे आभ्यन्तर का पता नहीं लगता। आभ्यन्तर के ज्ञान बिना अज्ञान दूर हो ही नहीं सकता। यदि कल्याण चाहो तो ज्ञानार्जन को उतना ही आवश्यक समझो जितना कि भोजन आवश्यक समझते हो।
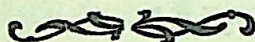
आत्मशक्ति

१. आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है, उसे विकास में लाने-वाला यह आत्मा है।

२. आज संसार में विज्ञान की जो अद्भुत शक्ति प्रत्यक्ष हो रही है यह आत्मा ही का विकास है। शान्ति का जो मार्ग आगम में पाया जाता है वह भी मोक्षमार्ग के आविष्कारकर्ता की दिव्यध्वनि द्वारा परम्परया आया हुआ है। अतः सर्व विकल्पों और मायापिण्ड को छोड़कर अपनी परणति को उपयोग में लाओ। उसका बाधक यदि किसी को समझते हो तो उसे हटाओ।

३. शरीर की परिचर्या में ही आत्मशक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। इसकी परिचर्या से आज तक जो दुर्दशा हुई है वह इसी का महाप्रसाद है। यह सर्वथा अनुचित है—हमारी मोहान्धता है, जो हमने इस शरीर को अपनाया और उसके साथ भेदबुद्धि को त्याग कर निजत्व की कल्पना की। हम व्यर्थ ही निजत्व की कल्पना कर शरीर को दुःख का कारण मान रहे हैं। यह तो पत्थर से अपने शिर को फोड़कर पत्थर से शत्रुता कर उसके नाश करने का प्रयासमात्र है। वास्तव में पत्थर जड़ है, उसे न किसी को मारने की इच्छा है और न

रक्षा करने की। इसी तरह शरीर को न आत्मा को दुःख देने की इच्छा है और न सुख देने की ही। अतः इससे ममत्व त्याग कर प्रथम आत्मा का वह भाव, जिसके द्वारा शरीर में निजत्व बुद्धि होती थी, त्याग देना चाहिए। इसके होते ही संसार में जितने पदार्थ हैं उनसे अपने आप ममत्व छूट जावेगा और आत्मशक्ति जागृत हो उठेगी।

४. संसार में हम लोग जो आजतक भ्रमण कर रहे हैं, इसका मूल कारण यह है कि हमने अपनी रक्षा नहीं की और निरन्तर पदार्थों के ममत्व में अपनी आत्मशक्ति को भूल गये।

५. आत्मा ही आत्मा का गुरु है और आत्मा ही उसका शत्रु है।

६. सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का मूल कारण आत्मा ही है। लब्धि तो निरन्तर है केवल काललब्धि की आवश्यकता है। उसके मिलने पर सम्यग्दर्शन का होना दुर्लभ नहीं।

७. आत्मा सर्वदा एकाकी रहता है, अतः परकी पराधीनता से न कुछ आता है और न कुछ जाता है।

८. आत्मा का हित अपने ही परिणामों से होता है। स्वाध्याय आदिक उपयोग की स्थिरता के लिये हैं, क्योंकि अन्त में निर्विकल्पक दशा में ही वीतरागता का उदय होता है।

९. निज की शक्ति के विकास बिना दर दर भटकते फिरते हैं। यदि हम अपना पौरुष सम्हालें तो अनन्त संसार के बन्धन काट सकते हैं।

१०. आत्मा में अचिन्त्य शक्ति है परन्तु कर्मावृत होने से वह ढकी हुई है। इसके लिये भेदविज्ञान की आवश्यकता है

और भेदविज्ञान के लिये महती आवश्यकता आगमाभ्यास की है। जितना समय संसारी कामों में लगाते हो उसका दशांश भी यदि आगमाभ्यास में लगाओ तो अनायास ही भेदविज्ञान हो सकता है।

११. आत्मा अनन्त ज्ञान का पात्र है और अनन्त सुख का धारी है परन्तु हम अपनी अज्ञानता वश दुर्दशा के पात्र बन रहे हैं।

१२. पर को पर जानने की अपेक्षा आत्मा को आत्मा जानना विशेष महत्त्व का है।

१३. आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है, ज्ञान उसका निज का भाव है। यद्यपि उसका विकास स्वयं होता है, परन्तु अनादि काल से मिथ्यादर्शन के प्रभाव से आत्मीय गुणों का विकास रुक रहा है। इसी से पर में आत्मीय बुद्धि मानने की प्रकृति हो गई है। जो पञ्चेन्द्रियों के विषय हैं वे ही अपने सुख के साधन मान रक्खे हैं। यद्यपि ज्ञान के अन्दर उनका प्रवेश नहीं ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है परन्तु अज्ञानता वश ऐसी कल्पना हो रही है कि यह हमारा है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दीखता है। वह दर्पण का ही परिणमन है। वास्तव में दर्पण में अन्य पदार्थ का अंश भी नहीं गया फिर भी ऐसा भान होता है कि यह बाह्य पदार्थ ही है।

१४. जब तक आभ्यन्तर हीनता नहीं गई तभी तक बाह्य निमित्तों की मुख्यता प्रतीत होती है। आभ्यन्तर हीनता की न्यूनता में आत्मा ही समर्थ कारण है।

१५. आत्मशक्ति पर विश्वास ही मोक्षमहल की नींव है। इसके बिना मोक्ष महल पर आरोहण करना दुर्लभ है।

१६. अन्तरङ्ग की बलवत्ता के समक्ष बाह्य विरुद्ध कारण आत्मा के अहित में अकिञ्चित्कर है परन्तु हम ऐसे मोही हो गये हैं जो उस ओर दृष्टिपात ही नहीं करते। शीतनिवारण के अर्थ उष्ण पदार्थ का सेवन करते हैं और उष्णता निवारण के अर्थ शीत पदार्थ का सेवन करते हैं। परन्तु जिस शरीर के साथ शीत और उष्ण पदार्थ का सम्पर्क होता है उसे यदि पर समझ उससे ममत्व हटा लें तब मेरी बुद्धि में यह आता है कि यह जीव न तो वर्फ के समुद्र में अवगाहन कर शीतस्पर्श-जन्य वेदना का अनुभव कर सकता है, और न धधकती हुई भट्टी में कूद कर उष्णस्पर्शजन्य वेदना का ही। घोर उपसर्ग में आत्मलाभ प्राप्त करनेवाले सहस्रों महापुरुषों के आख्यान इसके प्रमाण हैं।

१७. जो कुछ है सो आत्मा में, यदि वहाँ नहीं तो कहीं नहीं।

१८. अन्तरङ्ग की बलवत्ता ही श्रेयोमार्ग की जननी है।

१९. जिन मनुष्यों को आत्मा होने पर भी उसकी शक्ति में श्रद्धा नहीं वे मानव धर्म के उच्च शिखर पर चढ़ने के अधिकारी नहीं।

२०. आत्मा की शक्ति प्रबल है। जो आत्मा पराश्रित बुद्धि से नरकादि दुर्गतियों का दयनीय पात्र होता है, वही एक दिन कर्मों को नष्ट कर मोक्ष नगर का भूपति बनता है।

२१. आत्मा अचिन्त्य शक्ति है, उसका विकाश जिसमें हो गया वही वास्तव में प्रशंसा का पात्र और निजत्व का भोक्ता होता है।
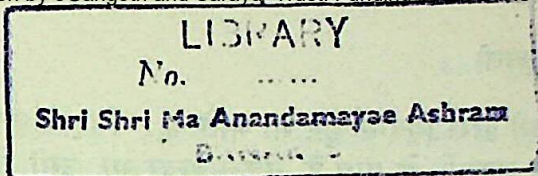
आत्मनिर्मलता

१. जिनके अभिप्राय स्वच्छ हैं वे गृहस्थावस्था में भी श्री रामचन्द्रजी की तरह व्यग्र होते हुए भी समय पाकर कर्म शत्रुका विनाश करने में, और सुकुमाल की तरह आत्मशक्ति का सदुपयोग करने में नहीं चूकते।

२. केवल शास्त्र का अध्ययन संसार बन्धन से मुक्त करने का मार्ग नहीं। तोता राम राम रटता है परन्तु उसके मर्म से अनभिज्ञ ही रहता है। इसी तरह बहुत शास्त्रों का बोध होने पर जिसने अपने हृदय को निर्मल नहीं बनाया उससे जगत का कोई कल्याण नहीं हो सकता।

३. जो आत्मा अन्तरङ्गसे पवित्र होता है उसको देखकर बड़े बड़े मानियों का मान, लोभियों का लोभ, मायावियों की माया और क्रोधियों का क्रोध छूट जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अन्तरङ्ग को निर्मल बनाने की चेष्टा करें।

४. अन्तरङ्ग वासना की विशुद्धि से ही कर्मों का नाश सम्भव है, अन्यथा नहीं।

५. अन्तरङ्ग शुद्धि के विना बहिरङ्ग सामग्री हितकर नहीं, अतः प्राणी को प्रथम चित्त शुद्धि करना आवश्यक है।

६. समवशरण की विभूतिवाले परम धाम जाते हैं और

व्याघ्री द्वारा विदीर्ण हुए भी जाते हैं। सिंह से बलवान् पुरुष जिस सद्गति के पात्र हैं, नकुल बन्दर भी उसी के पात्र हैं। जो कल्याण साता (सुख) में हो सकता है वही असाता (दुख) में भी हो सकता है। देवों के जो सम्यग्दर्शन होता है वही नारकियों के भी हो सकता है। अतः सिद्ध है कि (शारीरिक) सबलता और दुर्बलता सद्गति में साधक और बाधक नहीं, अपितु आत्मनिर्मलता की सबलता और दुर्बलता ही सद्गति में साधक और बाधक है।

७. आत्मनिर्मलता के अभाव में यह आत्मा आज तक नाना संकटों का पात्र बन रहा है तथा बनेगा, अतः आवश्यकता इस बात की है कि आत्मीय भाव निर्मल बनाया जाय और उसकी बाधक कषायपरिणति को मिटाने का प्रयास किया जाय। आत्मनिर्मलता के लिए अन्य बाह्य कारणों के जुटाने का जो प्रयास है वह आकाशताड़न के सदृश है।

८. आत्मनिर्मलताका सम्बन्ध भीतर से है, क्योंकि स्वयं आत्मा ही उसका मूल हेतु है। यदि ऐसा न हो तो किसी भी आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता।

९. कोई भी कार्य करो वास्तविक तत्त्व को देखो, केवल बाह्य निर्मलता को देखकर सन्तोष नहीं करना चाहिए। बाह्य निर्मलता का इतना प्रभाव नहीं जो आभ्यन्तर कलुषता को हटा सके।

१०. आभ्यन्तर निर्मलता में इतनी प्रखर शक्ति है कि उसके होते ही बहिर्द्रव्य की मलिनता स्वयमेव चली जाती है।

११. जो वस्तु नख से छेदी जा सके उसके लिए भीषण शस्त्रों का प्रयोग निरर्थक है। इसी तरह जो अन्तरङ्ग निर्मलता

विपरीत अभिप्राय के अभाव में स्वयमेव हो जाती है उसके लिए भीषण तप की आवश्यकता नहीं।

१२. आत्मीय परिणति को निर्मल बनाओ, क्योंकि उसी पर तुम्हारा अधिकार है। पर की वृत्ति स्वाधीन नहीं, अतः उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है।

१३. जो कुछ करना है आत्मनिर्मलता से करो।

१४. हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक आत्मा कलुषित रहता है; नियम से अशुद्ध है और जिस कालमें कलुषित भावों से मुक्त हो जाता है उस काल में नियम से शुद्ध हो जाता है, अतः आत्मनिर्मलताहेतु मिथ्यात्व नष्ट करने का प्रयास करो।

१५. आप जब तक निर्मल न हों तब तक उपदेश देने के पात्र नहीं हो सकते।

१६. आत्मपरिणामों को निर्मल करने में अपना पुरुषार्थ लगा देना चाहिए। जिन जीवों के परिणाम निरन्तर निर्मल रहते हैं वे नियम से सद्गति के पात्र होते हैं।

१७. आत्मनिर्मलता संसार-बन्धन के छेदन करने में तीक्ष्ण असिधारा है।

१८. जितने अधिक निर्मल बनोगे उतने ही शीघ्र संसार-बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

१९. निमित्तजन्य रोग मेटने के लिए वैद्य तथा औषधादि की आवश्यकता है। फिर भी इस उपचार में नियमित कारणता नहीं। परन्तु अन्तरंग निर्मलता में वह सामर्थ्य है जो उस रोग के मूल कारण को मेट देती है। इसमें बाह्य उपचारों की

आवश्यकता नहीं, केवल अपने पौरुष को सम्हालने की आवश्यकता है।

२०. श्री वादिराज महाराज ने अपने परिणामों के बल से ही तो कुष्ट रोग की सत्ता निर्मूल की, सेठ धनंजय ने औषधि के बिना केवल उसी से पुत्र का विषापहरण किया। कहाँ तक कहें, हम लोग भी यदि उस परिणाम को सम्हालें तो बिजली का आताप क्या वस्तु है, अनादि संसार के आताप का भी शमन कर सकते हैं।

२१. जो आत्मा मानसिक निर्मलता की सावधानी रखेगा वही इस अनादि संसार के पार जावेगा।

२२. इस संसार में महर्षियों ने मानव जन्म की महिमा गाई है परन्तु उस महिमा का धनी वही है जो अपनी परिणति से कलुषता को पृथक् कर दे।

२३. अन्तरङ्ग की शुद्धि होने पर तिर्यञ्च भी मोक्षपथ पा सकता है।

२४. "राग द्वेष दुखदाई है" ऐसा कहने में कुछ भी सार नहीं। उसके कर्ता हम हैं, आत्मा ही आत्मा को दुःख या सुख देनेवाला है इसलिये आत्माको निर्मल बनानेकी आवश्यकता है।

२५. आत्मनिर्मलताके लिये किसी की आवश्यकता नहीं, केवल विपरीत मार्ग की ओर न जाना ही श्रेयस्कर है।

२६. आत्मपुरुषार्थ से अन्तरङ्ग की ऐसी निर्मलता होनी चाहिये कि पर पदार्थों का संयोग होने पर भी इष्टानिष्ट कल्पना न होने पावे।

२७. अन्तरङ्ग की निर्मलता का कारण स्वयं आत्मा है, अन्य निमित्त कारण हैं। अन्य के परिणाम अन्य के द्वारा

निर्मल हो जावें यह नियम नहीं। हाँ, वह जीव पुरुषार्थ करे और काललब्धि आदि कारण सामग्री का सद्भाव हो तो निर्मल परिणाम होने में बाधा नहीं। परन्तु केवल ऊहापोह करे और उद्यम न करे तो कार्य सिद्ध होना दुर्लभ है।

२८. आत्मकल्याण के लिये अधिक समय की आवश्यकता नहीं, केवल निर्मल अभिप्राय की महती आवश्यकता है।

२९. ऐसे ऐसे जीव देखे गये हैं जो थोड़े ही समय में परिणामों की निर्मलता से मोक्षगामी हो गये हैं।

३०. गृहस्थ अवस्था में नाना प्रकार के उपद्रवों का सद्भाव होने पर भी निर्मल अवस्था का लाभ अशक्य नहीं।

३१. वचन की चतुरता से कुछ लाभ नहीं, लाभ तो अभ्यन्तर परिणति के निर्मल होने से है।

३२. अपनी परिणति को पवित्र बनाने की चेष्टा करना ही प्रतिकूल निमित्तों से बचने का उपाय है।

३३. निमित्त कभी भी बुरे नहीं होते। शङ्ख पीला नहीं होता, परन्तु कामला रोगवालों को पीला प्रतीत होता है। इसी तरह जो हमारी अन्तःस्थित कलुषता है वही निमित्तों में इष्टानिष्ट कल्पना करा रही है। जब तक वह कलुषता न जावेगी तब तक संसार में कहीं भी भ्रमण कर आईये, शान्ति का अंशमात्र लाभ न होगा, क्योंकि शान्ति को रोकनेवाली कलुषता तो भीतर ही बैठी है। क्षेत्र छोड़ने से क्या होगा! एक रोगी मनुष्य को साधारण घर से निकाल कर एक दिव्य महल में ले जाया जाय तो क्या वह नीरोग हो जावेगा? अथवा काँच के नग में स्वर्ण की पच्चीकारी करा दी जाय तो क्या वह हीरा हो जावेगा?

३४. निर्मलता में भय का अवसर नहीं। यदि वह होता तो अनादिनिधन मोक्षमार्ग कदापि विकासरूप न होता।

३५. आजकल निर्मलता का अभाव है अतः मोक्षमार्ग का भी अभाव है।

३६. जब तक अन्तरङ्ग निर्मलता की आंशिक विभूति का उदय न हो तब तक गृहस्थी को छोड़ने से रोगादिक नहीं घटते।

३७. यदि निर्मलतापूर्वक एक दिन भी तात्त्विक विचार से अपने को विभूषित कर लिया तो अपने में ही तीर्थ और तीर्थङ्कर देखोगे।

३८. परिणामों की निर्मलता से आपके सब कार्य अनायास सिद्ध हो जावेंगे, धीरता से काम लीजिये।

३९. कल्याण का कारण अन्तरङ्ग की निर्मलता है न कि घर छोड़ना और मौन ले लेना।

४०. निर्मल आत्मा का ऐसा प्रभाव होता है कि उपदेश के बिना ही मनुष्य उसके पथ का अनुसरण करते हैं।

४१. जिनकी आत्मा अभिप्राय से निर्मल हो गई है वह व्यापारादि कार्य करते हुए भी अकर्ता हैं और जिनकी आत्मा अभिप्राय से मलीन हैं वह बाह्य में दिगम्बर होकर कार्य न करते हुए भी कर्ता हैं।

४२. जिन जीवों ने आत्मशुद्धि नहीं की उनका व्रत, उपवास, जप, तप, संयम आदि सभी निष्फल हैं, क्योंकि बाह्य क्रियाएँ पुद्गल कृत विकार हैं। पुद्गल की शुद्धि से आत्मशुद्धि होना असम्भव है, इसलिये बाह्य आचरणों पर उतना ही प्रेम

रखना चाहिये जिससे वे आत्मशुद्धि में बाधक न बनने पावें। प्रधानतया तो आभ्यन्तर परिणामों की निर्मलता का ही विशेष ध्यान रखना चाहिये।

आत्मविश्वास

१. आत्मविश्वास एक विशिष्ट गुण है। जिन मनुष्यों का आत्मा में विश्वास नहीं, वे मनुष्य धर्मके उच्चतम शिखर पर चढ़ने के अधिकारी नहीं।

२. जिस मनुष्य को आत्मविश्वास नहीं वह कभी भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता।

३. जो मनुष्य सिंह के बच्चे होकर भी अपने को भेड़ तुल्य तुच्छ समझते हैं, जिन्हें अपने अनन्त आत्मबल पर विश्वास नहीं, वही दुःख के पात्र होते हैं।

४. "मुझसे क्या हो सकता है ? मैं क्या कर सकता हूँ ? मैं असमर्थ हूँ, दीन हीन हूँ" ऐसे कुत्सित विचारवाले मनुष्य आत्मविश्वास के अभाव में कदापि सफल नहीं हो सकते।

५. जिस मनुष्य को आत्मविश्वास नहीं वह मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं।

६. आत्मा के प्रदेश प्रदेश में अनन्तानन्त कार्मण वर्गणाएँ स्थित हैं अतः कर्म बन्ध की भयङ्करता और संसार परिभ्रमणरूप दुःखपरम्परा को देखकर अज्ञानी मनुष्यों का उत्साह भङ्ग हो जाता है, किसी कार्य में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती, निरन्तर रौद्रध्यान और आर्त्तध्यान में काल व्यतीत कर

दुर्गति के पात्र बनते रहते हैं। "हाय ! इन कार्यों का नाश कैसे कर सकेंगे।" यह विचार बड़े-बड़े बलवानों को भी निर्बल और निरुत्साही बना देता है। किन्तु जब वे धर्मशास्त्र के दूसरे विचारों को देखते हैं तब पूर्व विचार द्वारा जो कमजोरी आत्मा में स्थान पा गई है वह क्षणमात्र में विलीन हो जाती है। वे विचारते हैं कि जिस कर्म का बन्धन करनेवाले हम हैं उसका नाश करनेवाले भी हमी हैं। आत्मा की शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। जिस तरह प्रचण्ड सूर्य के समक्ष घटाटोप मेघ भी देखते देखते बिखर जाते हैं उसी तरह जब यह आत्मा स्वीय विज्ञानधन और निराकुलतारूप सुख का अनुभव करता है तब उसकी शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि कितने ही बलिष्ठ कर्म क्यों न हों एक अन्तर्मुहूर्त में भस्मसात् हो जाते हैं। मोह का अभाव होते ही यह आत्मा ज्ञानाग्नि द्वारा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणादि कर्मों को इन्धन की तरह क्षण भर में भस्म कर देता है। इस प्रकार जब यह आत्मा अचिन्त्य शक्तिवाला है तब हम लोगों को उचित है कि अनेक प्रकार की विपत्तियों के समागम होने पर भी आत्मविश्वास को न छोड़ें।

७. श्रीरामचन्द्रजी को वनवास में दर दर भटकना पड़ा, अनेक आपत्तियाँ सहनी पड़ीं, समन्तभद्र स्वामी को भी अनेक संकटों ने घेरा, परन्तु उन्होंने अपने आत्मविश्वास को नहीं छोड़ा। अकलङ्क स्वामी ने छः मास पर्यन्त तारादेवी से विवाद कर इसी आत्मबल के भरोसे धर्म की विजय वैजयन्ती फहराई। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मविश्वास के न होने से हम कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। जितने महापुरुष हुए हैं उन सभी में आत्मविश्वास एक ऐसा प्रभाविक

गुण था जिसकी नींव पर ही वे अपनी महत्ता का महल खड़ा कर सके।

८. कवि-व्याख्याता-लेखक, छात्र-छात्राएँ, विद्वान्-विदुषियाँ, कर्जदार-साहूकार, मालिक-मजदूर, वैद्य-रोगी, अभियुक्त-न्यायाधीश, सैनिक-सेनापति, युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर सभी को आत्मविश्वास गुण की परम आवश्यकता है। और की कथा छोड़ो; परमपूज्य वीतरागी साधुवर्ग भी इस गुण के द्वारा ही आत्मकल्याण करने में समर्थ होते हैं। सुकुमाल मुनि प्रकृति के अत्यन्त कोमल थे परन्तु इस गुण के प्रभाव से व्याघ्री द्वारा शरीर विदीर्ण किये जाने पर भी आत्मध्यान से रञ्चमात्र भी नहीं डिगे, उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि के पात्र हुए, और द्वीपायन मुनि इस गुण के अभाव में द्वारका का विध्वंस कर स्वयं दुःखों के पात्र बने।

९. सती सीता में यही वह प्रशस्त गुण (आत्मविश्वास) था जिसके प्रभाव से रावण जैसे पराक्रमी का सर्वस्व स्वाहा हो गया, सती द्रोपदी में यही वह चिनगारी थी जिसने क्षण एक के लिये ज्वलन्त ज्वाला बनकर चीर खींचनेवाले दुःशासन के दुरभिमान द्रुम (अभिमान विष वृक्ष) को दग्ध करके ही छोड़ा। सती मैना सुन्दरी में यही आत्मतेज था जिससे वज्रमयी फाटक फटाक से खुल गया। सती कमलश्री और मीराबाई के पास यही विषहारी अमोघ मन्त्र था जिससे विष शरवत हो गया और फुफकारता हुआ भयङ्कर सर्प सुगन्धित सुमनहार बन गया!

१०. बड़े बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य जिन पर संसार आश्चर्य करता है आत्मविश्वास के बिना नहीं हो सकते।

११. अस्सी वर्ष की बुढ़िया आत्मबल से धीरे धीरे पैदल चलकर दुर्गम तीर्थराज के दर्शन कर जो पुण्य सञ्चित करती है वह आत्मविश्वास में अश्रद्धालु डोली पर चढ़कर यात्रा करनेवालों को कदापि सम्भव नहीं।

१२. जो आत्मविश्वास पर अटल श्रद्धा रखकर क्रम से सोपान चढ़ते हुए मोक्षमन्दिर में पहुंचकर मुक्तिरमणी पति हुए वे भी तो पूर्व में हम ही जैसे मनुष्य थे। अतः सिद्ध है कि आत्मविश्वास एक ऐसा प्रभावशाली पवित्र गुण है जिससे नर को नारायण होने में कोई विलम्ब नहीं लगता।

१३. आत्मा के लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं, सारे जगत् के पदार्थों का अनुभव करनेवाले हम हैं। इन्द्रियाँ और मन नहीं, क्योंकि वे जड़ हैं। अनुभव करनेवाला तो एकमात्र चेतना का परिणाम है। जब ऐसा दृढ़तम विश्वास आत्मा में आ जाता है तब उसका साहस और धैर्य इतना बढ़ जाता है कि अशक्य से अशक्य कार्य भी वह क्षणमात्र में कर डालता है।

१४. जिस समाचार को अपने शरीर द्वारा वर्षों में जान सकते हैं विद्युत शति द्वारा मिनटों में जान सकते हैं। अवधि ज्ञान और मनःपर्ययज्ञान द्वारा इसके असंख्यातवेंभाग समय में जान सकते हैं। केवलज्ञान द्वारा उस एक समाचार की बात तो दूर रहे तीनों लोक और त्रिकाल के समस्त समाचारों को एक समय में अनायास ही प्रत्यक्ष जान लेते हैं। इसका कारण केवल आत्मशक्ति का अचिन्त्य महत्त्व है, अतः अपना आत्मविश्वास गुण कभी मत भूलो।

१५. आत्मबल के बिना आत्मा अनन्त ज्ञानादिक की सत्ता नहीं रख सकता। जहाँ अनन्त बल है वहीं अनन्त ज्ञान

और अनन्त सुख है। इन गुणों का परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। अतएव हम लोगों को उस आत्मसत्त्व में दृढ़तम श्रद्धा द्वारा अपने को सांसारिक दुःखों से बचाना चाहिये।

१६. जिस मनुष्य के आत्मसत्त्व में दृढ़ श्रद्धा है वही संसार भर के प्राणियों में उत्कृष्ट है।

१७. जिस कार्य को एक मनुष्य कर सकता है, उसीको यदि दूसरा न कर सके तो समझो कि उसमें आत्मविश्वास की कमी है।

१८. जिन्हें अपने आत्मबल पर विश्वास नहीं, उन्हें संसार सागर की तो बात जाने दो, गाँव की मेंढकतरण तलैया भी गहरी है।
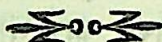
मोक्षमार्ग

१. आत्मा अनादिकालीन अपनी भूल से ही संसारी बन रहा है। भूल मिटी कि मोक्ष का पात्र होने में विलम्ब नहीं।

२. जो परीषह विजयी होते हैं वही मोक्ष के पात्र होते हैं।

३. जिन जीवों के अभिप्राय शुद्ध हैं चाहे वे कोई भी हों, मोक्षमार्ग के पथिक हैं।

४. जिन जीवों ने अपनी लालसा का अन्त कर दिया वे ही मोक्षमार्ग के पात्र हैं।

५. रागादिक न हों, इसकी चिन्ता न करे। चिन्ता इस बात की करे कि इस प्रकार के जितने भी भाव हैं वे सब विभाव हैं, क्षणिक हैं, व्यभिचारी हैं, अतः इनको परकृत जान इनमें हर्ष विषाद करना उचित नहीं। यही चिन्ता 'मोक्षमार्ग की प्रथम सोपान है।

६. हम लोग सदा पर पदार्थ में उत्कर्ष और अपकर्ष की समालोचना करते रहते हैं परन्तु "हम कौन हैं ?" इसकी ओर कभी भी दृष्टिपात नहीं करते। फल यह होता है कि आजन्म ज्यों के त्यों भी नहीं; किन्तु छब्बे के स्थान में दुबे रह जाते हैं! अतः निरन्तर स्वकीय भावों को उज्वल रखने में प्रयत्नशील रहना ही मोक्षाभिलाषियों का मुख्य कर्तव्य है।

७. पर के उत्कर्ष कथा के पुराणों का मनन करने से हम उत्कर्ष के पात्र नहीं हो सकते, अपि तु उस मार्ग पर आरूढ़ होकर मन्दगति से प्रति समय गमन करने पर एक दिन वह आ सकता है जब कि हमारी उत्कर्षता के हम ही दृष्टान्त होकर अनादि मन्त्र द्वारा मोक्षाभिलाषियों के स्मरण विषय बन सकते हैं।

८. आत्मोत्कर्ष के मार्ग में कर्मनिमित्तक इष्टानिष्ट कल्पना ने जो अपना प्रभुत्व जमा रखा है उसे ध्वंस करो, यही मोक्षमार्ग है।

९. श्रद्धा के साथ ही सम्यग्ज्ञान का उदय होता है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक जो त्याग है वही चारित्र व्यपदेश को पाता है, वही मोक्षमार्ग है। हम अनादिकाल से इस मार्ग के अभाव में संसार के पात्र बन रहे हैं।

१०. जिन महानुभावों ने रागद्वेष की शृङ्खला तोड़ने का अधिकार प्राप्त कर लिया वही मोक्ष के पात्र हैं।

११. जीव अपने ही परिणामों की कलुषता से संसारी है, कलुषता गई कि संसार चला गया।

१२. इस काल में जो मनुष्य यथाशक्ति कार्य करेगा, आडम्बर जाल से मुक्त रहेगा तथा निराकुल रहने की चेष्टा करेगा वही मोक्ष का पात्र होगा।

१३. संसार में वही मनुष्य परमात्मपद का अधिकारी हो सकता है जो संसार से उदासीन है।

१४. मोक्षमार्ग दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक है, अतः निरन्तर उसी में स्थित रहो, उसी का ध्यान करो, उसी का चिन्तवन

करो, और उसी में निरन्तर विहार करो, यही मोक्ष प्राप्ति का सरल उपाय है।

१५. शरीर में ५ करोड़, ६८ लाख, ९९ हजार ५ सौ ८४ रोग रहते हैं। अतः जितनी चिन्ता इन रोगों के घर शरीर को स्वच्छ और सुरक्षित करने की लोग करते हैं, यदि उतनी चिन्ता शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को स्वच्छ और सुरक्षित रखने की (रागद्वेष से बचाने की) करें तो एक दिन वे अवश्य ही नर से नारायण हो जायँगे इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

१६. विषय से निवृत्त होने पर तत्त्वज्ञान की निरन्तर भावना ही कुछ काल में संसार लतिका का मूलोच्छेद कर देती है। केवल देहशोषण मोक्षमार्ग नहीं है।

१७. शान्ति ही मोक्ष का साम्राज्य है। बिना शान्ति के मोक्षमार्ग होना असम्भव है।

१८. जहाँ तक बने संसार और मोक्ष अपने ही में देखो, यही तत्त्वज्ञान तुम्हें सिद्धपद तक पहुँचा देगा।

१९. संसारी और मुक्त ये दोनों ही आत्मा की विशेष अवस्थाएँ हैं। इनमें से वह अवस्था, जो आत्मा को आकुलता उत्पन्न करती है संसार है और दूसरी अवस्था जो निराकुलता की जननी है मोक्ष है। यदि इस भयङ्कर दुःखमय संसार से छूटना चाहते हो तो उसमें परिभ्रमण करानेवाले भाव को छोड़ो, उसके छोड़ने से ही सुखदा अवस्था (मुक्तावस्था) प्राप्त हो जायगी।

२०. निष्कपट होकर जो काम करता है वही मोक्षमार्ग का पात्र होता है।

२१. भेष में मोक्ष नहीं, मोक्ष तो आत्मा का स्वतन्त्र परिणमन है। पर पदार्थ का संसर्ग छोड़ो यही मोक्ष का साधक है।

२२. मोक्षमार्ग मन्दिर में नहीं, मसजिद में नहीं, गिरजा घर में नहीं, पर्वत-पहाड़ और तीर्थराज में नहीं, इसका उदय तो आत्मा में है !

२३. चित्तवृत्ति को स्थिर रखना मोक्ष प्राप्ति का प्रथम उपाय है।

२४. आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम मोक्ष है।

२५. मोक्षमार्ग पर के आश्रय से सदा दूर रहा है, रहता है और रहेगा।

२६. मोक्षमार्ग में वही पुरुष गमन कर सकता है जो सिंहवृत्ति का धारी हो।

२७. जिन भाग्यशाली वीरों ने पराश्रितपने की भावना को पृथक् किया वे ही वीर अल्पकाल में मोक्षमार्ग के पात्र होते हैं।

२८. जिसकी प्रवृत्ति हर्ष और विषाद से परे है वही मुक्ति का पात्र है।

२९. वही मनुष्य संसार से मुक्ति पावेगा जो अपने गुण दोषों की आलोचना करता हुआ गुणों की वृद्धि और दोषों की हानि करने की चेष्टा करने में अपना उपयोग लगाता रहेगा।

३०. निशङ्क रहना ही मोक्ष पथिक का प्रधान सहारा है।

३१. जो वर्तमान में पूतात्मा है वही मोक्षमार्ग का अधिकारी है। सम्पत्ति पाकर भी मोक्षमार्ग का लाभ जिसने लिया उसी नररत्न का मनुष्य जन्म सफल है।

३२. मोक्षलिप्सा मोक्ष की साधक नहीं, किन्तु लिप्सा की निवृत्ति ही मोक्ष की साधक है।

३३. शुभोपयोग के त्यागनेसे शुद्धोपयोग नहीं होता। किन्तु शुभोपयोग में जो मोक्षमार्ग की कल्पना कर रखी है उसके त्याग और राग-द्वेष की निवृत्ति से शुद्धोपयोग होता है। यही परिणाम मोक्षमार्ग का साधक है।

३४. जिसका आचरण आगमविरुद्ध है वह बाह्य में कितना ही कठिन तपश्चरण क्यों न करे मोक्षमार्ग का साधक नहीं हो सकता।

३५. समताभाव ही मोक्षाभिलाषी जीवों का मुख्य कर्तव्य है और सब शिष्टाचार है।

३६. वास्तव में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) ही मोक्ष का एक मार्ग है।

रत्नत्रय

१. यदि रत्नत्रय की कुशलता हो जावे तब यह सब व्यवहार अनायास छूट जावे।

२. निरन्तर कषायों की प्रचुरता से रत्नत्रय परिणति आत्मीय स्वरूप को प्राप्त करने में असमर्थ रहती है। जिस दिन वह अपने स्वरूप के सन्मुख होगी अनायास कषायों की प्रचुरता का पता न लगेगा।

३. जहाँ आत्मीय भाव सम्यक् भाव को प्राप्त हो जाता है वहाँ मिथ्यात्व को अवकाश नहीं मिलता। कषायों की तो कथा ही व्यर्थ है। जिस सिंह के समक्ष—गजेन्द्र भी नतमस्तक हो जाता है वहाँ स्याल गीदड़ों की क्या कथा ?

४. जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है उसी को तुम स्वसमय जानो। और इसके विपरीत जो पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित है उसे पर समय जानो। जिसकी ये दो अवस्थायें हैं उसे अनादि अनन्त सामान्य जीव समझो। केवल रागद्वेष की निवृत्ति के अर्थ चारित्र की उपयोगता है।

५. मुख्यतया अपनी आत्मा की कल्याण जननी रत्नत्रयी की सेवा करो। संसार के प्राणियों की अनुकूलता प्रतिकूलता पर अपने उपयोग का दुरुपयोग मत करो।

६. धर्म की रक्षा करनेवाले रत्नत्रयधारी पवित्र आत्मा होते हैं। उन्हीं के वाक्य आगम रूप होकर इतर पुरुषों को धर्म-लाभ कराने में निमित्त होते हैं।

७. सम्यग्दृष्टि जीव का अभिप्राय इतना निर्मल है कि वह अपराधी जीव का अभिप्राय से बुरा नहीं चाहता। उसके उपभोग क्रिया होती है। इसका कारण यह है कि चारित्र मोह के उदय से बलात् उसे उपभोग क्रिया करनी पड़ती है। एतावता उसके विरागता नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते।
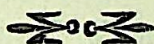
श्रद्धा

१. जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक श्रद्धागुण को अपनायेगा उसे कोई भी शक्ति संसार में नहीं रोक सकती।

२. शुद्ध आत्मतत्त्व की उपासना का मूल कारण सम्यग्दर्शन ही है क्योंकि यथार्थ वस्तु का परिज्ञान सम्यग्ज्ञानी को ही होता है।

३. केवल श्रद्धा गुण के विकाश से कल्याण उदय में आता है। इसके होने पर अन्य गुणों का विकाश अनायास हो जाता है।

४. जिस तरह रोगी मनुष्य लंघन शुद्ध होने के वाद नीरोग हो जाता है और पथ्यादि सेवन कर अपनी आशक्तता को दूर करता हुआ एक दिन पूर्ण बलिष्ठ हो जाता है. उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मा दर्शन मोह का अभाव होने पर नीरोग हो जाता है और क्रम से श्रद्धा का विषय लाभ करता हुआ एक दिन अपने अनन्त सुख का भोक्ता होता है।

५. कुछ भी करो श्रद्धा न छोड़ो। श्रद्धा ही संसरातीत अवस्था की प्राप्ति में सहायक होती है। श्रद्धा बिना आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती।

६. जिन जीवों को सम्यग्दर्शन हो गया है उन्हें साता असाताका उदय चञ्चल नहीं करता।

७. जिन्हें दीर्घ संसार से भय है उन्हें श्रद्धा गुण को कलङ्कित नहीं करना चाहिए।

८. श्रद्धा के सद्भाव में शुभ प्रवृत्ति को अनात्मीय जान उसमें उपादेय बुद्धि करना योग्य नहीं। शुभ प्रवृत्ति हो. होने दो, उसमें कर्तृत्व भाव न रक्खो।

९. मुख्यतया स्वाध्याय में भी हमारी दृढ़ श्रद्धा ही शिक्षक का कार्य करती है।

१०. यह स्पष्ट है कि जिनमें दृढ़ श्रद्धा की न्यूनता है वे देवादि का समागम पाकर भी आत्म सुख से वञ्चित रहते हैं। अतः सर्वप्रथम हमारा मुख्य लक्ष्य श्रद्धा की ओर होना चाहिये।

११. श्रद्धा से जो शान्ति मिलती है उसी का आस्वाद लेकर संतोष करो।

१२. "संसार के दुःखों से भयभीत हैं" इसमें कुछ तत्त्व नहीं। तत्त्व तो श्रद्धापूर्वक उपाय के अनुकूल यथाशक्ति निवृत्ति मार्ग पर चलने में है।

१३. यों तो जो कुछ सामग्री हमारे पास है वह सब कर्मजन्य है। परन्तु श्रद्धा वस्तु कर्मजन्य नहीं। उसकी उत्पत्ति कर्मों के अभाव में ही होती है। इसकी दृढ़ता ही संसार की नाशक है।

१४. आत्मविषयक श्रद्धा ही इन आपत्तियों से पार करेगी, श्रद्धा ही तो मोक्षमहल का प्रथम सोपान है। उसकी आज्ञा है कि यदि परिग्रह से छूटना चाहते हो तो संकोच छोड़ो, निर्द्वन्द्व बनो।

१५. श्रद्धा की निर्मलता ही मोक्ष का कारण है।
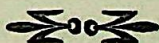
ज्ञान

१. ज्ञान शून्य जीवन सार शून्य तरुवत् निरर्थक है।

२. ज्ञान मोक्ष का हेतु है। यदि वह नहीं है तब व्रत, नियम, शील और जप तप के होने पर भी अज्ञानी जीवों को मोक्ष लाभ नहीं हो सकता।

३. भोजन का उपयोग क्षुधानिवृत्ति के अर्थ है एवं ज्ञान का उपयोग रागादिनिवृत्ति के अर्थ है। केवल अज्ञाननिवृत्ति ही नहीं, अज्ञान निवृत्ति रूप तो वह स्वयं है।

४. आँख वही है जिसमें देखने की शक्ति हो अन्यथा उसका होना न होने के तुल्य है। इसी तरह ज्ञान वही है जो स्वपर बिवेक करा देवे, अन्यथा उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं।

५. जो भोजन एक दिन अमृत माना जाता था आज वह विषरूप हो गया। जो वैय्यावृत्त एक दिन अभ्यन्तर तप की गणना में था तथा निर्जरा का साधक था आज वही तप ग्लानि में गणनीय हो गया! यह सब हमारी अज्ञानता का विलास है।

६. संसार में प्राणियों को नाना प्रकार के अनिष्ट सम्बन्ध होते हैं और मोहोदय की बलवत्ता से वे भोगने पड़ते हैं। किन्तु जो ज्ञानी जीव हैं वे मोह के क्षयोपशम से उन्हें जानते हैं; भोगते नहीं। अतएव वही बाह्य सामग्री उन्हें कर्मबन्धन में

निमित्त नहीं पड़ती प्रत्युत मूर्च्छा के अभाव में निर्जराका कारण होती है।

७. मिश्री शब्द से मिश्री पदार्थ का परोक्ष ज्ञान होता है। इतने पर भी यदि कोई उसे प्राप्त कर खाने की चेष्टा न करे तब वह अनन्त काल में भी मिश्री के स्वाद का भोक्ता नहीं हो सकता। इसी तरह श्रुतज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप को जानकर भी यदि कोई तदात्मक होने की चेष्टा न करे तब कभी भी ज्ञानात्मक आत्मा उसके स्वाद का पात्र नहीं हो सकता।

८. ज्ञानी वही है जो उपद्रवों से चलायमान न हो। स्यालिनी ने सुकुमाल स्वामी का उदर विदारण करके अपने क्रोध की पराकाष्ठा का परिचय दिया; किन्तु सुकुमाल स्वामी उस भयंकर उपसर्ग से विचलित न होकर उपशम श्रेणी द्वारा सर्वार्थसिद्धि के पात्र हुए। अतः मैं उसी को सम्यग्ज्ञानी मानता हूँ जिसको मान अपमान से कोई हर्ष विषाद नहीं होता।

९. आगम ज्ञान मुख्य वस्तु है। पर पदार्थ का ज्ञाता दृष्टा रहना ही तो आत्मा का स्वभाव है और उसकी व्यक्तता मोह के अभाव में होती है, अतः आवश्यकता उसी के कृश करने की है। यथार्थ ज्ञान तो सम्यग्दर्शन के होते ही हो जाता है।

१०. ज्ञान का फल वास्तव में उपेक्षा है। उसकी जिसके सत्ता है वही ज्ञानी है।

११. उदर पोषण के लिये विद्या का अर्जन नहीं। उदर पोषण तो काक मार्जार आदि भी कर लेते हैं। मनुष्य जन्म पाकर विद्यार्जन कर यदि उदर पोषण तक ही सीमा रही तब मनुष्य जन्म की क्या विशेषता रही? मनुष्य जन्म तो मोक्ष का साधक है।

१२. ज्ञान का वही विकाश उत्तम है जो सम्यक् भाव से अलंकृत हो।

१३. जब सम्यग्ज्ञान आत्मा में हो जाता है तब पर पदार्थ का सम्बन्ध न छूटने पर भी वह छूटा सा हो जाता है।

१४. सम्यग्ज्ञानी जीव मिथ्यादृष्टि की तरह अनन्त संसार के कारणों से कभी भी आकुलित नहीं होता।

१५. इस काल में ज्ञानार्जन ही आत्मगुण का वास्तविक पोषक है।

१६. जिनको सम्यग्ज्ञान हो गया वही ज्ञानचेतना के स्वामी हैं, और वही निराकुल सुख के भोक्ता हैं।

१७. स्वप्नावस्था में जो भ्रमजन्य वेदना होती है उसका निवारण जाग्रत् अवस्था में स्वयमेव हो जाता है, उसी तरह अज्ञानावस्था में जो दुःख होता है उसका निवारण ज्ञानावस्था में स्वयमेव हो जाता है।

१८. जिसे अंशमात्र भी निर्मल ज्ञान हो गया वह कभी संसार यातना का पात्र नहीं हो सकता।

१९. ज्ञान वह है जिससे अज्ञान भाव की निवृत्ति हो।

२०. संसार में जो बड़े-बड़े ज्ञानी जन हैं वे ज्ञानार्जन इसीलिये करते हैं कि उनके अज्ञान जन्य आकुलता का आविर्भाव न हो।

२१. ज्ञान ही सभी गुणों का प्रकाशक है। इसके बिना मनुष्य की गणना बिना सींग के बैल या गर्दभों में की जाती है। ज्ञान का विकाश होते ही मनुष्य की गणना ज्ञानियों में होने लगती है, जिसके द्वारा संसार का महोपकार होता है।

चारित्र

१. आत्मा के स्वरूप में जो चर्या है उसी का नाम चारित्र है, वही वस्तु का स्वभावपने से धर्म है।

२. बाह्य व्रत का उपयोग चारित्र के अर्थ है। यदि वह न हुआ तब जैसा व्रती वैसा अव्रती।

३. मन्द कषाय व्रत का फल नहीं, वह तो मिथ्या गुणस्थान में भी हो जाता है। व्रत का फल तो वास्तव में चारित्र है, उसी से आत्मा में पूर्ण शान्ति का लाभ होता है।

४. पर्याय की सफलता संयम से है। मनुष्य भव में देव पर्याय से भी उत्तमता इसी संयम की मुख्यता से है।

५. गृहस्थ भी संयम का पात्र है। देश संयम भी तो संयम ही है। हम व्यर्थ ही संयम का भय करते हैं। अणुव्रत का पालन तो गृहस्थ के ही होता है। परन्तु हम इतने भीरु और कायर हो गये जो आत्महित से भी डरते हैं।

६. संयम का पालन करना कल्याण का प्रमुख साधन है।

७. ज्ञान का साधन प्रायः बहुत स्थानों पर मिल जायेगा, परन्तु चारित्र का साधन प्रायः दुर्लभ है। उसका सम्बन्ध आत्मीय रागादि निवृत्ति से है। वह जब तक न हो यह बाह्य आचरण दम्भ है।

८. जीव संसार समुद्र से तारनेवाले चारित्र का पात्र होता है। चारित्र विना मुक्ति नहीं, मुक्ति बिना सुख नहीं।

९. अन्तरङ्ग श्रद्धापूर्वक विशुद्धता का उदय जिस आत्मा में होता है वह जीव चारित्र का उत्तरकाल में अधिकारी होता है अतः जिन जीवों को आत्मकल्याण करना है वे जीव निर्मोह होकर व्रत का पालन करें।

१०. शुभोपयोगिनी क्रिया पुण्यजननी है, उसे वैसा ही मानना किन्तु न करना यह कहाँ का सिद्धान्त है ? मन्द कषाय का भी तो बाह्य प्रवृत्ति से सम्बन्ध है। इसका सर्वथा निषेध बुद्धि में नहीं आता। अत: जिन्हें आत्महित करना है उन्हें बाह्य में अपनी प्रवृत्ति निर्मल करनी ही होगी। बादाम के ऊपरी भाग के भंग किये बिना बिजी का छिलका दूर नहीं हो सकता। जबतक हमारी प्रवृत्ति भोजनादि क्रियाओं में आगमोक्त न होगी केवल वचनबल और पाण्डित्य के बल पर कल्याण नहीं हो सकता।

११. यदि आगमज्ञान संयमभाव से रिक्त है तब उससे कोई लाभ नहीं।

१२. स्वेच्छाचारी मनुष्यों के द्वारा कल्याण का होना बहुत दूर है। विषमिश्रित क्षीरपाक मृत्यु ही का कारण होता है। कहने का यह तात्पर्य है कि धर्मोपदेश उसी को लग सकता है जो श्रद्धावान् और संयमी हो।

१३. वही व्यक्ति मोक्षका अधिकारी है जो श्रद्धा के अनुकूल ज्ञान और चारित्र का धारी हो।

१४. शान्ति का स्वाद तभी आ सकता है जब श्रद्धा के साथ साथ चारित्र गुण की उद्भूति हो।

१५. कषायों के कृश करने का निमित्त चरणानुयोग द्वारा निर्दिष्ट यथार्थ आचरण का पालन करना है।

१६. चरणानुयोग ही आत्मा को अनेक प्रकार के रोगों से बचाने में रामबाण औषधि का कार्य करता है।

१७. जिनकी प्रवृत्ति चरणानुयोग द्वारा निर्मल हो गई है वे ही स्वपर कल्याण कर सकते हैं।

१८. जिसके इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग में धीरता रहती है वही संयम का पात्र है।

१९. चारित्र का फल रागद्वेषनिवृत्ति है। यहाँ चारित्र से तात्पर्य चरणानुयोग द्वारा प्रतिपाद्य देशचारित्र और सकलचारित्र से है। जो कि कषाय की निवृत्ति रूप है प्रवृत्ति रूप नहीं। उसका लाभ जिस काल में कषाय की कृशता है उसी काल में है।

२०. संसार में वही जीव नीरोग रहता है जो अपना जीवन चारित्र पूर्वक बिताता है।

२१. वास्तव दृष्टि से चारित्र न प्रवृत्ति रूप है और न निवृत्ति रूप ही। वह तो विधि निषेध से परे अपरिमित शान्ति का दाता आत्मा का परिणाम मात्र है।

२२. रागादि निवृत्ति के अर्थ चरणानुयोग है। केवल पदार्थ का निरूपण करने मात्र से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

२३. चारित्र के विकाश में आगम ज्ञान, साधु समागम, और विद्वानों का सम्पर्क आदि किसी की आवश्यकता नहीं। वह तो ज्ञानी जीव की साहजिक प्रकृति है।

२४. चारित्र शून्य ज्ञान नपुंसक के लिये नवोढा स्त्री और कंजूस के लिये वृहद् धन राशि के समान निरर्थक है।

२५. अज्ञान निवृत्तिमात्र से आत्मा शान्ति का पात्र नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञान कोई लाभ दायक वस्तु नहीं किन्तु उसका कार्य अज्ञान निवृत्ति तो उसके होते ही हो जाता है। परन्तु जिस तरह सूर्य के उदय से मार्ग दर्शन हो जाने पर भी अभिलषित स्थान की प्राप्ति गमन से ही होती है उसी तरह ज्ञान से मोक्ष पथ का ज्ञान हो जाने पर भी उसकी प्राप्ति चारित्र से ही होती है।

२६. जबतक चारित्र गुण का निर्मल परिणमन न होगा तब तक रागद्वेष की कलुषता नहीं छूट सकती।

२७. वही ज्ञान प्रशंसनीय है जो चारित्र से युक्त है। चारित्र ही साक्षान्मोक्षमार्ग है।

२८. उपयोग की निर्मलता ही चारित्र है।

स्वाध्याय

१. स्वाध्याय संसार सागर से पार करने को नौका के समान है, कषाय अटवी को दग्ध करने के लिये दावानल है, स्वानुभव समुद्र की वृद्धि के लिये पूर्णिमा का चन्द्र है, भव्य कमल विकशित करने के लिये भानु है, और पाप उलूक को छिपाने के लिये प्रचण्ड मार्तण्ड है।

२. स्वाध्याय ही परम तप है, कषाय निग्रह का मूल कारण है, ध्यान का मुख्य अङ्ग है, शुक्ल ध्यान का हेतु है, भेदज्ञान के लिये रामवाण है, विषयों में अरुचि कराने के लिये मलेरिया सदृश है, आत्मगुणोंका संग्रह करने के लिये राजा तुल्य है।

३. सत्समागम से भी स्वाध्याय विशेष हितकर है। सत्समागम आस्रव का कारण है जब कि स्वाध्याय स्वात्माभिमुख होने का प्रथम उपाय है। सत्समागम में प्रकृति विरुद्ध भी मनुष्य मिल जाते हैं परन्तु स्वाध्याय में इसकी भी सम्भावना नहीं, अतः स्वाध्याय की समानता रखनेवाला अन्य कोई नहीं।

४. स्वाध्याय की अवहेलना करने से ही हम दैन्यवृत्ति के पात्र और तिरस्कार के भाजन हुए हैं।

५. कल्याण के मार्ग में स्वाध्याय प्रधान सहकारी कारण है।

६. स्वाध्याय से उत्कृष्ट और कोई तप नहीं।

७. स्वाध्याय आत्म शान्ति के लिये है, केवल ज्ञानार्जन के लिये नहीं। ज्ञानार्जन के लिये तो विद्याध्ययन है। स्वाध्याय तप है। इससे संवर और निर्जरा होती है।

८. स्वाध्याय का फल निर्जरा है, क्योंकि यह अन्तरङ्ग तप है। जिनका उपयोग स्वाध्याय में लगता है वे नियम से सम्यग्दृष्टि हैं।

९. आगमाभ्यास ही मोक्षमार्ग में प्रधान कारण है। वह होकर भी यदि अन्तरात्मा से विपरीताभिप्राय न गया तब वह आगमाभ्यास अन्धे के लिये दीपक की तरह व्यर्थ है।

१०. शास्त्राध्ययन में उपयुक्त आत्मा कर्म वन्धन से शीघ्र मुक्त होता है।

११. सम्यग्ज्ञान का उदय उसी आत्मा के होता है जिसका आत्मा मिथ्यात्व कलङ्क कालिमा से निर्मुक्त हो जाता है। वह कालिमा उसी की दूर होती है जो अपने को तत्त्व भावनामय बनाने के लिये सदा स्वाध्याय करता है।

१२. शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा डाक्टर और वैद्य कर सकते हैं लेकिन सांसारिक व्याधियों की रामबाण चिकित्सा केवल श्री वीतराग भगवान की विशुद्ध वाणी ही कर सकती है।

१३. स्वाध्याय का मर्म जानकर आकुलता नहीं होनी चाहिए। आकुलता मोक्षमार्ग में साधक नहीं, साधक तो निराकुलता है।

१४. स्वाध्याय परम तप है।

१५. मनुष्य को हितकारिणी शिक्षा आगम से मिल सकती है या उसके ज्ञाता किसी स्वाध्यायप्रेमी के सम्पर्क से मिल सकती है।

१६. तात्त्विक विचार की यही महिमा है कि यथार्थ मार्ग पर चले।

१७. एक वस्तु का दूसरी वस्तु से तादात्म्य नहीं। पदार्थ की कथा छोड़ो, एक गुण का अन्य गुण से और एक पर्याय का अन्य पर्याय से कोई सम्बन्ध नहीं। इतना जानते हुए भी पर के विभावों द्वारा की गई स्तुति निन्दा पर हर्ष विषाद करना सिद्धान्त पर अविश्वास करने के तुल्य है।

१८. जो सिद्धान्तवेत्ता हैं वे अपथ पर नहीं जाते। सिद्धान्तवेत्ता वही कहलाते हैं जिन्हें स्वपर ज्ञान है। तथा वे ही सच्चे वीर और आत्मसेवी हैं।

१९. शास्त्रज्ञान और बात है और भेदज्ञान और बात है। त्याग भेदज्ञान से भी भिन्न वस्तु है। उसके बिना पारमार्थिक लाभ होना कठिन है।

२०. कल्याण के इच्छुक हो तो एक घंटा नियम से स्वाध्याय में लगाओ।

२१. काल के अनुसार भले ही सब कारण विरुद्ध मिलें फिर भी स्वाध्यायप्रेमी तत्त्वज्ञानी के परिणामों में सदा शान्ति रहती है। क्योंकि आत्मा स्वभाव से शान्त है, वह केवल कर्म कलङ्क द्वारा अशान्त हो जाता है। जिस तत्त्वज्ञानी जीव के अनन्त संसार का कारण कर्म शान्त हो गया है वह संसार के वास्तविक स्वरूप को जानकर न तो किसी का कर्ता बनता है और न भोक्ता ही होता है, निरन्तर ज्ञानचेतना का जो फल है

उसका पात्र रहता है। उपयोग उसका कहीं रहे परन्तु वासना इतनी निर्मल है कि अपना संसार का उच्छेद उसके हो ही जाता है। निरन्तर अपने को निर्मल रखिये, स्वाध्याय कीजिए, यही संसारबन्धन से मुक्ति का कारण है।

२२. यदि वर्तमान में आप वीतराग की अविनाभाविनी शान्ति चाहें तब असम्भव है, क्योंकि इस काल में परम वीतरागता की प्राप्ति होना दुर्लभ है। अतः जहाँ तक बने स्वाध्याय व तत्त्वचर्चा कीजिए।

२३. उपयोग की स्थिरता में स्वाध्याय मुख्य हेतु है। इसीसे इसका अन्तरङ्ग तप में समावेश किया गया है। तथा यह संवर और निर्जरा का भी कारण है। श्रेणी में अल्प से अल्प आठ प्रवचन मात्रिका का ज्ञान अवश्य होता है। अवधि और मनःपर्यय से भी श्रुतज्ञान महोपकारी है। यथार्थ पदार्थ का ज्ञान इसके ही बल से होता है। अतः सब उपायों से इसकी वृद्धि करना यही मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है।

२४. जिस तरह व्यापार का प्रयोजन आर्थिक लाभ है उसी तरह स्वाध्याय का प्रयोजन शान्तिलाभ है।

२५. अन्तरङ्ग के परिणामों पर दृष्टिपात करने से आत्मा की विभाव परिणति का पता चलता है। आत्मा परपदार्थों की लिप्सा से निरन्तर दुखी हो रहा है, आना जाना कुछ भी नहीं। केवल कल्पनाओं के जाल में फंसा हुआ अपनी सुध में बेसुध हो रहा है। जाल भी अपना ही दोष है। एक आगम ही शरण है। यही आगम पंचपरमेष्ठी का स्मरण कराके विभाव से आत्मा की रक्षा करनेवाला है।

स्वाध्याय तप के अवसर में, जो प्रतिदिन का कार्य है, यह ध्यान नहीं रहता कि यह कार्य उच्चतम है।

७. स्वाध्याय करते समय जितनी भी निर्मलता हो सके करनी चाहिये।

२८. स्वाध्याय से बढ़कर अन्य तप नहीं। यह तप उन्हीं के हो सकता है जिनके कषायों का क्षयोपशम हो गया है। क्योंकि बन्धन का कारण कषाय है। कषायका क्षयोपशम हुए बिना स्वाध्याय नहीं हो सकता, केवल ज्ञानार्जन हो सकता है।

२९. स्वाध्याय का फल रागादिकों का उपशम है। यदि तीव्रोदय से उपशम न भी हो तब मन्दता तो अवश्य हो जाती है। मन्दता भी न हो तब विवेक अवश्य हो जाता है। यदि विवेक भी न हो तब तो स्वाध्याय करनेवाले न जाने और कौन सा लाभ ले सकेंगे ? जो मनुष्य अपनी राग प्रवृत्ति को निरन्तर अवनत कर तात्त्विक सुधार करने का प्रयत्न करता है वही इस व्यवहार धर्म से लाभ उठा सकता है। जो केवल ऊपरी दृष्टि से शुभोपयोग में ही संतोष कर लेते हैं वे उस पारमार्थिक लाभ से वञ्चित रहते हैं।

सानन्द स्वाध्याय कीजिये. परन्तु उसके फलस्वरूप रागादि मूर्च्छा की न्यूनता पर निरन्तर दृष्टि रखिये।

३१. आगम ज्ञान का इतना हो मुख्य फल है कि हमें वस्तुस्वरूप का परिचय हो जावे।

३२. शास्त्र ज्ञान का यही अभिप्राय है कि अपने को पर से भिन्न समझा जावे। जब मनुष्य नाना प्रयत्नों में उलझ जाता है तब वह लक्ष्य से दूर हो जाता है। वैसे तो उपाय अनेक हैं पर जिससे रागद्वेष की शृंखला टूट जावे और आत्मा केवल

ज्ञाता द्रष्टा बना रहे, वह उपाय स्वाध्याय ही है। निरन्तर मूर्च्छा के बाह्य कारणों से अपने को रक्षित रखते हुए अपनी मनोभावना को पवित्र बनाने के लिए शास्त्र स्वाध्याय जैसे प्रमुख साधन को अवलम्बन बनाओ।

३३. शास्त्र स्वाध्याय से ज्ञान का विकास होता है और जिनके अभिप्राय विशुद्ध हैं उनके यथार्थ तत्त्वों का बोध होता है।

३४. इस काल में स्वाध्याय से ही कल्याण मार्ग की प्राप्ति सुलभ है।

३५. स्वाध्याय को तपमें ग्रहण किया है अतः स्वाध्याय केवल ज्ञान का ही उत्पादक नहीं किन्तु चारित्र का भी अङ्ग है।

सफलता के साधन

सफलता के साधन

कार्यों की विविधता के समान सफलता भी अनेक तरह की है। परन्तु उन सभी सफलताओं का उद्देश्य "जीवन सुखी रहे" यही है, और उसके साधन ये हैं—

१. सदा सत्य बोलो, किसी के प्रभाव, बहकाव या दबाव में आकर झूठ मत बोलो।

२. निर्भीकता से रहो।

३. किसी से आर्थिक या किसी भी तरह के लाभ की आशा मत करो।

४. किसी से यश की आशा मत करो।

५. किसी से अन्न, वस्त्र, या किसी भी पदार्थ की याचना मत करो।

६. जिस कार्य के लिये हृदय सहमत हो, यदि वह शुभ कार्य है तो अवश्य करो।

७. स्वीय रागादिक मेटने की चेष्टा करो।

८. परकी प्रशंसा या निन्दा से स्वरूप परान्मुखता न हो जावे इस ओर निरन्तर सतर्क रहो।

९. मन और इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखो।

१०. मन के अनुकूल होनेपर भी प्रकृति के प्रतिकूल कोई भी कार्य मत करो।

११. कहने की प्रकृति छोड़ो, करने का अभ्यास करो।

१२. किसी कार्य को देखकर भय मत करो। उपाय से महान् से महान् भी कार्य सहज में हो जाते हैं।

१३. जो कुछ करना चाहते हो धीरता और सतत प्रयत्नशीलता से करो।

१४. जिस कार्य से आत्मा में आकुलता न हो उस कार्य को ही कर्तव्यपथ में लाने का प्रयत्न करो।

१५. किसीको मत सताओ और दूसरों को अपने समान समझो।

सदाचार

१. संसार के सभी सद्व्यवहारों की आधारशिला सदाचार है। सदाचार स्वर्गीय सौख्य सदन की सुदृढ़ नीव है।

२. संसार की समस्त सुन्दरता, श्रेष्ठता और सत्सामाजिकता यदि प्राप्त हो सकती है तो वह एकमात्र सदाचार से ही।

३. यदि सदाचार है तो दुःखपूर्ण संसार भी स्वर्ग है और यदि असदाचार है तो सुखपूर्ण स्वर्ग भी नरक है।

४. सदाचार और असदाचार जीवन के दो मार्ग हैं। पहला मार्ग कुछ कठिन है परन्तु इस कठिनता के साथ सुख ही सुख है। दूसरा मार्ग बिलकुल सरल है परन्तु इस सरलता के साथ दुःख ही दुःख है।

५. सदाचार मानव जीवन के नन्दन कानन का वह कल्पतरु है जिसमें श्रद्धा ज्ञान और चारित्र की तीन शाखाएँ निकलतीं हैं और उन शाखाओं में से दया, नम्रता, शुभाकांक्षा, कर्त्तव्यशीलता, दृढ़प्रतिज्ञा, इन्द्रियविजय, परोपकार-परायणता, अध्यवसाय, सुस्वभाव, उदारता और प्रामाणिकता की उपशाखाएं निकलती हैं जिनमें विवेक के पल्लव, सद्भावना के सुमन और स्वपर कल्याण के फल लगते हैं।

६. जिनके पास सदाचार की सुनिधि है वे सच्चे अर्थ में पुण्यात्मा, महात्मा, एवं सम्मानित साहूकार हैं, जो इसके विपरीत हैं वे आज के अर्थ में साहूकार होने पर भी कर्जदार हैं, दिवालिया हैं।

७. अधिक सम्पत्ति सदाचार की शिक्षिका नहीं, दुराचार की दूती है।

८. सदा सत्कार्य करते रहना सदाचार के मार्ग पर चलना है।

९. सद्भावनाओं और सद्वासनाओं के बलपर जो नामवरी मिल सकती है वह बड़ी भारी सम्पत्ति और थोथी पराक्रमशीलता के बलपर नहीं मिल सकती।

१०. मानव जीवन राज्य है, मन उसका राजा है, इन्द्रियां उसकी सेना है, कषाय शत्रु हैं। यदि मन विवेकशील है तो इन्द्रियां सदा सचेत रहकर कषाय शत्रुओं को पराजित करती रहेंगी।

११. धार्मिकता, नीतिमत्ता, बुद्धिमत्ता और आत्मदृढ़ता यह सदाचार की चार कसौटियां हैं।

१२. सदाचारी मनुष्य के लिये दृढ़ निश्चय, उत्साह, साहस और कर्तव्य जहाँ वरदान हैं वहाँ दुराचारी मनुष्य के लिये वह अभिशाप है।

१३. सदाचारी मनुष्य राष्ट्र की वह आत्मा है जो अजर अमर रहता है और दुराचारी मनुष्य राष्ट्र का वह शरीर है जिसे सदा सुरक्षित रखने पर भी राजरोग लगे ही रहते हैं।

१४. सदाचार का प्रारम्भ राष्ट्र की उन्नति का प्रारम्भ है, दुराचार का प्रारम्भ राष्ट्र की अवनति का प्रारम्भ है।

१५. अनुभवी वक्ताओं के भाषण, तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का मूल सिद्धान्त एकमात्र सदाचारपूर्वक रहना सिखाता है।

१६. सदाचार के बिना सुख पानेका यत्न करना आकाश के पुष्पावचयन के सदृश है।

१७. जिस तरह मकान पक्का बनाने के लिये नींव का पक्का होना आवश्यक है, उसी तरह उज्वल भविष्य निर्माण के लिये (आदर्श जीवन के लिये) बालजीवन के सुसंस्कार सदाचारादि का सुदृढ़ होना आवश्यक है।

१८. सभ्यता और असभ्यता विद्या से नहीं जानी जाती। चाहे संस्कृत भाषा का विद्वान् हो, चाहे हिन्दी, अँग्रेजी या और किसी भाषा का विद्वान् हो, जो सदाचारी है वह सभ्य है, जो असदाचारी है वह असभ्य है। प्रत्युत बिना पढ़े लिखे भी जो सदाचारी हैं वे सभ्य हैं और बुद्धिमान भी यदि सदाचारी नहीं तो असभ्य हैं।

१९. सदाचार ही जीवन है। इसकी निरन्तर रक्षा करने का प्रयत्न करो।

तीन बल

१. सांसारिक आत्मा में तीन बल होते हैं—१ कायिक २ वाचनिक और ३ मानसिक। जिनके वे बलिष्ठ होते हैं वे ही जीवन का वास्तविक लाभ ले सकते हैं।

कायबल—

२. जिनका कायबल श्रेष्ठ है वे ही मोक्ष पथ के पथिक बन सकते हैं। इस प्रकार जब मोक्षमार्ग में भी कायबल की श्रेष्ठता आवश्यक है तब सांसारिक कार्य इसके बिना कैसे हो सकते हैं।

३. प्राचीन महापुरुषों ने जो कठिन से कठिन आपत्तियां और उपसर्ग सहन किये वे कायबल की श्रेष्ठता पर ही किये, अतः शरीर को पुष्ट रखना आवश्यक है, किन्तु इसी के पोषण में सब समय न लगाया जावे। दूसरे की रक्षा स्वात्मरक्षा की ओर दृष्टि रखकर ही की जाती है, अपने आपको भूलकर नहीं।

वचनबल—

४. जिनमें वचन बल था उन्हीं के द्वारा आज तक मोक्ष मार्ग की पद्धति का प्रकाश हो रहा है, और उन्हीं की अकाट्य

युक्तियों और तर्कों द्वारा बड़े बड़े वादियों का गर्व दूर हुआ है।

५. वचन बल की ही ताकत है कि एक वक्ता व गायक अपने भाषण या गायन से श्रोताओं को मुग्ध करके अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। जिनके वचनबल नहीं वह मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति करने में अक्षम होता है।

मनोबल—

६. मनोबल में वह शक्ति है जो अनन्त जन्मार्जित कलङ्कों की कालिमा को एक क्षण में पृथक् कर देती है।

७. जिससे आत्महित की सम्भावना है उसे कष्ट मत दो। आत्महित का मूल कारण सद्विचार है और उसका उत्पादक मन है, अतः उसे प्रत्येक कार्य करने से रोको। यदि वह दुर्बल हो जायगा तो आत्महित करने में अक्षम हो जाओगे।

८. सब दोषों में प्रबल दोष मन की दुर्बलता है। जिनका मन दुर्बल है वे अति भीरु हैं और भीरु मनुष्य के लिए संसार में कोई स्थान नहीं।

९. मनोबल की विशुद्धता का ही परिणाम है कि जिसके द्वारा यह प्राणी शुभ भावनाओं द्वारा अनुपम तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्धकर संसार का उद्धार करने में समर्थ होता है।

१०. अन्तरङ्ग तप में सर्वप्रथम मनोबल की बड़ी आवश्यकता है। मनोबल उसी का प्रशंसनीय है जो प्रपञ्च और बाह्य पदार्थों के संसर्ग से अपनी आत्मा को दूर रखता है।

११. जिनके तीनों बल श्रेष्ठ हैं वे इस लोक में सुखी हैं और परलोक में भी सुखी रहेंगे।

१२. संसार में जितने व्यापार हैं वे सब मनोबल पर अवलम्बित हैं। मनोबल ही बल है। इसके बिना असैनी जीवों में सम्यग्दर्शन की योग्यता नहीं।

हमारा कर्त्तव्य—

वर्तमान में हम लोग कषाय से दग्ध हो रहे हैं जिससे तीनों बल की रक्षा का एक भी उपाय हमारे पास नहीं है। काय की ओर दृष्टिपात करने से यह अनायास समझ में आ जाता है कि हमने कायबल की तो रक्षा की ही नहीं शेष दो बलों की भी रक्षा नहीं की।

शारीरिक बल का कारण माता पिता का शरीर है। हमारी जाति के रिवाज ने बालविवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह और कन्या विक्रय को जन्म दिया जिससे समाज का ही नहीं वरन धर्म का भी ह्रास हुआ। यदि वे कुरीतियाँ न होतीं तो बलिष्ठ सन्तति की वह परम्परा चलती जा दूसरों के लिए आदर्श होती और जिससे वचनबल और मनोबल की श्रेष्ठता की भी रक्षा होती।

जिस समाज में इन तीनों बलों की रक्षा नहीं की जाती वह समाज जीवित रहते हुए भी मृतप्राय है। हमें आशा है कि सबका ध्यान इस ओर जायगा और वे अपनी सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए निम्न विचारों को कार्य रूप में परिणत करेंगे—

२. बाल विवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह और कन्याविक्रय या वरविक्रय जैसी घातक दुष्ट प्रथाओं का बहिष्कार करना।

२. माता पिता का आदर्श सदाचारी गृहस्थ होना।

३. अपने बालकों को सदाचारी बनाना।

४. सन्तति को सुशिक्षित बनाना।

५. बालकों में ऐसी भावना भरना जिससे वे बचपन से ही देश, जाति और धर्म की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझें।

कर्त्तव्य

१. मन में जितने विकल्प पैदा होते हैं उनमें से यदि सहस्रांश भी कार्य रूप में परिणत कर लिए जायँ तो समझो कर्त्तव्यशीलता के सम्मुख हो गये।

२. जो कर्त्तव्यपरायण होते हैं वे व्यर्थ विकल्प नहीं करते।

३. यदि कर्त्तव्य की गाड़ी लाइन पर आ गई तो समझो अभीष्ट नगर पास है।

४. स्वयं सानन्द रहो, दूसरों को कष्ट मत पहुंचाओ, जीवन को सार्थक बनाओ यही मानव जीवन का कर्त्तव्य है।

५. यह जीव आज तक निमित्त कारणों की प्रधानता से ही आत्म-तत्त्व के स्वाद से वञ्चित रहा। अतः स्व की ओर ही दृष्टि रखकर श्रेयोमार्ग की ओर जाने की चेष्टा करना मुख्य कर्त्तव्य है।

६. महर्षियों या आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण कर और अपनी मनोवृत्ति को स्थिर कर स्वार्थ या आत्मा की सिद्धि करना मनुष्यों का कर्तव्य होना चाहिये।

———

उद्योग

१. जिस कार्य को मनुष्य करना चाहे वह हो सकता है परन्तु उसके कारणों के जोड़ने में अहर्निश प्रयत्न करना पड़ेगा।

२. प्रयास करना तब तक न छोड़ो जब तक अभीष्ट सिद्ध न हो जाय।

३. केवल कल्पना द्वारा उत्कर्षशील बनने की आशा छोड़ो, पुरुषार्थ करो तो जीवन में नवमङ्गल प्रभात अवश्य होगा।

४. नियमपूर्वक उद्योग से अल्पज्ञ भी ज्ञानी हो जाता है और अनियमित उद्योग से बहुज्ञानी भी अल्पज्ञ हो जाता है।

५. केवल मनोरथ करना कायरों का कर्त्तव्य है। कार्य सिद्धि के लिये मन, वचन और काय से प्रयत्नशील होना शूरवरों का कर्त्तव्य है।

६. जो संकल्प करो उसे पूर्ण करने की चेष्टा करो। चेष्टा नाम प्रयत्न या उद्योग का है। प्रयत्न के बिना मनुष्य परसा हुआ भोजन भी नहीं कर सकता, तब अन्य कार्यों की सिद्धि तो दुष्कर है ही।

———

धैर्य्य

१. कोई भी कार्य करो धीरता से करो, व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं। यदि धैर्य्य गुण अपने पास है तब सभी गुणों का भण्डार अपने हाथ है।

२. प्रत्येक व्यक्ति को अपने उज्ज्वल भविष्य के निर्माण के लिये धीरता, गम्भीरता तथा कार्यानुकूल प्रयत्नशीलता की महती आवश्यकता है। हम श्रेयस् प्राप्ति के लिए निरन्तर आकुल होते रहते हैं--'क्या करें? कहाँ जावें? किसकी सङ्गति करें?' आदि तर्क जाल में अमूल्य मानव जीवन को व्यर्थ व्यतीत कर देते हैं अतः प्रत्येक मनुष्य को इस तर्क और संकल्प जाल को छोड़ रागद्वेष शत्रु की सेना का सामना करने के लिये धीर वीर बनना चाहिये।

३. धीरता गुण उन्हीं के होता है जो बलशाली और संसार से भयभीत हैं।

४. धीरता सुख की जननी है।

५. अधीरता ही कार्य की प्रतिरोधिका है। जो अधीर नहीं होते किन्तु निश्चल हैं, वे ही मोक्षमार्ग के जिज्ञासु और पथिक हैं।

६. यदि कोई आपको निर्दोष होने पर भी दोषी बना देवे

तब आपको धार्मिक कार्यों से विमुख नहीं होना चाहिये तथा विद्रोहियों के आरोप से उनके प्रति क्षुब्ध नहीं होना चाहिये। प्रत्युत आपत्तियों के आने पर धीरता के साथ पहले की अपेक्षा अधिक प्रयास उस कार्य को सफल बनाने का करना चाहिए इसी में भलाई है।

७. उतावली न करो धैर्य्य तुम्हारा कार्यसाधक है।

८. केवल वर्तमान परिणाम से उद्वेजित होकर अधीरता से काम मत करो, सम्भव है अधीरता से उत्तर काल में गिर जाओ।

९. विपत्ति के समय धीरता ही उपयोगिनी है। यद्यपि उस समय धैर्य्य धारण करना कठिन प्रतीत होता है परन्तु जो साहस से काम करते हैं उन्हें सभी विपत्तियाँ सरल हो जाती हैं।

१०. चित्त में धीरता गुण है तो कल्याण अवश्य होगा।

११. अधीर होकर ही मनुष्य अधिक दुःख के पात्र बनते हैं और उस अधीरता के द्वारा अपनी शक्ति को क्षीण करते करते जब एक दिन एकदम निर्बल हो जाते हैं तब कोई कार्य करने के योग्य नहीं रहते, निरन्तर संक्लेश परिणामों की प्रचुरता से दुःख ही दुःख का स्वप्न देखते रहते हैं।

१२. धीरता ही सब कार्यों का साधक है। अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त की गई धीरता ही ध्यान में सहकारी होती है। इसके बिना चित्त व्यग्र रहता है और जिसका चित्त व्यग्र है वह एक ज्ञेय में चित्त को स्थिर करने में असमर्थ है।

आत्म-समालोचना

१. अपने आप की समालोचना संसार बन्धन से मुक्ति का प्रधान कारण है।

२. आत्मगत दोषों को पृथक् करने की चेष्टा ही श्रेयस्करी है। अन्य की समालोचना केवल पर्यवसान में दुःसंस्कार का ही हेतु है।

३. हम लोगों ने पर पदार्थ की समालोचना में अपना हित समझ रक्खा है। परपदार्थ की अपेक्षा जो निज की समालोचना करते हैं वे ही परमपद के भागी होते हैं।

४. दूसरे की आलोचना करना सरल है किन्तु अपनी त्रुटि देखना विवेकी मनुष्य का कर्त्तव्य है।

५. पर की समालोचना से आत्महित होना दुर्लभ है।

६ जो अपनी समालोचना से नहीं घबड़ाते, अन्त में वे ही विजयी होते हैं।

७. दूसरे के द्वारा की गई समालोचना को धैर्यपूर्वक सुनने की आदत डालो और उससे लाभ उठाओ।

चित्त की एकाग्रता

१. चित्त वृत्ति को शान्त और एकाग्र करना ही परमपद पाने का उपाय है।

२. चित्तवृत्ति की स्थिरता परमतत्त्व जानने में सहायक है। परमतत्त्व का जानना और परमतत्त्व रूप होना दोनों भिन्न हैं, जानना कार्य क्षपोपशम से होता है और स्थिरता मोह की कृशता से होती है।

३. चित्त की चञ्चलता मोक्षमार्ग में बाधक और स्थिरता मोक्षमार्ग में साधक है।

४. चित्त की चञ्चलता से कार्यसिद्धि न कभी हुई, न हो सकती है।

५. चित्तवृत्ति को सब झंझटों से दूर कर उसे आत्मोन्मुख करने से ही कल्याण होगा।

६. चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ विषयान्तर से चित्त हटा कर एक विषय में लगाना है और उसमें कषाय की कलुषता न होने देना है। क्योंकि कलुषता ही बन्ध की जननी है।

७. स्थिर भाव ही कार्य में सहायक होता है अतः जो कार्य करना इष्ट हो उसे दृढ़ अध्यवसाय से करने की चेष्टा करो।

८. जो कुछ करना चाहते हो उसे निश्चल चित्त से करो। सन्देह की तुला पर आरूढ़ होने की अपेक्षा नीचे रहना ही अच्छा है।

यदि चित्त को स्थिर रखने की अभिलाषा है तब—(१) पर पदार्थों के साथ सम्पर्क न करो। (२) किसी से व्यर्थ पत्र-व्यवहार न करो। (३) और न किसी से व्यर्थ बात करो। (४) मन्दिर जी में एकाकी जाओ। (५) किसी दानी की मर्यादा से अधिक प्रशंसा कर चारण बनने की चेष्टा मत करो, दान जो करेगा अपने हित की दृष्टि से करेगा, हम उसका गुण-गान करें सो क्यों? गुणगान से यह तात्पर्य है कि आप उसे प्रसन्न कर अपनी प्रशंसा चाहते हो। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी की स्तुति मत करो उदासीन बनो।

मानव धर्म

मानवधर्म

१. मानवता वह विशेष गुण है जिसके बिना मानव मानव नहीं कहला सकता। मानवता उस व्यवहार का नाम है जिससे दूसरों को दुख न पहुँचे, उनका अहित न हो, एक दूसरे को देख कर क्रोध की भावना जागृत न हो। संक्षेप में सहृदयता-पूर्ण शिष्ट और मिष्ट व्यवहार का नाम मानवता है।

२. मनुष्य वही है जो आत्मोद्धार में प्रयत्नशील हो।

३. मनुष्यता वही आदरणीय होती है जिसमें शान्तिमार्ग की अवहेलना न हो।

४. मनुष्य का सबसे बड़ा गुण सदाचारता और विश्वास-पात्रता है।

५. मनुष्य वही है जो अपनी प्रवृत्ति को निर्मल करता है।

६. प्रत्येक वस्तु सदुपयोग से ही लाभदायक होती है। यदि मनुष्य पर्याय का सदुपयोग किया जावे तो देवों को भी वह सुख नहीं जो मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

७. आत्मगौरव इसी में है कि विषयों की तृष्णा से बचा जाये, मानवताका मूल्य पहिचाना जाए।

८. वह मनुष्य मनुष्य नहीं जो नीरोग होने पर भी आत्म कल्याण से विमुख रहे।

९. चञ्चलता मानवता का दूषण है।

१०. मनुष्यजन्म प्राप्त करना सहज नहीं। यदि इसकी सार्थकता चाहते हो तो अपने दैनिक कार्यों में पूजा और स्वाध्याय को महत्त्व अवश्य दो, परस्पर तत्त्व चर्चा करो, कलह छोड़ो और सहनशील बनो।

११. मानव पर्याय की सार्थकता इसी में है कि आत्मा निष्कपट रहे।

१२. संसार में वे ही मनुष्य जन्म को सफल बनाने की योग्यता के पात्र हैं। जो असारता में से सार वस्तु के पृथक् करने में प्रयत्नशील हैं।

१३. जिसने इस अमूल्य मानवजीवन से स्वपर शान्ति का लाभ न लिया उसका जन्म अर्कतूल के सदृश किस काम का ?

१४. मनुष्य वही है जो अपनी आत्मा को संसार-दुःख से मुक्त करने की चेष्टा करे। संसार के दुःखहरण की इच्छा यदि अपने लक्ष्यको दृष्टि में रख कर नहीं हुई, तब वह मानव महापुरुषों की गणना में नहीं आता।

१५. मनुष्य वही है जो अपने वचनों का पालन करे।

१६. सबसे ममत्व त्याग कर अपना भविष्य निर्मल करो।

१७. संसार स्नेहमय है। इस स्नेह पर जिसने विजय पा ली वही मनुष्य है।

१८. मनुष्य जन्म ही में आत्मज्ञान होता है, सो नहीं, चारों ही गति आत्मज्ञान में कारण हैं परन्तु संयमका पात्र यही मनुष्य जन्म है, अतः इसका लाभ तभी है जब इन परपदार्थों से ममता छोड़ी जावे।

१६. मनुष्य को यह उचित है कि वह अपना लक्ष्य स्थिर कर उसी के अनुकूल प्रवृत्ति करे। मेरी सम्मति से लक्ष्य वह होना चाहिये जिससे पर को पीड़ा न पहुँचे।

२०. मानव जाति सबसे उत्तम है, अतः उसका दुरुपयोग कर उसे संसार का कण्टक मत बनाओ। इतर जाति को कष्ट देकर मानव जाति को दानव कहलाने का अवसर मत दो।

२१. मनुष्यायु महान् पुण्य का फल है। संयम का साधन इसी पर्याय में होता है। संयम निवृत्ति रूप है, और निवृत्ति का मुख्य साधन यही मानव शरीर है।

२२. संसार की अनन्तानन्त जीव राशि में मनुष्यसंख्या बहुत थोड़ी है। किन्तु यह अल्प होकर भी सभी जीवराशियों में प्रधान है। क्योंकि मनुष्य पर्याय से ही जीव निज शक्ति का विकाश कर संसार परम्परा को, अनादि कालीन कार्मिक दुःख सन्तति को समूल नष्ट कर अनन्त सुखों का आधार परम-पद प्राप्त करता है।

२३. मनुष्य वही है जो पर की झंझटों से अपने को सुरक्षित रखता है।

२४. मनुष्य वही है जो दृढ़ाध्यवसायी हो।

२५. मनुष्य वही है जिसमें मनुष्यता का व्यवहार है। मनुष्यता वही है जिसके होने पर स्वपरभेद विज्ञान हो जावे। स्वपर भेद विज्ञान वही है जिसके सद्भाव में आत्मा सुमार्ग-गामी रहता है। सुमार्ग वही है जिससे आत्मपरणति निर्मल रहती है और आत्मनिर्मलता वही जिससे मानव मानवता का पुजारी कहलाता है।

२६. संयम का उदय इसी मानव पर्याय में होता है अतः संसार नाश भी इसी पर्याय में होता है। क्योंकि संयमगुण आत्मा को संसार के कारणभूत विषयों से निवृत्त करता है।
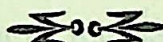
धर्म

१. धर्म का मूल आशय जाने बिना धार्मिक भाव तथा धर्मात्मा में अनुराग नहीं हो सकता।

२. आत्मा की उस निश्चल परिणति का नाम धर्म है, जहाँ मोह और क्षोभ को स्थान नहीं।

३. धर्म की उत्पत्ति निष्कषाय भावों में है।

४. धर्म का लक्षण मोह और क्षोभ का अभाव है। जहाँ मोह और क्षोभ है वहाँ धर्म नहीं है।

५. यद्यपि मन्द कषाय के कामों में धर्म का व्यवहार होता है। पर वास्तव में स्वरूप लीनता का नाम ही धर्म है।

६. स्थानों में धर्म नहीं, पण्डितों के पास धर्म नहीं, त्यागियों के पास धर्म नहीं, धर्म तो निर्ग्रन्थ गुरुओं ने आत्मा में ही बताया है। वह अपने ही पास है। उसे ढूड़ने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं।

७. धर्मात्मा जीव वही है जो कष्ट काल में भी धर्म न छोड़े।

८. जिनको धर्मपर श्रद्धा है उनके सभी उपद्रव दूर हो जाते हैं।

९. जहाँ धार्मिक जीवों का निवास होता है वही भूमि तीर्थ हो जाती है।

१०. धर्म का व्यवहार रूप और है भीतरी रूप और है। शरीर की शुद्धता और है आत्मा की शुचिता इससे परे है। उसी के लिये यह धर्म है।

११. पुस्तकादि में धर्म नहीं। धर्म के स्वरूप के जानने में ज्ञानी जीव को पुस्तक निमित्त है।

१२. धर्म का लाभ प्रतिज्ञा पालने से नहीं होता, वह तो निमित्त है। धर्म लाभ तो आत्मपरिणामों को निर्मल रखने से ही होता है।

१३. जीवों की रक्षा करना ही धर्म है। जहाँ जीवघात में धर्म माना जावे वहाँ जितनी भी बाह्य क्रिया है, सब विफल है। धर्म वह पदार्थ है जिसके द्वारा यह प्राणी संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है। जहाँ प्राणी का घात धर्म बताया जावे उनके दया का अभाव है; जहाँ दया का अभाव है वहाँ धर्म का अंश नहीं, जहाँ धर्म नहीं वहाँ संसार से मुक्ति नहीं।

१४. शास्त्र की कथा छोड़ो, अनुभव से ही देख लो, एक सुई अपने अंग में छेदो, फिर देखो आपकी क्या दशा होती है। भोले संसार की वञ्चना करने के लिये अनर्थ वाक्यों की रचना कर अपनी आजीविका सिद्ध करने के लिए लोगों ने अनर्थकारी पाप-पोषक शास्त्रों की रचना कर दूसरों को ठगा और अपने को भी ठगा।

१५. धर्म के नाम पर जगत ठगाया जाता है। प्रत्यक्ष ठग से धर्म ठग अधिक भयङ्कर होता है।

१६. धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है न कि शरीर से। शरीर तो सहकारी कारण है। जहाँ आत्मा की परिणति मोहादि पापों से मुक्त हो जाती है वहीं धर्म का उदय होता है।

१७. धर्म वस्तु कोई बाह्य पदार्थ नहीं, आत्मा की निर्मल परिणति का नाम ही धर्म है। तब जितने जीव हैं सभी में उसकी योग्यता है परन्तु इस योग्यता का विकाश संज्ञी जीव के ही होता है। जो असंज्ञी हैं अर्थात् जिनके मन नहीं है उनके तो उसके विकास का कारण ही नहीं। संज्ञी जीवों में एक मनुष्य ही ऐसा है जिसके उसका पूर्ण विकास होता है। यही कारण है कि सब पर्यायों में मनुष्य पर्याय ही उत्तम मानी गई है। इस पर्याय से हम संयम धारण कर सकते हैं अन्य पर्याय में संयम की योग्यता नहीं। पञ्चेन्द्रियों के विषयों से चित्तवृत्ति को हटा लेना तथा जीवों की रक्षा करना ही संयम है। यदि इस ओर हमारा लक्ष्य हो जावे तो आज ही हमारा कल्याण हो जावे।

१८. बाह्य उपकरणों की प्रचुरता धर्म का उतना साधन नहीं जितनी निर्मल परिणति धर्म का अंग है। भूखे मनुष्य को आभूषण देना उतना तृप्तिजनक नहीं जितना दो रोटी देना तृप्तिजनक होगा।

१९. धर्म का मूल कारण निर्मलता है और निर्मलता का कारण रागादिक की न्यूनता है। रागादिक की न्यूनता पंचेन्द्रिय विषयों के त्याग से होती है। केवल गल्पवाद में धर्म नहीं होता।

२०. धर्म वही कर सकता है जो निर्लोभ हो।

२१. धर्म से उत्तम वस्तु संसार में नहीं। धर्म में ही वह शक्ति है कि संसारबन्धन से छुड़ाकर जीवों को सुख स्थान में पहुँचा दे।

२२. धर्म तो वास्तव में निर्ग्रन्थके ही होता है और निर्ग्रन्थ वही कहलाता है जो अन्तरङ्ग से भावपूर्वक हो। वैसे तो बहुत

से जीव परिग्रहविहीन हैं किन्तु आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागे बिना इस बाह्य परिग्रह को छोड़ने की कोई प्रतिष्ठा नहीं। अतः आभ्यन्तर की ओर लक्ष्य रखना ही श्रेयस्कर है। बाह्य परिग्रह तो अपने आप छूट जाता है।

२३. धर्म रत्नत्रय रूप है उसमें वञ्चना के लिए स्थान नहीं।

२४. धर्म का यथार्थ आचरण पाले बिना कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकता।

२५. आज धर्म का लोप क्यों हो रहा है ? यद्यपि विभिन्न धर्म के अनुयायी राजा हैं पर उनका वास्तविक हितकारी धर्म नष्ट हो चुका है केवल ऊपरी ठाठ है। वे विषय में मग्न हैं और जहाँ विषयों की प्रचुरता है वहाँ धर्म को अवकाश नहीं मिल सकता। जहाँ विषय की प्रचुरता है वहाँ न्याय अन्याय का यथार्थ स्वरूप नहीं।

२६. धार्मिक बातों पर विचार करो तो यही कहना पड़ता है कि जिस ग्राम में मन्दिर और मूर्त्तियों की प्रचुरता है यदि वहां पर नया मन्दिर न बनवाया जावे, गजरथ न चलाया जावे, तब कोई हानि नहीं। वही द्रव्य दरिद्र लोगों के स्थितीकरण में लगाया जावे। उस द्रव्य के और भी उपयोग हैं जैसे :—

१—बालकों को शिक्षित बनाया जावे।

२—धर्म का यथार्थ स्वरूप समझा कर लोगों की धर्म में प्रवृत्ति कराई जावे।

३—प्राचीन शास्त्रों की रक्षा की जावे।

४—प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया जावे। नई-नई प्रतिमायें खरीदने की अपेक्षा जगह-जगह पड़ी हुई प्राचीन मनोहर मूर्तियों को मन्दिरों में विराजमान कराया जाय।

५—सर्व विकल्प छोड़कर स्वयं उस द्रव्य का यथा योग्य विभाग कर अपने योग्य द्रव्य को रख कर सहधर्मी भाइयों को आश्रय देकर धर्मसाधन में लगाया जावे।

सुख

१. निर्मोही जीव ही सुख के भाजन होते हैं। मोही जीव सदा दुखी रहते हैं, उन्हें सुख का मार्ग समशरण में भी नहीं मिल सकता।

२. मूर्छा में जितनी घटी होगी उतना ही आनन्द मिलेगा।

३. बहुत से लोग कहा करते हैं कि संसार तो दुःख रूप ही है, इसमें सुख नहीं। परन्तु यदि तत्त्व दृष्टि से इस विषय पर विचार विमर्श किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि यदि संसार में दुःख ही है तब क्या यह नित्य वस्तु है ? नहीं, क्योंकि दुःख पर्याय का विध्वंस देखा जाता है और प्रयास भी प्राणियों का प्रायः निरंतर दुःख दूर कर सुखी होने का रहता है। अतः सिद्ध है कि यह वस्तु (दुःख) अस्थायी है। अतः "संसार में दुःख है" इसका यही आशय है कि आत्मा के आनन्द नामक गुण में मोहज भाव द्वारा विकृति आ गई है। वही आत्मा को दुःखात्मक वेदना कराती है। जैसे कामला रोगी को सफेद शंख भी पीला प्रतीत होता है, वास्तव में पीला नहीं, उसी तरह मोहज विकार में आत्मा दुःखमय प्रतीत होता है, परमार्थ से दुखी नहीं अपितु सुखी ही है।

४. संयम से रहना ही सुख और शांति का सत्य उपाय है।

५. व्यक्ति जितना अल्प परिग्रही होगा उतना ही अधिक सुखी होगा।

६. सुख स्वकीय परणति के उदय में है, बाह्य वस्तुओं के ग्रहणादि व्यापार में नहीं।

७. स्वकथा को छोड़ कथान्तर (परकथा) का त्याग करना आत्मीय सुख का सहज साधन है।

८. पूज्यता का कारण वास्तविक गुण परणति है। जिसमें वह है वही श्लाघ्य और सुख का पात्र है।

९. पराधीनता का त्याग ही स्वाधीन ख का मूल मन्त्र है।

१०. सांसारिक पदार्थों से सुख की आशा छोड़ दो, अपने आप सुखी हो जाओगे।

११. सभी के लिये हितकारी प्रवृत्ति करो, कषायों के उदय आने पर देखने जानने का उद्यम करो, उपेक्षा दृष्टि को निरन्तर महत्त्व दो, प्रत्येक व्यक्ति को खुश करने की चेष्टा न करो, इसी में आत्मगौरव और सुख है।

१२. अशान्ति के कारण उपस्थित होने पर अशान्त मत बनो, अन्य लोगों की प्रवृत्तियाँ देखने की अपेक्षा अपनी प्रवृत्ति देखो, बातें बनाकर दूसरों को तथा अपने आप को मत ठगो, एक दिन अपने आप सुखी हो जाओगे।

१३. आनन्द का समय तभी आवेगा जब कुटुम्बी जन तथा शत्रु और मित्रों में समता आ जायगी।

१४. किसी की चिन्ता मत करो, सदा विशुद्धता से रहो, आपत्ति आवे उसे भी भोगो, सुख की सामग्री आवे तब उसे भी भोग लो यही सुख का सस्ता नुसखा है।

१५. मूर्ख समागम से पृथक् रहना ही आत्मकल्याण का मूल मन्त्र है। पर में परत्व और निज में निजत्व ही सुखका मूल कारण है।

१६. जीवन को सुखमय बनाने के लिये अपने सिद्धान्त को स्थिर करो। परन्तु वह सिद्धान्त इतना उत्तम हो कि आजन्म क्या आमुक्ति भी उसमें परिवर्तन न करना पड़े।

१७. सुख का मूल कारण अन्तः चित्तवृत्ति की स्वच्छता है।

१८. स्व समय को स्वसमय में लगाना मनुष्य जन्म का कर्तव्य और सुख का कारण है।

१९. तटस्थ रहने में ही सुख है

२०. हमी अपनी शान्ति के बाधक हैं। जितने भी पदार्थ संसार में हैं उनमेंसे एक भी पदार्थ शान्तस्वभाव का बाधक नहीं। बर्तन में रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बे में रक्खा हुआ पान पुरुषों में विकृति का कारण नहीं। पदार्थ हमें बलात् विकारी नहीं करता, हम स्वयं मिथ्या विकल्पों से उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दुखी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दुःख देता है, इसलिये जहाँ तक बने आभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धि पर सदैव ध्यान रखना चाहिए।

२१. सुख दुःख की व्यवस्था तो अपने में बनानी चाहिये बाह्य पदार्थों में नहीं। उद्यान की मन्द सुगन्धित हवा और फूलों की सुगन्धि, भव्य भवन के पलंग और कुर्सियाँ, वन्दीजन की बन्दना, षट्रस व्यञ्जन, मधुरालाप संलापिनी नवोढ़ा स्त्री; सुन्दर वस्त्राभूषण और आज्ञाकारी स्वजन आदि सुख साधक बाह्य सामग्री के रहने पर भी एक सम्पन्न धनिक अन्तरङ्ग में व्यापरादि की शल्य होने से सुखसे वञ्चित रहता है जब कि इस

सब सुख की सामग्री से हीन दीन कुली चैन की वंशी बजाता है। अतः सुखों की प्राप्ति परपदार्थों द्वारा मानना महती भूल है।

२२. जितना हमारा प्रयास है केवल दुःख को दूर करने का है हम अनेक उपायों से उसे दूर करने की चेष्टा करते हैं। निद्रा भङ्ग होनेपर जब जागृत अवस्था में आते हैं तब एक दम श्री भगवान् का स्मरण करते हैं। उसका यही आशय है—"हे प्रभो! संसार दुख का अंत हो, सच्ची शांति और सुख प्राप्त हो।"

२३. पर पदार्थ के निमित्त से जो भी बात हो उसे पर जानो और जब तक उसे विकार न समझोगे आनन्द न पाओगे।

२४. सुखी होने का सर्वोत्तम उपाय तो यह है कि पर पदार्थों में स्वत्व को त्याग दो।

२५. आभ्यन्तर बोध के बिना सुख होना असम्भव है। लौकिक प्रभुतावाले कदापि सुखी नहीं हो सकते।

२६. सन्तोष ही परम सुख और वही सच्चा धन है। सन्तोषामृत से जो तृप्ति आती है वह बाह्य साधन से नहीं आती।

२७. गृहस्थ के सच्चे सुख का साधन यह है कि अपने उपयोग को—

१—देवपूजा २ गुरु उपासना ३ स्वाध्याय ४ संयम ५ तप और ६ दान आदि शुभ कार्यों में लगावे।

२—आय से व्यय कम करे।

३—सत्यता पूर्वक व्यापार करे भले ही आय कम हो।

४—अभक्ष्य भक्षण न करे।

५—आवश्यकताएँ कम करे। आवश्यकताएँ जितनी कम होंगी उतना ही अधिक सुख होगा।

२८. इस संसार में वही जीव सुख का अधिकारी है जो लौकिक निमित्तों के मिलने पर हर्ष और विषाद से अपने को बचा सकता है।

२९. अन्तरङ्ग में जो धीरता है वही सुख की जननी है।

३०. "संसार में सुख नहीं" यह सामान्य वाक्य प्रत्येककी जिह्वा पर रहता है। ठीक है, परन्तु संसार पर्याय के अभाव करने के बाद तो सुख नियम से होता है। इससे यही प्रतीत होता है कि वह सुख कहीं नहीं गया केवल विभाव परिणति हटाने की दृढ़ आवश्यकता है।

३१. संसार में वही जीव सुख का पात्र है जो अपने हित की अवहेलना नहीं करता।

३२. पर पदार्थों की अधिक संगति से किसीने सुख नहीं पाया। वे इसको त्यागने से ही सुख के पात्र बने हैं।

३३. जिसके अन्तरङ्ग में शान्ति है उसे बाह्य वेदना कभी कष्ट नहीं दे सकती।

३४. वही जीव संसार में सुखी हो सकता है जिसके पवित्र हृदय में कषाय की वासना न रहे, जिसका व्यवहार आभ्यन्तर की निर्मलता को लिये हुए हो।

३५. हम कहते हैं कि संसार स्वार्थी है। तब क्या इसका यह अर्थ है कि हम स्वार्थी नहीं। अतः इन अप्रयोजनभूत विकल्पों को छोड़ कर केवल माध्यस्थ भाव की वृद्धि करो। यही सुख का कारण है।

३६. "ज्ञानावरणादि पुद्‌गलकी पर्याय हैं। उनका परिणमन पुद्‌गल में हो रहा है। उसके न तो हम कर्ता हैं, न ग्रहीता हैं,

और न त्यागनेवाले ही हैं" ऐसी वस्तुस्थिति जानकर भी जो देह धन सम्पत्ति आदि में ममत्व नहीं त्यागते वे उन्मार्गगामी जीव बाह्य त्याग कर के कभी सुखी नहीं हो सकते।

३७. धर्म का मूल सिद्धान्त है कि वही आत्मा सुख पूर्वक शान्ति लाभ करने का पात्र होगा जो इन पदार्थों के प्रपञ्च से पृथक् होकर आत्मा की ओर ध्यान रखेगा।

३८. सुख न संसार में है, न मोक्ष में, न कर्मों के बन्धन में, न कर्मों के अभाव में, सुख तो अपने पास है। परन्तु उस निराकुल सुख का आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होते हुए भी मोह वश हम उसे अन्यत्र खोजने में लगे हैं।

३९. चित्त में जो लोभ है उसे त्याग दो; जो कुछ मिले उसी में सुख है।

४०. यदि धन संतोष का कारण होता तो सबसे अधिक सन्तोष धनी लोगों को होता, त्यागी वर्ग तो अत्यन्त दुखी हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि त्यागी सुखी और धनी दुखी देखे जाते हैं। इसका मूल कारण यह है कि इच्छा के अभाव में सुख होता है।

४१. जहाँ तक हमारा पुरुषार्थ है श्रद्धान को निर्मल बनाना चाहिये। तथा विशेष विकल्पों का त्याग कर सन्मार्ग में रत होना चाहिये। यही सुख का कारण है।

शान्ति

१. शान्ति का मूल कारण अशान्ति ही है। जब तक अशान्ति का परिचय हमको नहीं तभी तक हम इस दुःखमय संसार में भ्रमण कर रहे हैं। यदि आपको अशान्ति का अनुभव होने लगा तब समझिये कि आपका संसार तट निकट ही है।

२. आभ्यन्तर शान्ति के लिये कषाय कृश करने की आवश्यकता है, उसी ओर हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

३. शान्ति का स्थायी स्थान निर्मोही आत्मा है।

४. संसार में वही आत्मा शान्तिका लाभ ले सकता है जिसने पर के द्वारा सुख दुःख होने की कल्पना को त्याग दिया है।

५. अन्तरङ्ग शान्ति के आस्वाद में मूर्च्छा की न्यूनता ही प्रधान कारण है। और यह प्रायः उन्हीं जीवों के होती है जिनके स्वपर भेदज्ञान हो गया और जो निरन्तर पर्याय तथा पर्याय सम्बन्धी वस्तुजात में उदासीन रहते हैं।

६. मिसरी का मधुर स्वाद केवल देखने से नहीं आ सकता, आत्मगत शान्ति का स्वाद वचन द्वारा नहीं आ सकता।

७. शान्ति का मार्ग आकुलता के अभाव में है, वह निज में है, निजी है, निजाधीन है, परन्तु हम ऐसे पराधीन हो गये हैं कि उसको लौकिक पदार्थों में देखते हैं, उसकी उपासना में आयु

पूर्ण कर रहे हैं। शान्ति प्राप्त करने के लिये स्वात्मसम्बन्धी कलुषित भावों को दूर करो, यही अमोघ उपाय है।

८. शान्ति का आस्वाद उन्हीं की आत्मा में आता है जो पर पदार्थ से विरक्त हैं।

९. शान्ति का मूल मन्त्र मूर्च्छा की निवृत्ति है। जितनी निवृत्ति होगी अनायास उतनी ही शान्ति मिलेगी। शान्ति के बाधक कारण हमारे ही कलुषित भाव हैं, संसार के पदार्थ उसके बाधक नहीं। तथा उनके त्याग देने से भी यदि अन्तरङ्ग मूर्च्छा की हीनता न हो तब शान्ति का लाभ नहीं हो सकता। अतः शान्ति के लिये निरन्तर अपनी कलुषता का अभाव करने में ही सचेष्ट रहना श्रेयस्कर है।

१०. शान्ति का मूल कारण समता है।

११. वास्तव में शान्ति वह है जो प्रतिपक्षी कर्म के अभाव में होती है। और वही नित्य है।

१२. प्रतिपक्षी कषाय के अभाव में जो शान्ति होती है वह प्रत्येक समय हर एक अवस्था में विद्यमान रहती है। यही कारण है कि असंयमी के ध्यानावस्था में भी शान्ति नहीं होती जो कि संयमी के भोजनादि के समय भी रहती है।

१३. जितना बाह्य परिग्रह घटता है, आत्मा में उतनी ही शान्ति आती है।

१४. शान्ति का उपाय अन्यत्र नहीं। अन्यत्र खोजना ही अशान्ति का उत्पादक और शान्ति के नाश का कारण है।

१५. "आत्मा को शान्ति का उपाय मिले" इसके लिये हमें यत्न करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि आत्मा शान्तिमय

है, अतः हमारी जो श्रद्धा है कि हमारा जीवन दुःखमय है, कण्टकाकीर्ण है उसी को परिवर्तित करने की आवश्यकता है।

१६. पर के उपदेश से आत्मशान्ति नहीं मिलती। परोपकार भी आत्मशान्ति का उपाय नहीं। उसका मूल उपाय तो कायरता का त्याग करना, उत्साह पूर्वक मार्ग में लगना और संलग्नता पूर्वक यत्न करना है।

१७. अविरत अवस्था में वीतराग भावों की शान्ति को अनुभव करने का प्रयास शशशृंग के तुल्य है।

१८. शान्ति कोई मूर्तिमान् पदार्थ नहीं, वह तो एक निराकुल अवस्था रूप परिणाम है। यदि हमारी इस अवस्था में शरीर से भिन्न आत्मप्रतीति हो गई तो कोई थोड़ी वस्तु नहीं। जब कि अग्नि की छोटी सी भी चिनगारी सघन जंगल को जला सकती है तो आश्चर्य ही क्या यदि शान्ति का एक अंश भी भयानक भव वन को एक क्षण में भस्मसात् कर दे।

१६. संसार में जो इच्छा को हटा देगा वही शान्ति का अधिकारी होगा।

२०. जब तक अन्तरङ्ग परिग्रह न हटेगा तब तक बाह्य वस्तुओं के समागम में हमारी सुख दुःख की कल्पना बनी रहेगी। जिस दिन वह हटेगा, कल्पना नष्ट हो जायगी और बिना प्रयास के शान्ति का उदय हो जायगा।

२१. पद के अनुसार शान्ति आती है। गृहस्थावस्था में वीतराग अवस्था की शान्ति की श्रद्धा तो हो सकती है परन्तु उसका स्वाद नहीं आ सकता। भोजन बनाने से उसका स्वाद आजावे यह संम्भव नहीं, रसास्वाद तो चखने से ही आवेगा॥

२२. शुभाशुभ उदय में समभाव रखना शान्ति का साधन है॥

२३. सद्भावना में ही शान्ति और सुख निहित है।

२४. पुस्तकादि को पढ़ने से क्या होता है, होने की प्रकृति तो आभ्यन्तर में है। शान्ति का मार्ग मूर्छा के अभाव में है सद्भाव में नहीं।

२५. जहाँ शान्ति है वहाँ मूर्छा नहीं और जहाँ मूर्छा है वहाँ शान्ति नहीं।

२६. शान्ति आत्माकी परणतिविशेष है। उसके बाधक कारण जो हमने मान रखे हैं वे नहीं हैं किन्तु हम स्वयं ही अपनी विरुद्ध मान्यता द्वारा बाधक कारण बन रहे हैं। उस विरुद्ध भाव को मिटा दें तो स्वयमेव शान्ति का उदय हो जावेगा।

२७. समाज का कार्य करने में शान्ति का लाभ होना कठिन है। शान्ति तो एकान्तवास में है। आवश्यकता इस बात की है कि उपयोग अन्यत्र न जावे।

२८. जो स्वयं अशान्त है वह अन्य को क्या शान्ति पहुँचायेगा।

२६. संसार में यदि शान्ति की अभिलाषा है तब इससे तटस्थ रहना चाहिये। गृहस्थावस्था में परिग्रह बिना शान्ति नहीं मिलती और आगम में परिग्रह को अशान्ति का कारण कहा है, यह विरोध कैसे मिटे? तब आगम ही इसको कहता है कि न्याय पूर्वक परिग्रह का अर्जन दुःखदायी नहीं तथा उसमें आसक्ति का न होना ही शान्ति का कारण है। जहाँ तक बने द्रव्य का सदुपयोग करो, विषयों में रत न होओ।

३०. धार्मिक चर्चा में समय व्यतीत करना शान्ति का परम साधक है।

३१. अशान्ति का उदय जहाँ होता है और जिससे होता है उन दोनों की ओर दृष्टि दीजिए और अपने आत्मस्वरूप को पहिचानिये, सहज ही झंझट दूर करने की कुञ्जी मिल जायगी।

३२. जिस दिन तात्त्विक ज्ञान का उदय होगा; शान्ति का राज्य मिल जायगा। केवल पर पदार्थों के छोड़नेसे शान्ति का मिलना अति कठिन है।

३३. भोजन की कथा से क्षुधानिवृत्ति का उपाय ज्ञात होगा क्षुधा निवृत्ति नहीं। उसी प्रकार शान्ति के बाधक कारणों को हेय समझने से शान्ति का मार्ग दिखेगा, शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो तभी मिलेगी जब उन बाधक कारणों को हटाया जायगा।

३४. आत्मा स्वभाव से अशान्त नहीं, कर्म कलङ्क के समागम से अशान्त हो रहा है। कर्म कलङ्क के अभाव में स्वयं शान्त हो जाता है।

३५. आत्मा एक ऐसा पदार्थ है जो पर के सम्बन्ध से 'संसारी' और पर के सम्बन्ध के बिना 'मुक्त' ऐसे दो प्रकार के भाव को प्राप्त हो जाता है। पर का सम्बन्ध करनेवाले और न करनेवाले हम ही हैं। अनादि कालसे विभाव शक्ति के विचित्र परिणमन से हम नाना पर्यायों में भ्रमण करते हुए स्वयं नाना प्रकार के दुःखों के पात्र हो रहे हैं। जिस समय हम ज्ञायकभाव में होनेवाले विकृत भाव की हेयता को जान कर उसे पृथक् करने का भाव करेंगे उसी क्षण शान्ति के पथ पर पहुँच जावेंगे।

३६. पदार्थ को जानने का यही तो फल है कि आत्मा को शान्ति मिले। परन्तु वह शान्ति ज्ञान से नहीं मिलती, न इस शान्ति रूप व्रतादिकों से ही उसका आविर्भाव होता है, और न

संकल्प कल्पतरु से कुछ आने जाने का है। सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिये रागादिक भावों को हटाना पड़ेगा क्योंकि शांति का वैभव रागादिक भावों के अभाव में ही निहित है।

३७. केवल वचनों की चतुरता से शान्तिलाभ चाहना मिश्री की कथा से मीठा स्वाद लेने जैसा प्रयास है।

३८. अनेक महानुभावों ने बड़े बड़े तीर्थाटन किये, पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा कराई, मन्दिर निर्माण किये, षोडशकारण, दशलक्षण और अष्टाह्निका व्रत किये, बड़ी बड़ी आयोजना करके उन व्रतों के उद्यापन किये, परन्तु उन्हें शान्ति की गन्ध भी न मिली। अनेक महाशयों ने महान् महान् आर्ष ग्रन्थोंका अध्ययन किया, प्रतिवादी मत्त मतङ्गजों का मान मर्दन किया, अपने पाण्डित्य के प्रताप से महापण्डितों की श्रेणी में नाम लिखाया, तो भी उनकी आत्मा में शान्तिसमुद्र की शीतलता ने स्पर्श नहीं किया। उसी प्रकार अनेक गृहस्थ गृहवासत्यागकर दिगम्बरी दीक्षा के पात्र हुए तथा अध्ययन अध्यापन आचरणादि समस्त क्रिया कर तपस्वियोंमें श्रेष्ठ कहलाये जिनकी कायसौम्यता और वचन-पटुता से अनेक महानुभाव संसार से मुक्त हो गये परन्तु उनके ऊपर शान्तिप्रिया मुक्तिलक्ष्मीका कटाक्षपात भी न हुआ। इससे सिद्ध है कि शान्ति का मार्ग न वचन में है न काय में है और न मनोव्यापार में है। वास्तव में वह अपूर्व रस केवल आत्म-द्रव्य की सत्य भावना के उत्कर्ष ही से मिलता है।

३९. सर्व सङ्गति को छोड़कर एक स्वात्मोन्नति करो, वही शान्ति की जड़ है।

४०. ध्यान करते समय जितनी शान्ति रहेगी, उतने ही जल्दी संसार का नाश होगा।

४१. संसार में शान्ति के अर्थ अनेक उपाय करो, परन्तु जब तक अज्ञानता है, शान्ति नहीं मिल सकती।

४२. संसार में जितने कार्य देखे जाते हैं, सब कषाय भाव के हैं। इसके अभाव का जो कार्य है वही हमारा निज रूप है, शान्ति कारक है।

४३. शान्ति से ही आनन्द मिलेगा। अशांति का कारण मूर्च्छा है और मूर्च्छा का कारण बाह्य परिग्रह है। जब तक इन बाह्य कारणों से न बचें गे, शान्ति का मार्ग कठिन है।

४४. शान्ति के कारण सर्वत्र हैं, परन्तु मोही जीव कहीं भी रहे उनके लाभ से वञ्चित रहता है।

४५. शान्ति का लाभ अशान्ति के आभ्यन्तर बीज को नाश करने से होता है।

४६. संसार में कहीं शान्ति न हो सो बात नहीं। शान्ति का मार्ग अन्यथा मानने से ही संसार में अशान्ति फैलती है। यथार्थ प्रत्यय के बिना साधु भी अशान्त रहता है।

४७. ममता के त्याग बिना समता नहीं, और समता के बिना तामस भाव का अभाव नहीं। जब तक आत्मामें कलुषता का कारण यह भाव है तब तक शान्ति मिलना असम्भव है।
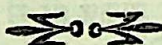
भक्ति

१. पञ्च परमेष्ठी का स्मरण इस लिये नहीं हैं कि हम एक माला फेर कर कृतकृत्य हो जायें। किन्तु उसका यह प्रयोजन है कि हम यह जान लें कि आत्मा के ही ये पाँच प्रकार के परिणमन हैं। उसमें सिद्धपर्याय तो अन्तिम अवस्था है। यह वह अवस्था है जिसका फिर अन्त नहीं होता। शेष चार पर्यायें औदारिक शरीर के सम्बन्ध से मनुष्यपर्याय में होती हैं। उनमें से अरहंत भगवान तो परम गुरु हैं जिनकी दिव्यध्वनि से संसार आताप के शान्त होने का उपदेश जीवों को मिलता है और तीन पद साधक हैं, ये सब आत्मा की ही पर्याय हैं। उनके स्मरण से हमारी आत्मा में यह ज्ञान होता है—"यह योग्यता हमारी आत्मा में है, हमें भी यही उद्यम कर चरम अवस्था का पात्र होना चाहिए। लौकिक राज्य जब पुरुषार्थ से मिलता है तब मुक्तिसाम्राज्य का लाभ अनायास हो जाये यह कैसे हो सकता है।" लोक में कहावत है—"बिन मांगे मोती मिले मांगे मिले न भीख" अतः अरहन्तादि परमेष्ठी से भिक्षा माँगने से हम संसार बंधन से नहीं छूट सकते। जिन उपायों को श्री गुरु ने दर्शाया है उनके साधन से अवश्यमेव वह पद अनायास प्राप्त हो जावेगा।

२. देवदर्शन और शास्त्र स्वाध्याय का फल मैं तो आत्मीय

परणतिका ज्ञान होना ही मानता हूँ। यदि आत्मीय परणति की प्रतीति न हुई तब यह सब विडम्बना मात्र है।

३. सामायिक करने का यही तात्पर्य है कि मेरे नियम के अनुसार यावत् सामायिक का काल है तावत् मैं साम्यभाव से रहूँगा। और इसका भी यही अर्थ है कि सामायिक के समय में कषायों की पीड़ा से बचूँ।

४. देव पूजा स्वाध्यायादि जो क्रिया है उसका भी यही तात्पर्य है कि अपनी परिणति को अशुभोपयोग की कलुषता से रक्षित रखा जाय।

५. वन्दना (तीर्थयात्रा) का अर्थ अन्तरङ्ग निर्मलता है। जहाँ परिणामों में संक्लेशता हो जावे वहाँ यात्रा का तात्त्विक लाभ नहीं।

६. शुभोपयोग को ज्ञानी कब चाहता है ? यदि उसे शुभोपयोग इष्ट होता तो उसमें उपादेय बुद्धि होती ? वह तो निरन्तर यह चाहता है कि हे प्रभो ! कब ऐसा दिन आवे जब आपके सदृश दिव्यज्ञान को पाकर स्वच्छन्द मोक्षमार्ग में विचरूँ।

७. भगवान् के दर्शन कर यही भाव होता है कि हे प्रभो! आप वीतराग सर्वज्ञ हैं, जानते सब हैं परन्तु वीतराग होने से चाहे आपका भक्त हो चाहे अभक्त हो, आपके न राग होता है न द्वेष। जो जीव आपके गुणों में अनुरागी हैं उनके स्वयमेव शुभ परिणामों का सञ्चार हो जाता है और वे परिणाम ही पुण्यबन्ध में कारण होते हैं।

८. प्रभो! मैं दीनता से कुछ वरदान की याचना नहीं करता। "रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा" आप राग द्वेष से रहित हैं अतः

उपेक्षक हैं। जिनके रागद्वेष नहीं उनको किसी की भलाई करने की बुद्धि ही नहीं हो सकती अतः उनकी भक्ति से कोई लाभ नहीं ऐसा जो श्रद्धान है वह ठीक नहीं, क्योंकि जो छाया में वृक्ष के नीचे बैठ जाता है उसको इसकी आवश्यकता नहीं कि वृक्ष से छाया की याचना करे। वृक्ष के नीचे बैठने से छाया का लाभ अपने आप हो जाता है। इसी प्रकार जो रुचिपूर्वक श्री अरहन्तदेव के गुणों का स्मरण करता है उसके मन्द कषाय होने से शुभोपयोग स्वयमेव हो जाता है और उसके प्रभाव से शान्ति का लाभ भी स्वयं हो जाता है, ऐसा स्वयं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बन रहा है। परन्तु व्यवहार ऐसा होता है कि वृक्ष की छाया है। परन्तु छाया वृक्ष की नहीं होती किन्तु सूर्य की किरणों का वृक्ष के द्वारा रोध होने से वृक्षतल में स्वयमेव छाया हो जाती है। एवं श्रीमद्देवाधिदेव के गुणों का रुचिपूर्वक स्मरण करने से स्वयमेव जीवों के शुभ परिणामों की उत्पत्ति होती है। फिर भी व्यवहार से ऐसा कथन होता है कि भगवान् ने हमारे शुभ परिणाम कर दिये।

६. हे भगवन् ! जो आपके गुणों का अनुरागी है वह पुण्य-बन्ध नहीं चाहता, क्योंकि पुण्यबन्ध भी संसार का कारण है और ज्ञानी जीव संसार के कारणरूप भावों को उपादेय नहीं मानता। केवल अज्ञानी जीव ही भक्ति को सर्वस्व मान उसमें तल्लीन हो जाते हैं क्योंकि उसके आगे उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। जब ज्ञानी जीव श्रेणी चढ़ने में समर्थ नहीं होता तब जो मोक्षमार्ग के पात्र नहीं उनमें तीव्र रागज्वर का अपगम करने के लिये श्री अरहन्तादि की भक्ति करता है। श्री अरहन्त के गुणों में अनुराग होना यही तो भक्ति है। वीतरागता, सर्वज्ञता और मोक्षमार्ग का नेतापन यही अरहन्त के गुण हैं। इनमें अनुराग

होने से कौनसा विषय पुष्ट हुआ? यदि इन गुणों में प्रेम हुआ तब उन्हीं की प्राप्ति के अर्थ ही तो प्रयास है।

१०. आत्मा शांति ही का अभिलाषी है, और वह शान्ति निज में है। केवल मोह ने उसे तिरोहित कर रखा है। मूर्ति के दर्शनमात्र से उस शान्ति का स्मरण हो जाता है तब हम विचारते हैं कि हे प्रभो! हम भी तो इस वीतरागताजन्य शान्ति के पात्र हैं और वह वीतरागता हमारी ही परणति-विशेष है। अब तक हमारी अज्ञानता ही उसके विकास में वाधक रही है। आज आपकी छवि के अवलोकन मात्र से हमको निज शान्ति का स्मरण हुआ है।

११. मोक्षमार्ग के परम उपदेष्टा श्री परम गुरु अरिहंतदेव हैं। उनके द्वारा इसका प्रकाश हुआ है अतः हमें उचित है कि अपने मार्गदर्शक का निरन्तर स्मरण करें। परन्तु उन्हीं प्रभुका उपदेश है कि यदि मार्ग द्रष्टा होने की भावना है तव हमारी स्मृति भी भूल जाओ। और जिस मार्ग को अङ्गीकार किया है उसी का अवलम्बन करो, अर्थात् पदार्थ मात्र में रागादि परणति को त्यागो क्योंकि यह परणति उस पद की प्राप्ति में वाधक है।

१२. धन्य है प्रभो तेरी महिमा! आपकी भक्ति जब प्राणियों को संसारबन्धन से मुक्त कर देती है, फिर यदि ये क्षुद्र वाधाएँ मिट जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या? परन्तु भगवन्! हम मोही जीव संसार की बाधाओं को सहने में असमर्थ हैं। क्षुद्र क्षुद्र कार्यों की पूर्ति में ही अचिन्त्य भक्ति के प्रभाव को खो देते हैं। आपका तो यहाँ तक उपदेश है कि यदि मोक्ष की कामना है तब मेरी भक्ति की भी उपेक्षा कर दो क्योंकि वह भी संसारबन्धन का कारण है। जो कार्य निष्काम किया जाता

है वही बन्धन से मुक्त करनेवाला होता है। जो भी कार्य करो उसमें कर्तृत्वबुद्धि को त्यागो।

१३. प्रातः उठकर भगवद्भक्ति करो। चित्त में शान्ति आना ही भगवद् भक्ति का फल है। यदि शान्ति का उदय न हुआ तब केवल पाठ से कोई लाभ नहीं।

१४. अनुराग पूर्वक परमात्मा का स्मरण भी बन्ध का कारण है अतः हेय है। मूल तत्त्व तो आत्मा ही है। जबतक अनात्मीय औदयिकादि भावों का आदर करोगे तब तक संसार ही के पात्र बने रहोगे।

१५. "पारस (पार्श्व पत्थर) के स्पर्श से लोहा सुवर्ण (सोना) हो जाता है।" इस लोकोक्ति पर विश्वास रखनेवाले जो लोग पार्श्व प्रभु के चरण स्पर्श से केवल सुवर्ण (सु+वर्ण=सत्कुलीन सदाचारी) होना चाहते हैं वे सन्मार्ग से दूर हैं। पार्श्वप्रभु के तो स्मरणमात्र में वह शक्ति है कि उनके चरण स्पर्श बिना ही लोग स्वयं पार्श्व बन जाते हैं।

स्वाधीनता

१. आप को यह अनुभव से मानना पड़ेगा कि मोक्षमार्ग स्वतन्त्रता में है। हम जो भी कार्य करते हैं उसमें स्वतन्त्र हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का दिव्य उपदेश है कि "कर्मण्ये-वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" सो इसका यही अर्थ है कि तभी बन्धन से छूटोगे जब निष्पृह होकर कार्य करोगे। दूसरा यह भी तत्त्व इससे निकलता है कि बन्ध की जनक इच्छा ही है। और वही संसार की जननी है।

२. स्वाधीनता ही एक ऐसा अमोघ मन्त्र है जिससे हम सदा सुखी रह सकते हैं क्योंकि यह पराधीनता तो ऐसा प्रबल रोग है जो संसार से मुक्त नहीं होने देता। अतः चाहे भले ही वन में रहो यदि इसके वश में हो तब तो कुछ सार नहीं। यदि इसपर विजय प्राप्त कर ली तब कहीं भी रहो पौबारा है।

३. जब तक अपनी स्वाधीनता की उपासना में तल्लीन न होओगे, कदापि कर्मजाल से मुक्त न हो सकोगे।

४. मार्ग में स्वतन्त्रता ही मुख्य है पराधीनता तो मोक्ष में बाधक है।

५. इस पराधीनता को पृथक् कर स्वाधीन बनो आप ही शान्ति के पात्र हो जाओगे।

६. आज कल के समय में स्वाधीनता पूर्वक थोड़ा भी धर्मसाधन करना पराधीनता पूर्वक किये गये अधिक धर्म साधन से लाखगुणा अच्छा है।

७. हमने अंग्रेजों को इस लिए भगाया क्योंकि हम पराधीन थे पर यदि इतने मात्र से हम संतुष्ट हो गये तो यह हमारी बड़ी भूल होगी। हमारी स्वाधीनता तो हमारे पास है। उसे पहिचानो और उसकी प्राप्ति के उपाय में लग जाओ।

८. स्वाधीन कुटिया से पराधीनता का स्वर्ग भी अच्छा नहीं।
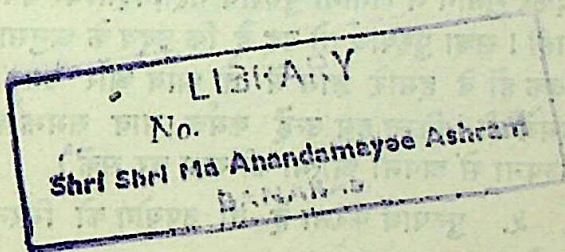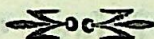
पुरुषार्थ

१. पुरुषार्थ से मुक्ति लाभ होता है।

२. बाह्य क्रियायों का आचरण करते हुए आभ्यन्तर की ओर दृष्टि रखना ही प्रथम पुरुषार्थ है।

३. पुरुषार्थी वही है जिसने राग द्वेष को नष्ट करने के लिये विवेक प्राप्त कर लिया है।

४. घर छोड़कर तीर्थ स्थान में रहने में पुरुषार्थ नहीं, पण्डित महानुभावों की तरह ज्ञानार्जन कर जनता को उपदेश देकर सुमार्ग में लगाना पुरुषार्थ नहीं, दिगम्बर वेष भी पुरुषार्थ नहीं। सच्चा पुरुषार्थ तो वह है कि उदय के अनुसार जो रागादिक हों वे हमारे ज्ञान में तो आवें और उनकी प्रवृति भी हममें हो, किन्तु हम उन्हें कर्मज भाव समझ कर इष्टानिष्ट कल्पना से अपनी आत्मा की रक्षा कर सकें।

५. पुरुषार्थ करना है तो उपयोग को निरन्तर निर्मल करने का पुरुषार्थ करो।

६. यदि पुरुषार्थ का उपयोग करना है तो क्रमशः कर्म अटवी को दग्ध करने में उसका उपयोग करो।

७. राग द्वेष को बुद्धिपूर्वक जीतने का प्रयत्न करो, केवल

कथा और शास्त्रस्वाध्याय से ही ये दूर नहीं हो सकते। आवश्यक यह है कि पर वस्तु में इष्टानिष्ट कल्पना न होने दो। यही रागद्वेष दूर करने का सच्चा पुरुषार्थ है।

८. कषायों के उदय वश प्राणी नाना कार्य करते हैं किन्तु पुरुषार्थ ऐसी तीक्ष्ण खड्गधार है जो उदयजन्य रागादिकों की सन्तति को ही निर्मूल कर देती है।

९. स्वयं अर्जित रागद्वेष की उत्पत्ति को हम नहीं रोक सकते परन्तु उदय में आये रागादिकों द्वारा हर्ष विषाद न करें यह हमारे पुरुषार्थ का कार्य है।

१०. संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होने की मुख्यता इसीमें है कि वह पुरुषार्थ द्वारा आत्मकल्याण करे।

११. अभिप्राय में मलिनता न होना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

१२. लौकिक पुरुषार्थ पुरुषार्थ नहीं। वह तो कर्म बन्धका कारण है। सच्चा पुरुषार्थ तो वह है जिससे राग द्वेष की निवृत्ति हो जाती है।

सच्ची प्रभावना

१. वास्तव में धर्म की प्रभावना तो आचरण से ही होती है। यदि हमारी प्रवृत्ति परोपकार रूप है तब अनायास लोग उसकी प्रशंसा करेंगे, और यदि हमारी प्रवृत्ति और आचार मलिन है तब उनकी श्रद्धा इस धर्म में नहीं हो सकती।

२. निरन्तर रत्नत्रय तेज के द्वारा आत्मा प्रभावना सहित करने योग्य है। तथा दान, तप, जिनपूजा, विद्याभ्यास आदि चमत्कारों से धर्म की प्रभावना करनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि संसारी जीव अनादि काल से अज्ञानान्धकार से आच्छन्न हैं, उन्हें आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं, शरीर को ही आत्मा मान रहे हैं, निरन्तर उसी के पोषण में उपयोग लगा रहे हैं, तथा उसके जो अनुकूल हुआ उसमें राग, और जो प्रतिकूल हुआ उसमें द्वेष करने लग जाते हैं। श्रद्धा के अनुकूल ही ज्ञान और चारित्र होता है, अतः सर्व प्रयत्नों द्वारा प्रथम श्रद्धा को ही निर्मल करना चाहिये। उसके निर्मल होने पर ज्ञान और चारित्र का भी प्रादुर्भाव होने से तीनों गुणों का पूर्ण विकास हो जाता है। इसी का नाम रत्नत्रय है, यही मोक्ष मार्ग है और यही आत्मा की निज विभूति है। जिसके यह विभूति हो जाती है वह संसार के बन्धन से छूट जाता है, यही निश्चय प्रभावना है। इसकी महिमा वचन के द्वारा नहीं कही जा सकती।

३. प्रभावना अङ्ग की महिमा अपार है। परन्तु हम लोग उस पर लक्ष्य नहीं देते। एक मेले में लाखों रुपये व्यय कर देंगे, परन्तु यह न होगा कि एक ऐसा कार्य करें जिससे सर्व साधारण लाभ उठा सकें।

४. पहले समय में मुनिमार्ग का प्रसार था, अतः गृहस्थ लोग जब संसार से विरक्त हो जाते थे, और उनकी गृहिणी (पत्नी) आर्या (साध्वी) हो जाती थीं, तब उनका परिग्रह शेष लोगों के उपयोग में आता था, परन्तु आज मरते मरते भोगों से उदास नहीं होते! कहाँ से उन्हें आनन्द का अनुभव आवे? मरते मरते यही शब्द सुने जाते हैं कि ये बालक आप लोगों की गोद में हैं, इन्हें सम्भालना, रक्षा करना आदि। यह दुरवस्था समाज की हो रही है। तथा जिनके पास पुष्कल धन है वे अपनी इच्छा के प्रतिकूल एक पैसा भी खर्च नहीं करना चाहते। वास्तव में धर्म की प्रभावना करना चाहते हो तो जातीय पक्षपात को छोड़कर प्राणी मात्र का उपकार करो। क्योंकि धर्म किसी जाति विशेष का पैतृक विभव नहीं अपि तु प्राणीमात्र का स्वभाव धर्म है। अतः जिन्हें धर्म की प्रभावना करना इष्ट है, उन्हें उचित है कि प्राणी मात्र के ऊपर दया करें, अहम्बुद्धि ममबुद्धि को तिलाञ्जलि दें, तभी धर्म की प्रभावना हो सकती है।

५. सच्ची प्रभावना तो यह है कि जो अपनी परणति अनादि काल से पर को आत्मीय मान कलुषित हो रही है, पर में निजत्व का अवबोधकर विपर्ययज्ञानवाली हो रही है, तथा पर पदार्थों में राग द्वेष कर मिथ्याचारित्रमयी हो रही है उसे आत्मीय श्रद्धान ज्ञान और चारित्र के द्वारा ऐसी निर्मल बनाने

का प्रयत्न करो जो इतर धर्मावलम्बियों के हृदय में स्वयमेव समा जावे, इसी को निश्चय प्रभावना कहते हैं। अथवा:—

१—ऐसा दान करो जिससे साधारण लोगों का भी उपकार हो।

२—ऐसे विद्यालय खोलो जिनमें यथाशक्ति सभी को ज्ञान लाभ हो।

३—ऐसे औषधालय खोलो जिनमें शुद्ध औषधि से सभी लाभ ले सकें।

४—ऐसे भोजनालय खोलो जिनमें शुद्ध भोजन का प्रबन्ध हो, अनाथों को भी भोजन मिले।

५—अभयदानादि देकर प्राणियों को निर्भय बनाओ।

६—ऐसा तप करो जिसे देखकर कट्टर से कट्टर विरोधियों की तप में श्रद्धा हो जावे।

७—अज्ञान रूपी अन्धकार से जगत आच्छन्न है, उसे यथा शक्ति दूर कर धर्म के माहात्म्य का प्रकाश करना, इसी का नाम सच्ची (निश्चय) प्रभावना है। वर्तमान में इसी तरह की प्रभावना आवश्यक है।

८—पुष्कल द्रव्य को व्यय कर गजरथ चलाना, प्रीतिभोज में पचासों हजार मनुष्योंको भोजन देना, और सङ्गीत मण्डली के द्वारा गान कराकर सहस्रोंके मन में धर्म की प्राचीनता के साथ साथ वास्तव कल्याण का मार्ग भर देना यह तो प्राचीन समय की प्रभावना थी परन्तु इस समय इस तरह की प्रभावना की आवश्यकता है—

१. हजारों भूखे पीड़ित मनुष्यों को भोजन कराना, सहस्रों मनुष्यों को वस्त्रदान देना।

२. प्रत्येक ऋतु के अनुकूल दान की व्यवस्था करना।

३. जगह जगह सदावर्त खुलवाना।

४. गर्मी के दिनों में पानी पिलाने का प्रबन्ध करना (प्याऊ खोलना)।

५. जो मनुष्य आजीविका विहीन हैं उन्हें व्यापारादि कार्य में लगाना।

६. स्थान स्थान पर धर्मशाला बनवाना जिनमें सभी तरह की सुविधा हो।

७. नवदुर्गा एवं दशहरा आदि पर्वों पर प्रतिवर्ष बलिदान होनेवाले निरपराध बकरे, भैंसे आदि मूक पशुओं को बलिदान होने से बचाना।

८. जनता में धर्म प्रचार के लिये उपदेशक रखना और क्षेत्रों पर उनका महत्व समझनेवाले शास्त्रवाचक विद्वान् रखना।

९. वर्तमान समय में तीर्थयात्रा व धार्मिक मेलों में अपनी सम्पत्ति का व्यय न करके शरणार्थियों की समस्या हल करने में सरकार की सहायता करना।
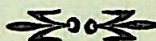
निरीहता

१. निरीहता (निस्पृहता) का यही अर्थ है कि संसार में आत्मातिरिक्त जितने पदार्थ हैं उनको ग्रहण करने की अभिलाषा छोड़ देना।

२. निरीहता आत्मा की एक ऐसी निर्मल परणति है जो आत्मा को प्रायः सभी पापों से सुरक्षित रखती है।

३. श्रेयोमार्ग निरीह वृत्ति में है।

४.निरीहवृत्तिवाले जीव मिथ्या भाव को त्यागने में सदा सफल होते हैं।

५. जिसके निरीह वृत्ति नहीं वह मनुष्य पापोंका त्याग करने में असमर्थ रहता है।

६. जो व्यक्ति निरीह होते हैं, वे ही इन्द्रियविजयी होते हैं।

७. संसार में वही मनुष्य शान्ति का लाभ ले सकता है जो निष्पृह होगा।

८. निष्पृहता मोक्षमार्ग की जननी है।

९. जहां तक बने निष्पृह होने का प्रयत्न करो। संसार में परिग्रह तो सबको प्रिय है, किन्तु इसके विरुद्ध प्रवृत्ति करना किसी पुण्यात्मा का ही कार्य है।

१०. निरीहता शान्ति का मूल कारण है।
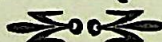
निराकुलता

१. निराकुलता ही धर्म है।

२. हमारी समझ में यह नहीं आता कि गृहस्थधर्म में सर्वथा ही आकुलता रहती है, क्योंकि जहां सम्यग्दर्शन का उदय है वहाँ अनन्त संसार का कारण विकल्प होता ही नहीं फिर कौन सी ऐसी आकुलता है जो निरन्तर हमें बाधा पहुँचाये। केवल हमारी कायरता है जो विकल्प उत्पन्न कर तिल का ताड़ बना देती है। मेरी तो यह सम्मति है कि बाह्य परिग्रहों का बाधकपना छोड़ो और अन्तरङ्ग में जो मूर्च्छा है उसे ही बाधक कारण समझो, उसे ही पृथक् करने का प्रयत्न करो। उसके पृथक् करने में न साधु होने की आवश्यकता है और न ध्यानादि की आवश्यकता है। ध्यान नाम एकाग्र परिणति का है, वह कषायवालों के भी होती है और वीतराग के भी होती है। अतः जहाँ विपरीताभिप्राय न होकर ज्ञान की परिणति स्थिर हो वही प्रशस्त है।

३. "शल्य रहित ही व्रती कहलाता है" आचार्यों का यह लिखना इतना गम्भीर अर्थ रखता है कि वचनागोचर है। धर्मका साधन तो करना चाहते हैं और उसके लिए घर भी छोड़ देते हैं, धन भी छोड़ देते हैं परन्तु शल्य नहीं छोड़ते। यही कारण है कि बिना फँसाये फँस जाते हैं।

४. यदि आप अपना हित चाहते हैं तो विकल्प न कीजिये।

५. जब तक आकुलता विहीन अनुभव न हो तब तक शांति नहीं। अतः इन बाह्य आलम्बनों को छोड़कर स्वावलम्बन द्वारा रागादिकों की क्षीणता करने का उपाय करना ही अपना ध्येय बनाओ और एकान्त में बैठकर उसी का मनन करो।

६. यदि निराकुलतापूर्वक एक दिन भी तात्त्विक विचार से अपने को भूषित कर लिया तो अपने ही में तीर्थ और तीर्थंकर देखोगे।

७. यदि गृह छोड़ने से शांति मिले तब तो गृह छोड़ना सर्वथा उचित है। यदि इसके विपरीत आकुलता का सामना करना पड़े तब गृहत्याग से क्या लाभ? चौबे से छब्बे होना अच्छा परन्तु दुबे होना तो ठीक नहीं।

८. कल्याण का मार्ग कोई क्या बतावेगा, अपनी आत्मा से पूछो। उत्तर यही मिलेगा—"जिन कार्यों के करने में आकुलता हो उन्हें कदापि न करो चाहे वह अशुभ हों या शुभ।"

९. सुख का अर्थ "आत्मा में निराकुलता है।" जहाँ मूर्छा है वहाँ निराकुलता नहीं।

१०. विषयाभिलाषी होना ही आकुलता की जननी है। इसे छोड़ो, अपने आप निराकुल हो जाओगे।

भद्रता

१. भद्रता सुख की जननी है।

२. भद्रता वही प्रशंसनीय है जिसमें भिन्न-भिन्न अवगुणों की गन्ध न हो।

३. भद्रता स्वाभाविकी वस्तु है, उसमें बातों की सुन्दरता बाधक है।

४. भद्र परिणामों की साधक मृदुता है।

५. कभी-कभी मायावी भी भद्र के समान दिखाई देता है, पर इन दोनों में अन्तर है। मायावी कुटिल होता है और भद्र सरल होता है।

६. जिसके परिणामों में कुटिलता नहीं वह स्वभाव से ही भद्र होता है।

७. जो भद्र है वही धर्मोपदेश का अधिकारी माना गया है।

८. यह ठीक है कि भद्र को हर कोई ठग लेता है पर इससे उसकी कोई हानि नहीं होती। इससे तो उसके भद्रता गुण की सुगन्धि चारों ओर और अधिक फैल जाती है।
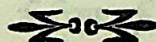
उदासीनता

१. विषय कषायों में स्वरूप से शिथिलता आ जाने का नाम उदासीनता है।

२. यद्यपि परिग्रह के विषय में उदासीनता कल्याण की जननी है परन्तु धर्म के साधनों में उदासीनता का होना अच्छा नहीं है।

३. उदासीनता ही वैराग्य की जननी और संसार की जड़ काटनेवाली है।

४. उदासीनता का अर्थ है कि पर से आत्मीयता छोड़ो।

५. चाहे घर में रहे चाहे वन में जो उदासीनता पूर्वक अपना जीवन बिताता है उसीका जीवन सार्थक है।

६. उपेक्षा भाव उदासीनता का पर्यायवाची है और चित्त में राग द्वेष रूप विकल्प का न होना ही उपेक्षाभाव है।

७. उदासीनता सम्यग्दृष्टिका लक्षण है। यह जिसके जीवन में उतर आई वही वास्तवमें सम्यग्दृष्टि है।

८. जो कुछ होता है प्रकृतिके नियमानुसार होता है। उसमें कर्तृत्व बुद्धिका त्याग करना ही उदासीनता है।

९. जैसे कमल जलमें रहकर भी उससे जुदा है वैसे ही

अनात्मीय भावोंसे अपनेको जुदा अनुभव करना ही उदासीनता है।

१०. उदासीन वे हैं जो सब कुछ करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होते।

११. आहार तो मुनि भी लेते हैं। पर उसके मिलने की अपेक्षा न मिलने में वे अधिक आनन्द मानते हैं। जिस महात्माके यह वृत्ति जग गई वही उदासीन है।

१२. अभिलाषा मात्र हेय है। जिसकी मोक्षके प्रति भी अभिलाषा बनी हुई है वह उदासीन नहीं हो सकता।

१३. चाहे पूजा करो चाहे जप, तप, संयम करो पर एक बात ध्यान रखो कि संसार की कोई भी वस्तु तुम्हें लुभा न सके।

त्याग

१. जिनमें सहिष्णुता और धीरता इन दोनों महान् गुणों का अभाव है वे त्यागी होने के पात्र नहीं।

२. तृप्ति का कारण त्याग ही है।

३. त्याग धर्म के होने से धर्म के सभी कार्य निर्विघ्न चल सकते हैं।

४. त्याग बिना बिना नमक के भोजन की तरह किसी भी आध्यात्मिक रस की सरसता नहीं।

५. जिस त्याग से निर्मलता की वृद्धि होती है वही त्याग त्याग कहलाता है। जिस त्याग के अनन्तर कलुषता हो वह त्याग नहीं दम्भ है।

६. त्याग की भावना इसी में हैं कि वह आकुलता से दूषित न हो।

७. पर्याय के अनुकूल ही त्याग हितकर है।

८. त्यागी होकर जो सज्जन सञ्चय करते हैं वे महान् पापी हैं।

९. परिग्रह का जो त्याग आभ्यन्तर से होता है वह कल्याण का मार्ग होता है और जो त्याग ऊपरी दृष्टि से होता है वह क्लेशकर होता है।

१०. अधिक संग्रह ही संसार का मूल कारण है।

११. घर को त्याग कर जो मनुष्य जितना दम्भ करता है वह अपने को प्रायः उतने ही जघन्य मार्ग में ले जाता है। अतः जब तक आभ्यन्तर कषाय न जावे तब तक घर छोड़ने से कोई लाभ नहीं।

१२. उस त्याग का कोई महत्त्व नहीं जिसके करने पर लोभ न जावे।

१३. त्याग कल्याण का प्रमुख मार्ग है।

१४. आवश्यकताएँ कम करना भी तो त्याग है। बाह्य वस्तु का त्याग कठिन नहीं, आभ्यन्तर कषायों की निवृत्ति ही कठिन है।

१५. जिस त्याग के करने पर भी तात्त्विक शान्ति का आस्वाद नहीं आता वहाँ यही अनुमान होता है कि वह आभ्यन्तर त्याग नहीं है।

१६. बाह्य त्याग की वहीं तक मर्यादा है जहाँ तक वह आत्म परिणामों में निर्मलता का साधक हो।

१७. अपनी लालसा को छोड़ने के अर्थ जिन लोगों ने त्याग धर्म को अङ्गीकार करके भी यदि उसी त्यक्त सामग्री की तरफ लक्ष्य रक्खा तो उन्होंने उस त्याग से क्या लाभ उठाया ?

१८. मनुष्य जितने कार्य करता है, उन सबका लक्ष्य सुख की ओर रहता है। वास्तव में यदि विचार किया जावे तो सुखोत्पत्ति त्याग से ही होती है। इसी से धर्म का उपदेश त्याग प्रधान है। जिसने इसको लक्ष्य नहीं किया वह मार्मिक ज्ञानी नहीं। इसके ऊपर जिसकी दृष्टि रही उसी का त्याग करने का प्रयत्न सफल हो सकता है।

१९. जिसे त्यागधर्म का मधुर आस्वाद आ गया वह परिग्रह पिशाच के जाल में नहीं फँस सकता।

२०. जब तक आत्मा में त्याग भाव न हो तब तक परोपकार होना कठिन है। परोपकार के लिये आत्मोत्सर्ग होना परमावश्यक है। आत्मोत्सर्ग वही कर सकेगा जो उदार होगा और उदार वही होगा जो संसार से भयभीत होगा।

२१. जितना भी भीतर से त्यागोगे, उतना ही सुख पाओगे।

२२. सच्चा धर्म वही है जो परिग्रह के त्याग करने का उपदेश देता है ग्रहण करने का नहीं।

२३. जितना ही कषाय का उपशम होता है उतना ही त्याग होता है।

२४. जो द्रव्य से ममता त्यागेगा उसे शान्ति मिलेगी और उसके चारित्र का विकास होगा।

२५. लक्ष्मी को लोग अपना समझ कर दान करते हैं, तथा उससे अपना महत्त्व चाहते हैं। परन्तु सच तो यह है कि जो वस्तु हमारी नहीं उस पर हमारा कोई स्वत्व नहीं। उसे देकर महत्त्व करना मूर्खता है।

२६. हम लोग केवल शास्त्रीय परिभाषाओं के आधार से त्याग करने के व्यसनी हैं। किन्तु जब तक आत्मगत विचार से त्याग नहीं होता तब तक त्याग त्याग नहीं कहला सकता।
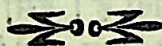
दान

प्रत्येक समाज में दान करने की प्रथा है किन्तु दान क्या वस्तु है ? उसके पात्र, अपात्र या दातार कौन हैं ? उसकी विधि और समय क्या है ? तथा किस दान की क्या उपयोगिता और क्या फल है आदि बातों पर गम्भीर दृष्टि से विचार विमर्श करनेवाले लोग बहुत ही कम हैं। जब तक पूर्ण रीति से विचार कर दान न दिया जायगा उसका कोई उपयोग नहीं।

दान का लक्षण

प्राणी की आवश्यकता को शास्त्रोक्त मार्ग, लौकिक सद्व्यवहार और न्याय नीति के अनुसार पूर्ण करना दान है।

दान की आवश्यकता

द्रव्यदृष्टि से जब हम अन्तःकरण में परामर्श करते हैं तब यही प्रतीत होता है कि सब जीव समान हैं। यद्यपि इस विचार से तो दानकी आवश्यकता नहीं, किन्तु पर्यायदृष्टिसे सभी जीव भिन्न-भिन्न पर्यायोंमें स्थित हैं। कितने ही जीव तो कर्मकलङ्क उन्मुक्त हो अनन्त सुखके पात्र हो चुके हैं और जो संसारी हैं उनमें भी कितने तो सुखी देखे जाते हैं और कितने ही दुखी। बहुतसे अनेक विद्याके पारगामी विद्वान् हैं और बहुतसे नितान्त

मूर्ख दृष्टिगोचर होरहे हैं। बहुतसे सदाचारी और पापसे परा-ङ्मुख हैं, तब बहुत से असदाचारी और पापमें तन्मय हैं। जब कि कितने ही बलिष्ठताके मद में उन्मत्त हैं, तब बहुत से दुर्बलतासे खिन्न होकर दुखभार वहन कर रहे हैं। अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसकी पूर्ति कर परोपकार करना चाहिए।

दान देनेमें हेतु

स्थूलदृष्टिसे परके दुःखको दूर करनेकी इच्छा दान देनेमें मुख्य हेतु है परन्तु पृथक् पृथक् दातारों के भिन्न भिन्न पात्रों में दान देने के हेतुओं पर सूक्ष्मतम दृष्टि से विचार करने पर मुख्य चार कारण दिखाई पड़ते हैं। १–कितने ही मनुष्य परका दुःख देख उन्हें अपनेसे जघन्य स्थिति में जानकर "दुखियोंकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है" ऐसा विचारकर दान करते हैं। २–कितने ही मनुष्य दूसरोंके दुःख दूर करनेके लिए, परलोकमें सुख प्राप्ति और इस लोकमें प्रतिष्ठा (मान) के लिये दान करते हैं। ३–कुछ लोग अपने नामके लिये, कीर्ति पानेका लालच और जगतमें वाहवाहीके लिये अपने द्रव्यको परोपकारमें दान करते हैं। ४–और कितने ही मनुष्य त्यागको आत्मधर्म मानकर कर्त्तव्य बुद्धिसे दान देते हैं।

दाताके भेद

मुख्यतया दाताके तीन भेद हैं १–उत्तम दाता २–मध्यम दाता और ३–जघन्य दाता।

उत्तम दाता

जो मनुष्य निःस्वार्थ दान देते हैं, पराये दुःखको दूर करना ही जिनका कर्तव्य है, वे उत्तम दाता हैं। परोपकार करते

हुए भी जिनके अहम्बुद्धिका लेश नहीं वे सम्यक्दानी हैं और वही संसार सागर से पार होते हैं, क्योंकि निष्काम (निस्वार्थ) किया गया कार्य बन्धका कारण नहीं होता। अथवा यों कहना चाहिए कि जो सर्वोत्तम मनुष्य हैं वे बिना स्वार्थ ही दूसरे का उपकार किया करते हैं। और अपने उन विशुद्ध परिणामों के बल से सर्वोत्तम पद के भोक्ता होते हैं। जैसे प्रखर सूर्यकी किरणों से सन्तप्त जगत को शीतांशु (चन्द्रमा) अपनी किरणों द्वारा निरपेक्ष शीतल कर देता है, उसी प्रकार महान पुरुषों का स्वभाव है कि वे संसार-ताप से संतप्त प्राणियों के ताप को हरण कर लेते हैं।

मध्यमदाता

जो पराये दुःखको दूर करनेके लिये अपने स्वार्थ की रक्षा करते हुए दान करते हैं वे मध्यम दाता है। क्योंकि जहाँ इनके स्वार्थमें बाधा पहुँचती है वहीं पर ये परोपकारके कार्यको त्याग देते हैं। अतः इनके भी वास्तविक दयाका विकास नहीं होता। धनकी ममता अत्यन्त प्रबल है, धनको त्यागना सरल नहीं है, अतः ये यद्यपि अपनी कीर्तिके लिये ही धनका व्यय करते हैं तो भी जब उससे दूसरे प्राणियोंका दुःख दूर होता है तो इस अपेक्षासे इनके दानको मध्यम कहनेमें कोई संकोच नहीं होता।

जघन्यदाता

जो मनुष्य केवल प्रतिष्ठा और कीर्तिके लालचसे दान करते हैं वे जघन्य दाता हैं। दानका फल लोभके निरशन द्वारा शान्ति प्राप्त करना है, वह इन दातारोंको नहीं मिलती। क्योंकि दान देनेसे शान्तिके प्रतिबन्धक आभ्यन्तर लोभादि कषायका जब अभाव होता है तभी आत्मामें शान्ति मिलती है। जो कीर्ति

प्रसारकी इच्छासे देते हैं उनके आत्म-गुण सुखके घातक कर्मकी हीनता तो दूर रही प्रत्युत बन्ध ही होता है। अतएव ऐसे दान देनेवाले जो मानवगण हैं उनका चरित्र उत्तम नहीं। परन्तु जो मनुष्य लोभके वशीभूत होकर एक पाई भी व्यय करनेमें संकोच करते हैं उनसे ये उत्कृष्ट हैं।

दान के पात्र

ऊसर जमीन में, पानी से लबालब भरे तालाब में, सार और सुगन्धिहीन सेमर वृक्षों के जङ्गल में तथा दावानल में व्यर्थ ही धधकने वाले बहुमूल्य चन्दन में यदि मेघ समान रूप से वर्षा करता है तो भले ही उसकी उदारता प्रशंसनीय कही जा सकती है परन्तु गुणरत्न पारखी वह नहीं कहा जा सकता। इसी तरह पात्र, अपात्र की आवश्यकता और अनावश्यकता की पहिचान न कर दान देने वाला उदार भले ही कहा जाय परन्तु वह गुणविज्ञ नहीं कहला सकता। इसलिए साधारणतः पात्र अपात्र का विचार करने के लिए पात्र मनुष्यों को इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

१. इस जगतमें अनेक प्रकारके मनुष्य देखे जाते हैं। कुछ मनुष्य तो ऐसे हैं जो जन्मसे ही नीतिशाली और धनाढ्य हैं।

२. कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुए हैं। उन्हें शिक्षा पानेका, नीतिके सिद्धान्तोंके समझनेका अवसर ही नहीं मिलता।

३. कुछ मनुष्य ऐसे हैं जिनका जन्म तो उत्तम कुलमें हुआ है किन्तु कुत्सित आचरणों के कारण अधम अवस्थामें काल यापन कर रहे हैं।

इनके प्रति हमारा कर्तव्य

१. जो धनवान् तथा सदाचारी हैं अर्थात् प्रथमश्रेणी के मनुष्य हैं उन्हें देखकर हमको प्रसन्न होना चाहिए। उनके प्रति ईर्षादि नहीं करना चाहिए।

२. द्वितीय श्रेणी के जो दरिद्र मनुष्य हैं उनके कष्ट अपहरण के लिये यथाशक्ति दान देना चाहिए। तथा उनको सत्य सिद्धान्तों का अध्ययन कराके सन्मार्ग पर स्थिर करना चाहिए।

३. तृतीय श्रेणी के मनुष्य जो कुमार्ग के पथिक हो चुके हैं, तथा जिनकी अधम स्थिति हो चुकी है वे भी दया के पात्र हैं। उनको दुष्ट आदि शब्दों से व्यवहार कर छोड़ देने से ही काम नहीं चलेगा अपितु उन्हें भी सामयिक सत्शिक्षा और सदुपदेशों से सुमार्ग पर लाकर उत्थान पथ का पथिक बनाना चाहिये।

दान के अपात्र

दान देते समय पात्र अपात्र का ध्यान अवश्य रखना चाहिए अन्यथा दान लेनेवाले की प्रवृत्ति पर दृष्टिपात न करने से दिया हुआ दान ऊसर भूमि में बोये गये बीज की तरह व्यर्थ ही जाता है।

जो विषयी हैं, लम्पटी हैं, नशेबाज हैं, जुआड़ी हैं, परवञ्चक हैं इन्हें दान देनेसे एक तो उनके कुमार्ग की पुष्टि होती है, दूसरे दरिद्रों की वृद्धि और आलसी मनुष्यों की संख्या बढ़ती है और तीसरे अनर्थ परम्परा का बीजारोपण होता है। परन्तु यदि ऐसे मनुष्य बुभुक्षित या रोगी हों तो उन्हें (दान दृष्टि से नहीं अपितु) कृपादृष्टि से अन्न या औषधि दान देना वर्जित नहीं है। क्योंकि अनुकम्पा से दान देना प्राणीमात्र के लिए है।

दान के भेद

आचार्यों ने गृहस्थों के दान के संक्षेप में चार भेद बतलाये हैं १ आहारदान, २ औषधिदान, ३ ज्ञानदान, और ४ अभय-दान। परन्तु ५ लौकिकदान और ६ आध्यात्मिक दान भी गृहस्थों का ही कर्तव्य है। ७ वां धर्मदान मुनियों का दान है। इस तरह दान के ७ भेद प्रमुख रूप से होते हैं।

आहारदान

जो मनुष्य क्षुधासे क्षामकुक्षि एवं जर्जर हो रहा है तथा रोग से पीड़ित है सर्व प्रथम उसके क्षुधा आदि रोगोंको भोजन और औषधि देकर निवृत्त करना चाहिए। आवश्यकता इसी बात की है, क्योंकि "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" (भूखा आदमी कौनसा पाप नहीं करता) इसीसे नीतिकारों ने "शरीमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" (शरीर को धर्मसाधन का प्रमुख साधन) कहा है।

औषधिदान

"स्वस्थचित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति" शरीरके निरोग रहने पर बुद्धिका विकाश होता है; तथा ज्ञान और धर्मके अर्जन का यत्न होता है। शरीरके निरोग न रहनेपर विद्या और धर्मकी रुचि मन्द पड़ जाती है अतएव अन्न-जल और औषधि द्वारा दुःखसे दुःखी प्राणियोंके दुःखका अपहरण करके उन्हें ज्ञानादि के अभ्यासमें लगानेका यत्न प्रत्येक प्राणीका मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। जिससे ज्ञान द्वारा यथार्थ वस्तुको जान कर प्राणी इस संसारके जालमें न फँसे।

ज्ञानदान

अन्नदानकी अपेक्षा विद्यादान अत्यन्त उत्तम है क्योंकि अन्न

से प्राणीकी क्षणिक तृप्ति होती है किन्तु विद्यादानसे शास्वती तृप्ति होती है। विद्याविलाशियोंको जो एक अद्भुत मानसिक सुख होता है इन्द्रियोंके विलासियोंको वह अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि वह सुख स्व-स्वभावोत्थ है जब कि इन्द्रियजन्य सुख पर जन्य है।

अभयदान

इसी तरह अभयदान भी बड़ा महत्वशाली दान है। इसका कारण यह है कि मनुष्यमात्रको ही नहीं, अपितु प्राणीमात्रको अपने शरीर से प्रेम होता है। बाल हो अथवा युवा हो, आहो-स्वित् वृद्ध हो, परन्तु मरना किसीको इष्ट नहीं। मरते हुए प्राणी की अभयदानसे रक्षा करना बड़े ही महत्त्व और शुभ-बन्धका कारण है।

लौकिक दान

उक्त दानों के अतिरिक्त लौकिक दान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। जगत में जितने प्रकार के दुःख हैं उतने ही भेद लौकिक दान के हो सकते हैं। परन्तु मुख्यतया जिनकी आज आवश्यकता है वे इस प्रकार हैं—

१. बुभुक्षित प्राणी को भोजन देना।

२. तृषित को पानी पिलाना।

३. वस्त्रहीन को वस्त्र देना।

४. जो देश व जातियाँ अनुचित पराधीनता के बन्धन में पड़कर परतन्त्र हो रही हैं उनको उस दुःख से मुक्त करना।

५. जो पाप कर्म के तीव्र वेग से अनुचित मार्ग पर जा रहे हैं उन्हें सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा करना।

६. रोगी की परिचर्या और चिकित्सा करना।

७. अतिथि की सेवा करना।

८. मार्ग भूले हुए प्राणी को मार्ग पर लाना।

९. निर्धन व्यापारहीन को व्यापार में लगाना।

१०. जो कुटुम्ब-भार से पीड़ित होकर ऋण देने में असमर्थ हैं उन्हें ऋण से मुक्त करना।

११. अन्यायी मनुष्यों के द्वारा सताये जानेवाले मारे जानेवाले दीन, हीन, मूक प्राणियों की रक्षा करना।

आध्यात्मिक दान

जिस तरह लौकिक दान महत्त्वपूर्ण है उसी तरह आध्यात्मिक दान भी महत्त्वपूर्ण और श्रेयस्कर है, क्योंकि आध्यात्मिक दान स्वपर-कल्याण-महल की नीव है। वर्तमान में जिन आध्यात्मिक दानों की आवश्यकता है वे ये हैं—

१. अज्ञानी मनुष्यों को ज्ञान दान देना।

२. धर्म में उत्पन्न शङ्काओं का तत्त्वज्ञान द्वारा समाधान करना।

३. दुराचरण में पतित मनुष्यों को हित-मित-प्रिय वचनों द्वारा सान्त्वना देकर सुमार्ग पर लाना।

४. मानसिक पीड़ा से दुखी जीवों को कर्मसिद्धान्त की प्रक्रिया का अवबोध कराकर शान्त करना।

५. अपराधियों को उनके अज्ञान का दोष मानकर उन्हें क्षमा करना।

६. सभी का कल्याण हो, सभी प्राणी सन्मार्गगामी हों, सभी सुखी समृद्ध और शान्ति के अधिकारी हों ऐसी भावना करना।

७. जो धर्म में शिथिल हो गये हों उनको शुद्ध उपदेश देकर दृढ़ करना।

८. जो धर्म में दृढ़ हों उन्हें दृढ़तम करना।

९. किसी के ऊपर मिथ्या कलङ्क का आरोप न करना।

१०. निमित्तानुसार यदि किसी से किसी प्रकार का अपराध बन गया हो तो उसे प्रकट न करना अपितु दोषी व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा करना।

११. मनुष्य को निर्भय बनाना।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जितनी मनुष्य की आवश्यकताएँ हैं उतने ही प्रकार के दान हो सकते हैं।

दुःख का अपहरणकर उच्चतम भावना प्राप्त करने का सुलभ मार्ग यदि है तो वह दान ही है अतः जहाँ तक बने दुखियों का दुख दूर करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहो, हित मित प्रिय वचनों के साथ यथाशक्ति मुक्त हस्त से दान दो।

धर्मदान

जब तक प्राणी को धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती तब तक उसके उच्चतम विचार नहीं होते, और उन विचारों के अभाव में वह प्राणी उस शुभाचरण से दूर रहता है जिसके बिना वह लौकिक सुख से भी वञ्चित रहकर धोबी के कुत्ते की तरह "घर का न घाट का" कहीं का भी नहीं रहता। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि "वे ही जीव सुखी रह सकते हैं जो या तो नितान्त मूर्ख हों, या पारङ्गत दिग्गज विद्वान हों।" अतः धर्मदान सभी दानों से श्रेष्ठ और नितान्तावश्यक है।

इस परमोत्कृष्ट दान के प्रमुख दानी तीर्थङ्कर महाराज तथा गणधरादि देव हैं। इसीलिये आप्त के विशेषणों में "मोक्षमार्ग के नेता" यह विशेषण प्रथम दिया गया है। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, यहाँ तक कि चक्रवर्तियों ने भी बड़े-बड़े दान दिये

किन्तु संसार में उनका आज कुछ भी अवशिष्ट नहीं है तथा तीर्थङ्कर महाराज ने जो उपदेश द्वारा दान दिया था उसके द्वारा बहुत से जीव तो उसी भव से मुक्ति लाभ कर चुके और अब तक भी अनेक प्राणी उनके बताये सन्मार्ग पर चलकर लाभ उठा रहे हैं। वे भव-बन्धन परम्परा के पास से मुक्त हो गये, तथा आगामीकाल में भी उस सुपथ पर चलनेवाले उस अनुपम सुख का लाभ उठावेंगे। कितने प्राणी उस पवित्र धर्मोपदेश से लाभ उठावेंगे यह कोई अल्पज्ञानी नहीं कह सकता।

धर्मदान के वर्तमान दाता

वर्तमान में (गणधर, आचार्य आदि परम्परा से) यह दान देने की योग्यता संसार से भयभीत बाह्याभ्यन्तर परिग्रह विहीन, ज्ञान-ध्यान तप में आसक्त, वीतराग, दिगम्बर मुनिराज के ही है। क्योंकि जब हम स्वयं विषय कषायों से दग्ध हैं तब इस दान को कैसे करेंगे ? जो वस्तु अपने पास होती है वही दान दी जा सकती है। हम लोगों ने ता उस धर्म को जो कि आत्मा की निज परणति है कषायाग्नि से दग्ध कर रक्खा है। यदि वह वस्तु आज हमारे पास होती तब हम लोग दुःखों के पात्र न होते। उसके बिना ही आज संसार में हमारी अवस्था कष्टप्रद हो रही है। उस धर्म के धारक परम दिगम्बर निरपेक्ष परोपकारी, विश्वहितैषी वीतराग ही हैं अतएव वही इस दान को कर सकते हैं। इसी से उसे गृहस्थदान के अन्तर्गत नहीं लिया।

धर्मदान की महत्ता

यह दान सभी दानों में श्रेष्ठतम है, क्योंकि इतर दानों के द्वारा प्राणी कुछ काल के लिये दुःख से विमुक्त होता है

परन्तु यह दान ऐसा अनुपम और महत्त्वशाली है कि एक बार भी यदि इसका सम्पर्क हो जावे तो प्राणी जन्म-मरण के क्लेशों से विमुक्त होकर निर्वाण के नित्य आनन्द सुखों का पात्र हो जाता है। अतएव सभी दानों की अपेक्षा इस दान की परमावश्यकता है। धर्मदान ही एक ऐसा दान है जो प्राणियों को संसार दुःख से सदाके लिये मुक्तकर सच्चे सुख का अनुभव कराता है।

अपनी आत्मताड़ना की परवाह न करके दूसरों के लिये मीठे स्वर सुनानेवाले मृदङ्ग की तरह जो अपने अनेक कष्टों की परवाह न कर विश्वहित के लिये निरक्षेप निस्वार्थ उपदेश देते हैं वे महात्मा भी इसी धर्मदान के कारण जगत-पूज्य या विश्ववन्द्य हुए हैं।

इस तरह धर्मदान की महत्ता जानकर हमें उस दान को प्राप्त करने का पात्र होना चाहिये। जैसे सिंहनी का दूध स्वर्ण के पात्र में रह सकता है वैसे ही धर्मदान सम्यग्ज्ञानी पात्र में रह सकता है।

पाप का बाप लोभ।

परन्तु मनुष्य लोभ के आवेग में आकर किन-किन नीच कृत्यों को नहीं करते ? और कौन कौन से दुःखों को भोग कर दुर्गति के पात्र नहीं होते ? यह उन एक दो ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन से स्पष्ट हो जाता है। जिनका नाम इतिहास के काले पृष्ठों में लिखा रह जाता है।

गजनी के शासक, लालची लुटेरे महमूद गजनवी ने ई०सन् १००० और १०२६ के बीच २६ वर्ष में भारतवर्ष पर १७ बार

आक्रमण किया, धन और धर्म लूटा ! मंदिर और मूर्तियोंका ध्वंस कर अगणित रत्नराशि और अपरमित स्वर्ण चांदी लूटी !! परन्तु जब इतने पर भी लोभ का संवरण नहीं हुआ तब सोमनाथ मन्दिर के काठ के किवाड़ और पत्थर के खम्भे भी न छोड़े, ऊँटों पर लाद कर गजनी ले गया !!!

दूसरा लोभी था (ईसवी सन् के ३२७ वर्ष पूर्व) ग्रीसका बादशाह सिकन्दर; जिसने अनेक देशों को परास्त कर उनकी अतुल सम्पत्ति लूटी, फिर भी सारे संसार को विजित करके संसार भर की सम्पत्ति हथयाने की लालसा बनी रही !

लोभ के कारण दोनों का अन्त समय दयनीय दशा में व्यतीत हुआ । लालच और लोभवश हाय ! हाय !! करते मरे, पर इतने समर्थ शासक होते हुए भी एक फूटी कौड़ी भी साथ न ले जा सके ।

दया का क्षेत्र ।

प्रथम तो दया का क्षेत्र १—अपनी आत्मा है, अतः उसे संसारवर्धक दुष्ट विकल्पों से बचाते रहना, और सम्यग्दर्शनादि दान द्वारा सन्मार्ग में लाने का उद्योग करते रहना चाहिये । दूसरे दया का क्षेत्र २—अपना निज घर है फिर ३—जाति ४—देश तथा ५—जगत है । अन्त में जाकर यही "वसुधैव कुटुम्बकम" हो जाता है ।

अनुरोध ।

इस पद्धति के अनुकूल जो मनुष्य स्वपरहित के निमित्त दान देते हैं वही मनुष्य साक्षात् या परम्परा अतीन्द्रिय अनुपम सुखके भोक्ता होते हैं । अतएव आत्म हितैषी महाशयों का कर्तव्य है

कि समयानुकूल इस दानपद्धति का प्रसार करें। भारतवर्ष में दान की पद्धति बहुत है किन्तु विवेक की विकलता के कारण दान के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। आशा है कि हमारा धनिक वर्ग उक्त बातों पर ध्यान देते हुए पद्धति के अनुकूल दान देकर ही सुयश का भागी बनेगा।
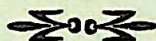
स्वोपकार और परोपकार

निश्चय नय से—

१. परोपकारादि कोई वस्तु नहीं परन्तु हम लोग आत्मीय कषाय के वेग में परोपकार का बहाना करते हैं। परोपकार न कोई करता है न हो ही सकता है। मोही जीवों की कल्पना का जाल यह परोपकारादि कार्य है।

२. कोई भी शक्ति ऐसी नहीं जो किसी का अपकार और उपकार कर सके। उपकार और अपकार आत्मीय शुभाशुभ परिणामों से होता है। निमित्त की मुख्यता से परकृत व्यवहार होता है।

३ आज तक कोई भी व्यक्ति संसार में ऐसा नहीं हुआ जिसके द्वारा पर का उपकार हुआ हो। इस सम्बन्ध में जैसी यह श्रद्धा अतीत काल की है वैसी ही वर्तमान और भविष्य की है।

४. जिन्होंने जो भी परोपकार किया, उसका अर्थ यह है कि जो कुछ काम जीव करता है वह अपनी कषायजन्य पीड़ा के शमन के अर्थ करता है; फिर चाहे यह काम पर के उपकार का हो या अपकार का हो।

५. आचार्य यह सोचकर लोगों को तत्त्वज्ञान का लाभ हो, शास्त्र की रचना करते और उससे जीवों को तत्त्वज्ञान भी होता है; किन्तु यथार्थ दृष्टि से विचार करो तो आचार्य ने यह कार्य पर के लिये नहीं किया अपितु संज्वलन कषाय के उदय में उत्पन्न हुई वेदना के प्रतीकार के लिये ही उनका यह प्रयास हुआ। पर को तत्त्वज्ञान हो यह व्यवहार है। उस कषाय में ऐसा ही होता है। ऐसे शुभ कार्य भी अपने उपकार के हेतु होते हैं पर के उपकार के हेतु नहीं।

व्यवहार नय से—

६. व्यवहार नय से परोपकार माना जाता है अतः परोपकार को तो मिथ्यादृष्टि भी कर सकता है बल्कि यों कहिए परोपकार तो मिथ्यादृष्टि से ही होता है। सम्यग्दृष्टि से परोपकार हो जावे यह दूसरी बात है परन्तु उसके आशय में उसकी उपादेयता नहीं। क्योंकि औदयिक भावों का सम्यग्दृष्टि अभिप्राय से कर्ता नहीं, क्योंकि वे भाव अनात्मक हैं।

७. मनुष्य उपकार कर सकता है परन्तु जब तक अपने को नहीं समझा पर का उपकार नहीं कर सकता।

८. परोपकार की अपेक्षा स्वोपकार करनेवाला व्यक्ति जगत का अधिक उपकार कर सकता है।

९. संसार की विडम्बना को देखो, सब स्वार्थ के साथी हैं। परन्तु धर्मबुद्धि से जो पर का उपकार करोगे वही साथ जावेगा।

१०. "परोपकार से बढ़कर पुण्य नहीं" इसका यही अर्थ है कि निजत्व की रक्षा करो।

११. परोपकार के लिये उत्सर्ग आवश्यक है, उत्सर्ग के लिये उदारता आवश्यक है, और उदारता के लिए संसार से भीरुता आवश्यक है।

१२. गृहस्थावस्था में अपने अनुकूल व्यय करो तथा अपनी रक्षा में जो व्यय किया जावे उसमें परोपकार का ध्यान रखो क्योंकि पर पदार्थ में सबका भाग है।

१३. "हम परोपकार करते हैं" यह भावना न होनी चाहिए। इस समय हमारे द्वारा ऐसा ही होना था यही भावना परोपकार में फलदायक होगी।

१४. जहाँ तक हो सके सभी को ऐसा नियम करना चाहिए कि लाभ का दशांश द्रव्य परोपकार में लगे।

१५. भगवान महावीर और बुद्ध राजसी ठाठ और स्वर्ग जैसे सुखों को छोड़कर दूसरों को उपदेश देते फिरे यह उन मूक प्राणियों की रक्षा और मानवता के उत्थान के लिये ही तो था, तब क्या परोपकार नहीं हुआ? महात्मा गाँधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार बल्लभभाई पटेल, देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद, राजा जी और मौलाना अबुलकलाम आजाद प्रभृति नेताओं ने जो कष्ट सहन किये, अपना सर्वस्व छोड़कर देश की स्वतन्त्रता के लिये जो अनेक प्रयत्न किये वह भी परोपकार ही है अतः जहाँ तक बने स्वोपकार के साथ परोपकार करना मत भूलो।

१६. अपने स्वार्थ के लिये पर का अपकार करना निरी पशुता है।

संयोग और वियोग

१. "वियोगसे दुःख होता है" यह मैं नहीं मानता क्योंकि वियोग मोक्षका कारण है जब कि परका संयोग दुःखका कारण है।

२. वियोगसे कैवल्य होता है वही आत्माकी निजावस्था है।

३. यदि वियोगमें अपनेको नहीं पहिचाना तब संयोग में क्या पहिचान होगी।

४. जब हमको किसी इष्ट पदार्थका वियोग हो जाता है तब हमारी आत्मामें अनवरत उस पदार्थका स्मरण रहता है, साथ ही साथ उस पदार्थमें इष्टता माननेसे मोहोदय होता है। यदि स्मरण कालमें मोहोदयसे कलुषता नहीं हुई तब कदापि दुःखी नहीं हो सकते। यही कारण है कि दुकानमें क्षति होने से जैसा दुःख मालिकको होता है, वैसा मुनीमको नहीं। इसका कारण यह है कि मुनीमको मोहोदयकृत भाव नहीं है। इससे यह सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए कि पर पदार्थका संयोग अथवा वियोग सुख और दुःखका जनक नहीं।

५. संयोग और वियोगमें सुख दुःखका कारण ममत्व भाव है। ममत्व भावसे ही परसंयोगमें सुख और वियोग

में दुख होता है और कहीं पर जिस पदार्थसे हमारा अनिष्ट होता है उसमें हमारी ममत्वबुद्धि न होकर द्वेषबुद्धि होती है। अतः अनिष्ट पदार्थके संयोगमें दुःख और वियोगमें सुख होता है। वास्तवमें ये दोनों कल्पनाएँ अनात्मधर्म होने से अनुपादेय ही हैं।

६. जहाँ संयोग है वहाँ वियोग है और जहाँ वियोग है वहाँ संयोग है। अन्य की कथा छोड़िये संसारका जहाँ वियोग होता है वहाँ मोक्षका संयोग होता है।

पवित्रता

१. पवित्रता वह गुण है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य संसार सागरसे पार होता है।

२. आप अपने हृदयको इतना पवित्र बनाइये कि उसमें प्राणीमात्रसे शत्रुत्वकी भावना दूर हो जाय। अब भी आपके हृदय में भय है कि अंग्रेज कोई षड्यन्त्र रचकर हमारी स्वतन्त्रताको पुनः हथयाने का प्रयत्न करेंगे? परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब आपका हृदय अपवित्र रहे। यदि आपका हृदय पवित्र रहेगा तो आपकी स्वतन्त्रता छीननेकी शक्ति किसी में नहीं है।

३. हृदयकी पवित्रतासे क्रूरसे क्रूर प्राणी अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं।

४. पवित्रताके कारण एक गाँधीने सारे भारतवर्षको स्वतन्त्रता प्रदान की। यदि भारतवर्षमें चार गाँधी पैदा हो जाएँ तो सारा संसार स्वतन्त्र हो जाय। मेरा विश्वास है कि हमारे नेताओंने जिस पवित्र भावनासे स्वराज्य प्राप्त किया है उसी पवित्र भावनासे वे उसकी रक्षा भी कर सकेंगे।

५ स्पृश्यास्पृश्य (छूत अछूत) की चर्चा लोग करते हैं परन्तु धर्म कब कहता है कि तुम अस्पृश्योंको नीच समझो।

तुम्हीं लोग तो अस्पृश्योंको जूठा खिलाते हो और यहाँ बड़ी बड़ी बातें बनाते हो। नियम कीजिये कि हम अस्पृश्योंको अपने जैसा भोजन देंगे। फिर देखिये आपके प्रति उनका हृदय कितना पवित्र और ईमानदार बनता है।

६. हृदयका असर हृदय पर पड़ता है। आप धोबीका कपड़ा उठानेमें दोष समझते हैं परन्तु शरीर पर चर्बीसे सने कपड़े बहुत शौक से धारण करते हैं क्या! यही सद्धर्म है?

७. जब आपके हृदयमें अपनी ही संस्थाओंके प्रति सहयोगकी पवित्र भावना नहीं, अपनी ही संस्थाओंका आप एकीकरण नहीं कर सकते फिर किस मुँहसे कहते हैं कि हिन्दुस्तान पाकिस्तान एक हो जाएँ ?

८. पवित्रता का सर्वश्रेष्ठ साधक आप जिन मन्दिरोंको कहते है उनमें किसीमें लाखोंकी सम्पत्ति व्यर्थ पड़ी है तो किसीमें पूजाके उपकरण भी साबित नहीं हैं! एक मन्दिरमें संगमर्मरके टाइल जड़ रहे हैं तो दूसरे मन्दिरकी छत चू रही है! क्या यही धर्म है? यही पवित्रता है?
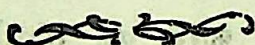
क्षमा

१. क्रोध चरित्रमोहकी प्रकृति है उससे आत्माके संयम गुण का घात होता है। क्रोधके अभावमें प्रकट होनेवाला क्षमा गुण संयम है, चारित्र है क्योंकि राग द्वेष के अभाव को ही चरित्र करते हैं।

२. क्षमा सबसे उत्तम धम है जिसके क्षमा धर्म प्रकट हो जावेगा उसके मार्दव, आर्जव एवं शौच धर्म भी अवश्यमेव प्रकट हो जावेंगे। क्रोधके अभावसे आत्मामें शान्ति गुण प्रकट होता है। वैसे तो आत्मामें शान्ति सदा विद्यमान रहती है क्योंकि वह आत्माका गुण है, स्वभाव है। गुण गुणीसे दूर कैसे हो सकता है? परन्तु निमित्त मिलने पर वह कुछ समयके लिए तिरोहित हो जाता है। स्फटिक स्वभावतः स्वच्छ होता है पर उपाधिके संसर्गसे अन्यरूप हो जाता है। पर वह क्या उसका स्वभाव कहलाने लगेगा? नहीं। अग्निका संसर्ग पाकर जल ऊष्ण हो जाता है पर वह उसका स्वभाव तो नहीं कहलाता। स्वभाव तो शीतलता ही है जहाँ अग्निका सम्बन्ध दूर हुआ कि फिर शीतलका शीतल हो जाता है।

३. क्रोधके निमित्तसे आदमी पागल हो जाता है और इतना पागल कि अपने स्वरूप तकको भूल जाता है। वस्तुकी यथार्थता उसकी दृष्टिसे लुप्त हो जाती है। एकने एकको

घूँसा मार दिया वह उसका घूँसा काटनेको तैयार हो गया पर इससे क्या मिला? घूँसा मारने का जो निमित्त है उसे दूर करना था।

४. क्रोधमें यह मनुष्य कुक्कर वृत्ति पर उतारू हो जाता है। कोई कुत्तेको लाठी मारता है तो वह लाठीको दाँतोंसे चबाने लगता है पर सिंह बन्दूककी ओर न झपट कर बन्दूक मारने वाले की ओर झपटता है। विवेकी मनुष्यकी दृष्टि सिंह की तरह होती है। वह मूल कारणको दूर करनेका प्रयत्न करता है। आज हम क्रोधका फल प्रत्यक्ष देख रहे हैं लाखों निरपराध प्राणी मारे गये और मारे जा रहे हैं। इसलिए क्षमाका वह जल आवश्यक है जो क्रोध ज्वालाका शमन कर सके।

५. क्रोध शान्तिके समय कौन-सा अपूर्व कार्य नहीं होता मोक्ष मार्गमें प्रवेश होना ही अपूर्व कार्य है, शान्तिके समय उसकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। आप लोग प्रयत्न कीजिये कि मोक्ष-मार्गमें प्रवेश हो और संसार के अनादि बन्धन खुल जायँ।

६. जीवनके प्रारम्भमें जिसने क्षमा धारण नहीं की वह अन्तिम समय क्या क्षमा करेगा? मैं तो आज क्षमा चाहता हूँ।

७. आज वाचनिक क्षमाकी आवश्यकता नहीं है हार्दिक क्षमासे ही आत्माका कल्याण हो सकता है। क्षमाके अभाव में अच्छे से अच्छे आदमी बरबाद हो जाते हैं। दरभंगा में दो भाई थे दोनों इतिहासके विद्वान थे। एक बोला कि आल्हा पहले हुआ है। दूसरा बोला कि ऊदल, इसीसे दोनों में लड़ाई

हो पड़ी। आखिर मुकद्दमा चला और जागीरदारसे किसान की हालतमें आ गये। क्रोधसे किसका भला हुआ है ?

८. क्षमा सर्व गुणोंकी भूमि है। इसमें सब गुण सरलता से विकसित हो जाते हैं। क्षमा से भूमि की शुद्धि होती है, जिसने भूमि को शुद्ध कर लिया उसने सब कुछ कर लिया। एक गाँवमें दो आदमी थे एक चित्रकार और दूसरा अचित्रकार। अचित्रकार चित्र बनाना तो नहीं जानता था पर था प्रतिभाशाली। चित्रकार बोला कि मेरे समान कोई चित्र नहीं बना सकता, दूसरे को उसकी गर्वोक्ति सह्य नहीं हुई। उसने झटसे कह दिया कि मैं तुझसे अच्छा चित्र बना सकता हूँ, विवाद चल पड़ा। अपना अपना कौशल दिखानेके लिये दोनों तुल पड़े। तय हुआ कि दोनों चित्र बनावें फिर अन्य परीक्षकोंसे परीक्षा कराई जाय। एक कमरेकी आमने सामने की दीवालों पर दोनों चित्र बनाने को तैयार हुए। कोई किसी का चित्र न देख सके इसलिये बीच में पर्दा डाल दिया गया। चित्रकारने कहा कि मैं १५ दिन में चित्र तैयार कर लूँगा। इतने ही समय में तुझे भी करना होगा। उसने कहा कि मैं पौने पन्द्रह दिन में तैयार कर दूगा घबड़ाते क्यों हो। चित्रकार चित्र बनानेमें लग गया और दूसरा दीवाल साफ करने में। उसने पन्द्रह दिन में दीवाल इतनी साफ कर दी कि काँचके समान स्वच्छ हो गई। पन्द्रह दिन बाद लोगोंके सामने बीच का परदा हटाया गया। चित्रकारका पूरा चित्र उस स्वच्छ दीवालमें इस तरह प्रतिबिम्बित हो गया कि उसे स्वयं अपने मुँहसे कहना पड़ा कि तेरा चित्र अच्छा है। क्या उसने चित्र बनाया था ? नहीं, केवल ज़मीन ही स्वच्छ की थी पर उसका चित्र बन गया और प्रतिद्वन्दीकी अपेक्षा अच्छा रहा।

आप लोग क्षमा धारण करें चाहे उपवास एकासन आदि व्रत न करें क्योंकि क्षमा ही धर्म है और धर्म ही चारित्र है।

९. यह जीव अनादिकालसे पर पदार्थको अपना समझ कर व्यर्थ ही सुखी दुखी होता है जिसे यह सुख समझता है वह सुख नहीं है सच्चा सुख क्षमतामें है। वह ऊचाई नहीं जहाँ से फिर पतन हो, वह सुख नहीं जहाँ फिर दुखकी प्राप्ति हो।

१०. सच्चा सुख क्षमामें है शेष जो है वह वैषयिक और पराधीन है, बाधा सहित हैं, उतने पर भी नष्ट हो जानेवाले हैं और अगामी दुःखके कारण हैं। कौन समझदार इसे सुख कहेगा?

११. इस शरीरसे आप स्नेह करते हैं पर इस शरीरमें है क्या? आप ही बताओ माता पिताके रज वीर्यसे इसकी उत्पत्ति हुई। हड्डी, मांस, रुधिर आदिका स्थान है। उसीकी फुलवारी है यह मनुष्य पर्याय साँटेके समान है। सांटेकी जड़ तो सड़ी होनेसे फेंक दी जाती है, बाँड़ भी बेकाम होता है मध्य में कीड़ा लग जाने से बेस्वाद हो जाता है। इसी प्रकार इस मनुष्य की वृद्ध अवस्थामें शरीरके शिथिल हो जानेसे गन्ने की सड़ी जड़ोंके समान बेकार है। बाल अवस्था अज्ञानीकी अवस्था है, अतः गन्ने की बांड के सदृश्य वह भी बेकार है। मध्य दशा (युवावस्था) अनेक रोग और संकटोंसे भरी हुई है उसमें कितने भोग भोगे जा सकेंगे? पर यह जीव अज्ञान वश अपनी हीरा सी मनुष्य पर्याय व्यर्थ ही खो देता है।

१२. जिस प्रकार बातकी व्याधिसे मनुष्यके अंग-अंग दुखने लगते हैं उसी प्रकार कषायसे, विषयेच्छा से इसकी आत्माका प्रत्येक प्रदेश दुखी हो रहा है। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि क्षमाधर्म का अमृत पीकर अमर होनेकी चेष्टा करे।

समाधिमरण

१. समाधि निस्पृह पुरुषोंके तो निरन्तर रहती है परन्तु जन्मसे जन्मान्तर होनेका ही नाम मरण है, और जहाँ साम्यभोवसे प्राण विसर्जन होता है उसे समाधिमरण कहते हैं।

२. समाधिमरणके लिये प्रायः निर्मल निमत्त होने चाहिए।

३. जिनका उत्तम भविष्य है उनको घोर उपसर्ग आदि (समाधिमरण के विरुद्ध प्रबल कारणों) के उपस्थित होने पर भी उत्तम गति हुई। इसलिए निमित्त कारणोंके ही जाल में फँसा रहना अच्छा नहीं।

४. समाधिमरणके लिये आत्मपरिणामोंको निर्मल करनेमें यह अपना पुरुषार्थ लगा देना चाहिए क्योंकि जिन जीवोंके निरन्तर निर्मल परिणाम रहते हैं वे नियम से सद्गति के पात्र होते हैं।

५. समाधिके लिये आचार्योंकी आज्ञा है कि कायको कृश करनेसे पहिले कषायको कृश करो, क्योंकि काय पर द्रव्य है। उसकी कृशता और पुष्टता न तो समाधिमरणमें साधक है न बाधक है। जब कि कषाय अनादिकालसे स्वाभाविक पदको

बाधक है। क्योंकि कषायके सद्भावमें जब आत्मा कलुषित हो जाता है तब मद्यपायीकी तरह नाना प्रकारकी विपरीत चेष्टाओं द्वारा अनन्त संसारकी यातनाओं का ही भोक्ता रहता है और जब कषायों की निर्मूलता हो जाती है तब आत्मा अनायास अपने स्वाभाविक पदका स्वामी हो जाता है। अतः समाधि-मरण के लिए जो औदयकादिक हों उनमें आत्मीय बुद्धि न होना यही अर्थ कषाय की कृशता का है। केवल कषायों की कृशता ही उपयोगिनी है।

६. समाधिमरण करनेवालोंको बाह्य कारणोंको गौण कर केवल रागादिककी कृशता पर निरन्तर उद्यत रहना श्रेयस्कर है।

७. समाधिमरणके समय प्रज्ञा होना आवश्यक है क्योंकि प्रज्ञा एक ऐसी प्रबल छैनी है कि जिसके पड़ते ही बन्ध और आत्मा जुदे जुदे हो जाते हैं—आत्मा और अनात्माका ज्ञान कराना प्रज्ञाके अधीन है। जब आत्मा और अनात्माका ज्ञान होगा तब ही तो मोक्ष हो सकेगा। परन्तु इस प्रज्ञारूपी देवी का प्रयोग बड़ी सावधानीके साथ करना चाहिए। निजका अंश छूटकर परमें न मिल जाय और परका अंश निजमें न रह जाय यही सावधानीका तात्पर्य है। समाधिमरण के सन्मुख व्यक्तिको शरीरसे ममत्व और पर पदार्थोंसे आत्मीयताका भाव दूर कराकर सद्गतिकी कामनाके लिये उसे सदा इन बातोंका स्मरण दिलाते रहना चाहिये—

"धन धान्यादिक जुदे हैं, स्त्री पुत्रादिक जुदे हैं, शरीर जुदा है, रागादिक भावकर्म जुदे हैं, द्रव्यकर्म जुदे हैं, मति-ज्ञानादि औपशमिक ज्ञान जुदे हैं—यहाँ तक कि ज्ञान में

प्रतिबिम्बित होनेवाले ज्ञेयके आकार भी जुदे हैं। इस प्रकार स्वलक्षणके बलसे भेद करते करते अन्तमें जो शुद्ध चैतन्य भाव बाकी रह जाता है वही निजका अंश है, वही उपादेय है, उसीमें स्थिर हो जाना मोक्ष है। प्रज्ञाके द्वारा जिसका ग्रहण होता है वही चैतन्य रूप "मैं" हूँ। इसके सिवाय अन्य जितने भाव हैं निश्चयसे वे पर द्रव्य हैं—पर पदार्थ हैं। आत्मा ज्ञाता है दृष्टा है। वास्तवमें ज्ञाता दृष्टा होना ही आत्माका स्वभाव है। पर इसके साथ जो मोहकी पुट लग जाती है वही समस्त दुःखोंका मूल है। अन्य कर्मके उदयसे तो आत्मा का गुण रुक जाता है पर मोहका उदय इसे विपरीत परिणाम देता है। अभी केवलज्ञानावरणका उदय है उसके फल स्वरूप केवलज्ञान प्रकट नहीं हो रहा है परन्तु मिथ्यात्वके उदयसे आत्माका आस्तिक्य गुण अन्यथारूप परिणाम रहा है। आत्माका गुण रुक जाय इससे हानि नहीं पर मिथ्यारूप हो जानेमें महान हानि है।

एक आदमीको पश्चिमकी ओर जाना था कुछ दूर चलने पर उसे दिशा भ्रान्ति हो गई, वह पूर्व को पश्चिम समझकर चला जा रहा है उसके चलनेमें बाधा नहीं आई पर ज्यों-ज्यों चलता जाता है त्यों-त्यों अपने लक्ष्य स्थान से दूर होता जाता है।

एक आदमीको दिशा भ्रान्ति तो नहीं हुई पर पैरमें लकवा मार गया इससे चलते नहीं बनता। वह अचल होकर एक स्थान पर बैठा रहता है, पर अपने लक्ष्यका बोध होनेसे वह उससे दूर तो नहीं हुआ—कालान्तरमें पैर ठीक होनेसे शीघ्र ही ठिकाने पर पहुँच जायगा।

एक आदमीको आँखमें कामला रोग हो गया जिससे उसका देखना बन्द तो नहीं हुआ, देखता है पर सभी वस्तुए

पीली-पीली दिखतीं हैं जिससे उसे वर्ण का वास्तविक बोध नहीं हो पाता।

एक आदमी परदेश गया वहाँ उसे कामला रोग हो गया। घर पर स्त्री थी उसका रंग काला था जब वह परदेश से लौटा और घर आया तो उसे स्त्री पीली-पीली दिखी, उसने उसे भगा दिया कि मेरी स्त्री तो काली थी तूँ यहाँ कहाँसे आई। वह कामला रोग होनेसे अपनी ही स्त्रीको पराई समझने लगा।

इसी प्रकार मोहके उदयमें यह जीव १—कभी भ्रममें अपने लक्ष्यसे विपरीत ही चलता है, २—कभी शक्तिसे असमर्थ होकर कुछ कालके लिये अकिंचित्कर हो जाता है, ३—कभी विपरीत ज्ञान होने पर उलटा समझता है तो कभी ४—अपनी वस्तुको पराई समझने लगता है और कभी कभी पर को अपनी। यही संसारका कारण है। प्रयत्न ऐसा करो कि जिससे पापका बाप यह मोह आत्मासे निकल जाय। हिंसादिक पाँच प प अवश्य हैं पर वे मोहके समान अहितकर नहीं हैं। पापका बाप यही मोह कर्म है यही दुनियाको नाच नचाता है।

मोह दूर हो जाय और आत्मा के परिणाम निर्मल हो जाँय तो संसारसे आज छुट्टी मिल जाय।

ज्ञानके भीतर जो अनेक विकल्प उठते हैं उसका कारण मोह ही है। किसी व्यक्तिको आपने देखा यदि आपके हृ य में उसके प्रति मोह नहीं है तो कुछ भी विकल्प उठने का नहीं। आपको उसका ज्ञान भर हो जायगा। पर जिसके हृदय में उसके प्रति मोह है उसके हृदयमें अनेक विकल्प उठते हैं। यह विद्वान है यह अमुक कार्य करता है इसने अभी भोजन किया या नहीं आदि। बिना मोह के कौन पूछने चला कि इसने अभी खाया है या नहीं?

मोहके निमित्तसे ही आत्मामें एक पदार्थको जान कर दूसरा पदार्थ जानने की इच्छा होती है। जिसके मोह निकल जाता है उसे एक आत्मा ही आत्माका बोध होने लगता है। उसकी दृष्टि बाह्य ज्ञेय की ओर जाती ही नहीं है। ऐसी दशामें आत्मा आत्माके द्वारा आत्माको आत्माके लिए आत्मासे आत्मा में ही जानने लगता है। एक आत्मा ही षट्कारक रूप हो जाता है। सीधी बात यह है कि उसके सामनेसे कर्ता कर्म करणादिका विकल्प हट जाता है।

७. चेतना यद्यपि एकरूप है फिर भी वह सामान्य विशेष के भेद से दर्शन और ज्ञान रूप हो जाता है। जब कि सामान्य और विशेष पदार्थ मात्रका स्वरूप है तब चेतना उसका त्याग कैसे कर सकती है। यदि वह उसे भी छोड़ दे तब तो अपना अस्तित्व ही खो बैठे और इस रूपमें वह जड़ रूप हो आत्माका भी अन्त कर दे सकती है इसलिए चेतना का द्विविध परिणाम होता ही है। हाँ चेतनाके अतिरिक्त अन्य भाव आत्माके नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझने लगना कि आत्मामें सुख, वीर्य आदि गुण नहीं हैं। उसमें तो अनन्त गुण विद्यमान हैं और हमेशा रहेंगे। परन्तु अपना और उन सबका परिचायक होनेसे मुख्यता चेतनाको ही दी जाती है। जिस प्रकार पुद्गलमें रूप रसादि गुण अपनी अपनी सत्ता लिये हुए विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार आत्मामें भी ज्ञान दर्शन आदि अनेक गुण अपनी अपनी सत्ताको लिये हुए विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार चेतनातिरिक्त पदार्थोंको पर रूप जानता हुआ ऐसा कौन बुद्धिमान है जो कहे कि ये मेरे हैं। शुद्ध आत्माको जाननेवालेके ये भाव तो कदापि नहीं हो सकते।

इसलिये यदि सद्गति और शास्वत सुखकी अभिलाषा है तो स्त्री पुत्रादि कुटुम्बियों से, शरीर धनधान्यादि परपदार्थों से मोह एवं आत्मीयताको छोड़ अपनी अनन्त शक्ति पर विश्वास करो।

विद्यार्थियों को शुभ सन्देश

विद्यार्थियों को शुभ सन्देश

१. विद्यार्थी जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि विद्यार्थी अपनी शक्तिका सदुपयोग करें। छात्रोंका जीवन तभी सार्थक हो सकता है जब वे अपने जीवनकी रक्षा और अपने बहुमूल्य समयका सदुपयोग करें। बुद्धिका सदुपयोग ही उसका सच्चा विकास है। अन्यथा जिससे बाल्यकालमें ऐसी आशा थी कि यह यौवनावस्थामें संसारमें ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति होगा कि संसार का कल्याण करेगा, वह अपना ही कल्याण न कर सका! केवल गल्पवादके रसिक होनेसे छात्र जीवनकी सार्थकता नहीं है यह तो उसका अपव्यय है।

२. विद्यार्थीको सबसे पहिले शिक्षाका महत्त्व समझना चाहिए जिसके लिए वह घर द्वार छोड़कर यहां वहां दौड़ा दौड़ा फिरता है। शिक्षाके महत्त्वके संबंधमें केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शिक्षासे इस लोककी तो कथा ही छोड़ो पर लोकमें भी सुख मिलता है। शिक्षाका स्वरूप ही प्राणियोंको सुख देना है क्योंकि शिक्षा ही एक ऐसा अमोघ मन्त्र है जो दुःखातुर संसारको सच्चा सुख प्रदान कर सकता है।

३. जितने संस्कृतके विद्वान् हैं वे तो अपने बालकोंको अर्थकरी विद्या (अँग्रेजी) पढ़ाने में लगा देते हैं! जो बालक

सामान्य परिस्थितिवालोंके हैं उनकी यह धारणा होती है कि संस्कृत विद्या पढ़नेसे कुछ लौकिक वैभव तो मिलता नहीं, पारलौकिककी आशा तब की जावे जब कुछ धनार्जन हो, अतः वे बालक भी संस्कृत पढ़नेसे उदास हो जाते हैं। रहे धनाढ्यों के बालक सो उनके अभिभावकोंके विचार ही ये रहते हैं कि हमको पण्डित थोड़े ही बनाना है जो हमारे बालक संस्कृत पढ़ने के लिए दर दर भटकें। हमारे ऊपर जब धनकी कृपा है तब अनायास बीसों पण्डित हमारे यहाँ आते ही रहेंगे अतः वे भी वही अर्थकरी विद्या (अङ्गरेजी) पढ़ाकर बालकोंको दुकान-दारीके धन्धेमें लगा देते हैं। इस तरह आज कल पाश्चात्य विद्याकी तरफ ही लोगों का ध्यान है और जो आत्मकल्याण की साधक संस्कृत और प्राकृत विद्या है उस ओर समाजका लक्ष्य नहीं। परन्तु छात्रोंको इससे हताश नहीं होना चाहिए। यह सत्य है कि लौकिक सुखोंके लिए पाश्चात्य विद्या (अंग्रेजी) का अभ्यास करके अनेक यत्नों से धनार्जन कर सकते हैं परन्तु लौकिक सुख स्थायी नहीं, नश्वर है अनेक अकुलताओं का घर है, इसलिए विद्यार्थियों का कर्तव्य है कि वे प्राचीन संस्कृत विद्याके पारगामी पण्डित बनकर जनता के समक्ष वास्तविक तत्त्वके स्वरूप को रखें।

छात्र जीवनको सफल बनानेके लिए ये बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१. परोपकारके अन्तस्तलमें यदि स्वोपकार निहित नहीं तब वह परोपकार निर्जीव है। विद्यार्थीका स्वोपकार उसका अध्ययन है अतः सर्व प्रथम उसीकी ओर ध्यान देना चाहिए। हमें प्रसन्नता इसी बातमें होगी कि विद्यार्थी बीच में अपना पठन-पाठन न छोड़ें, जिस विषयको प्रारम्भ करें गम्भीरता के

साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करें, पठित विषय पर अपना पूर्ण अधिकार रखनेका प्रयास करें।

२. शारीरिक संस्कारोंसे अपनी प्रवृत्तिको कलुषित न होने दें। ब्रह्मचर्यके संरक्षणका पूर्ण ध्यान रखें।

३. अन्य सभी कामोंके पहले जितनी शिक्षा प्राप्त करना हो उसे पूर्ण करके ही दूसरे कार्य करने का विचार करें।

४. छात्र जीवनमें सदाचार पर पूर्ण ध्यान दें।

५. स्वप्नमें भी दैन्यवृत्तिका समागम न होने दें।

६. अभिमान की मात्रा मर्यादातीत न हो परन्तु साथ ही साथ स्वाभिमान जैसा धन भी सुरक्षित रहे।

७. गुरुके प्रति भक्ति हो, अभिप्राय निर्मल हो।

८. मनोवृत्ति दूषक साहित्य और चित्रपट देखने से दूर रहें।

९. उत्तम पुरुषोंके ही जीवनचरित अधिकांश पढ़ें। अधम पुरुषोंके भी जीवन चरित पढ़ें परन्तु उनके पढ़ने में विधि निषेध का ज्ञान अवश्य रखें।

१०. विद्याध्ययनके कालमें शक्ति और समयानुसार धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन अवश्य करें।

११. "सन्तोष सबसे बड़ा धन है, और "सादगी सबसे अच्छा जीवन है" इन बातोंका स्मरण रखें।
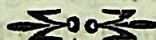
ब्रह्मचर्य

१. ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ "आत्मा में रमण करना है।" परन्तु आत्मामें आत्माका रमण तभी हो सकता है जब कि चित्तवृत्ति विषय वासनाओंसे निर्लिप्त हो, विषयाशासे रहित होकर एकाग्र हो। इस अवस्थाका प्रधान साधक वीर्यका संरक्षण है अतः वीर्यका संरक्षण ही ब्रह्मचर्य है।

२. आत्मशक्तिका नाम वीर्य है, इसे सत्त्व भी कहते हैं। जिस मनुष्यके शरीरमें वीर्य शक्ति नहीं वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं बल्कि लोकमें उसे नपुंसक कहा जाता है।

३. आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार शरीरमें सप्त धातुएँ होती हैं—१ रस २ रक्त, ३ मांस, ४ मेदा, ५ हड्डी, ६ मज्जा और ७ वीर्य। इनका उत्पत्तिक्रम रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेदा, मेदासे हड्डी, हड्डीसे मज्जा और मज्जासे वीर्य बनता है। इस उत्पत्ति क्रमसे स्पष्ट है कि छटवीं मज्जा धातुसे बननेवाली सातवीं शुद्ध धातु वीर्य है। अच्छा स्वस्थ मनुष्य जो आधा सेर भोजन प्रतिदिन अच्छी तरह हजम कर सकता है वही ८० दिनमें ४० सेर याने एक मन अनाज खाने पर केवल एक तोला शुद्ध धातु वीर्यका सञ्चय कर सकता है! इस हिसाबसे एक दिनका सञ्चय केवल १। सवा रतीसे कुछ कम ही पड़ता है! इसीलिए यह कहा जाता है कि हमारे शरीर

में वीर्य शक्ति ही सर्व श्रेष्ठ शक्ति है, वही हमारे शरीरका राजा है। जिस तरह राजाके बिना राज्यमें नाना प्रकारके अन्याय मार्गोंका प्रसार होनेसे राज्य निरर्थक हो जाता है उसी तरह इस शरीरमें इस वीर्य शक्तिके बिना शरीर निस्तेज हो जाता है, वह नाना प्रकारके रोगोंका आरामगृह बन जाता है। अतः इस अमूल्य शक्तिके संरक्षणकी ओर जिनका ध्यान नहीं वे न तो लौकिक कार्य करनेमें समर्थ हो सकते हैं और न पारमार्थिक कार्य करनेमें समर्थ हो सकते हैं।

४. ब्रह्मचर्य संरक्षणके लिए न केवल विषय भोगका निरोध आवश्यक है अपितु तद्विषयक वासनाओं और साधन सामग्रीका निरोध भी आवश्यक है। १ अपने रागके विषयभूत स्त्री पुरुष का स्मरण करना, २ उनके गुणोंकी प्रशंसा करना, ३ साथमें खेलना, ४ विशेष अभिप्रायसे देखना, ५ लुक छिपकर एकान्तमें वार्तालाप करना, ६ विषय सेवन का विचार और ७ तद्विषयक अध्यवसाय ब्रह्मचर्य के घातक होने से विषय सेवनके सदृश ही हैं। इसीलिए आचार्योंने ब्रह्मचर्य का पालन करनेवालेको स्त्रियोंके सम्पर्कसे दूर रहनेका आदेश दिया है। यहाँ तक कि स्त्री समागमको ही संसार-वृद्धिका मूल कारण कहा है क्योंकि स्त्री-समागम होते ही पाँचों इन्द्रियों के विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूपको निरंतर देखनेकी अभिलाषा बनी रहती है। वह निरंतर सुन्दर रूपवाली बनी रहे, इसके लिए अनेक प्रकारके उपटन, तेल आदि पदार्थोंके संग्रह में व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदिसे दुर्गन्धित न हो जाय, अतः निरन्तर चन्दन, तेल इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओंका संग्रह कर उस पुतलीकी सम्हालमें संलग्न रहता है। उसके केश निरन्तर लंबायमान रहें अतः

उनके लिये नाना प्रकारके गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तेलों का संग्रह करता है तथा उसके सरस कोमल, मधुर शब्दों का श्रवण कर अपनेको धन्य मानता है और उसके द्वारा सं न्न नाना प्रकारके रसास्वाद लेता हुआ फूला नहीं समाता है। उसके कोमल अंगोंको स्पर्श कर आत्मीय ब्रह्मचर्यका और बाह्य में शरीर-सौंदर्य का कारण वीर्य का पात होते हुए भी अपनेको धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्री समागम से ये मोही पंचेन्द्रियों के विषयोंमें मकड़ीके जालकी तरह फँस जाते हैं। इसी लिये ब्रह्मचर्यको असिधारा व्रत, महान् धर्म और महान् तप कहा है।

५. धर्म साधनका कारण मनुष्यका स्वस्थ शरीर कहा गया है। इसलिए ही नहीं अपितु जीवनके संरक्षण और उसके आदर्श निर्माणके लिये भी जो १ शान्ति, २ कान्ति, ३ स्मृति, ४ ज्ञान, ५ निरोगिता जैसे गुण आवश्यक हैं उनकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यका पालन नितान्तावश्यक है।

६. यह कहते हुए लज्जा आती है, हृदय दुःखसे द्रवीभूत हो जाता है कि जिस अद्भुत वीर्य शक्तिके द्वारा हमारे पूर्वजों ने लौकिक और पारमार्थिक कार्य कर संसारके संरक्षणका भार उठाया था आजकल उस अमूल्य शक्तिका बहुत ही निर्विचारके साथ ध्वंस किया जा रहा है। आजसे १००० वर्ष पहिले इसकी रक्षाका बहुत ही सुगम उपाय था—ब्रह्मचर्यको पालन करते हुए बालक गण गुरुकुलोंमें वासकर विद्योपार्जन करते थे। आजकी तरह उन दिनों चमक दमक प्रधान विद्यालय न थे और न आज जैसा यह वातावरण ही था। उन्नति का जहाँ तक प्रश्न है प्रगतिशीलता साधक है परन्तु वह प्रगतिशीलता खटकनेवाली है जिससे रागकी वृद्धि और आत्माका

घात होता हो। माना कि आजकलके विद्यालयोंमें वैसे शिक्षक नहीं जिनके अवलोकन मात्रसे शान्तिकी उद्भूति हो! छात्रों पर वह पुत्र प्रेम नहीं जिसके कारण छात्रोंमें गुरु आदेश पर मर मिटनेकी भावना हो। और न छात्रोंमें वह गुरुभक्ति है जिसके नाम पर विद्यार्थी असंभवको संभव कर दिखाते थे। इसका कारण यही था कि पहलेके गुरु छात्रोंको अपना पुत्र ही समझते थे। अपने पुत्रके उज्वल भविष्य निर्माणके लिए जिन संस्कारों और जिस शिक्षाकी आवश्यकता समझते थे वही अपने शिष्योंके लिये भी करते थे। परन्तु अब तो पांसे उलटे ही पड़ने लगे हैं! अन्य बातोंको जाने दीजिये शिक्षा में भी पक्षपात होने लगा है। गुरुजी अपने सुपुत्रोंको अँग्रेजी पढ़ाना हितकर समझते हैं तब अपने शिष्यों (दूसरोंके लड़कों) को संस्कृत पढ़ाते हैं! भले ही संस्कृत आत्मकल्याण और उभय लोकमें सुखकारी है परन्तु इस विषम वातावरणसे उस आदर्श संस्कृत भाषा और उस अतीतके आदर्शों पर छात्रोंकी अश्रद्धा होती जाती है जिनसे वे अपनेको योग्य बना सकते हैं। आवश्यक यह है कि गुरु शिष्य पुनः अपने कर्तव्योंका पालन करें जिससे प्रगतिशील युग में उन आदर्शों की भी प्रगति हो, विद्यालयोंके विशाल प्राङ्गणों में ब्रह्मचारी बालक खेलते कूदते नजर आवें और गुरुवर्ग उनके जीवन निर्माता और सच्चे शुभचिन्तक बनें।

७. ब्रह्मचर्य साधनके लिये व्यायाम द्वारा शरीरके प्रत्येक अङ्गको पुष्ट और संगठित बनाना चाहिये। सादा भोजन और व्यायामसे शरीर ऐसा पुष्ट होता है कि वृद्धावस्था तक सुदृढ़ बना रहता है। जो भोजन हम करते हैं उसे जठराग्नि पचाती है फिर उसका धातु उत्पत्ति क्रमानुसार रसादि परम्परा से वीर्य बनता है। इस तरह वीर्य और जठराग्निमें परस्पर

सम्बन्ध है—एक दूसरेके सहायक हैं। इन्हींके अधीन शरीर की रक्षा है, इनकी स्वस्थता में शरीर की स्वस्थता है। प्राचीन समयमें इसी अखण्ड ब्रह्मचर्यके बलसे मनुष्य बद्ध-वीर्य उर्ध्वरेता कहे जाते थे।

८. जिस शक्तिको छात्रवृन्द अहर्निश अध्ययन कार्यमें लाते हैं वह मेधा शक्ति भी इसी शक्तिके प्रसादसे बलवती रहती है, इसीके बल से अभ्यास अच्छा होता है, इसी के बल से स्मरण शक्ति अद्भुत बनी रहती है। स्वामी अकलङ्कदेव, स्वामी विद्यानन्दि, महाकवि तुलसीदास, भक्त सूरदास और पण्डितप्रवर तोडरमलकी जो विलक्षण प्रतिभा थी वह इसी शक्ति का वरदान था।

९. आजकल माता पिताका ध्यान सन्तानके सुसंस्कारों की रक्षाकी ओर नहीं है। धनाढ्यसे धनाढ्य भी व्यक्ति अपने बच्चोंको जितना अन्य आभूषणोंसे सज्जित एवं अन्य वस्तुओं से सम्पन्न देखनेकी इच्छा रखते हैं उतना सदाचारादि जैसे गुणोंसे विभूषित और शील जैसी सम्पत्तिसे सम्पन्न देखने की इच्छा नहीं रखते। प्रत्युत उसके विरुद्ध ही शिक्षा दिलाते हैं जिससे कि सुकुमारमति बालकको सुसंगतिकी अपेक्षा कुसङ्गतिका प्रश्रय मिलता है। फल स्वरूप वे दुराचरणके जाल में फँसकर नाना प्रकारकी कुत्सित चेष्टाओं द्वारा शरीरकी संरक्षण शक्तिका ध्वंस कर देते हैं। दुराचारसे हमारा तात्पर्य केवल असदाचरणसे नहीं है किन्तु १—आत्माको विकृत करनेवाले नाटकोंका देखना, २—कुत्सित गाने सुनना, ३ शृङ्गार वर्धक उपन्यास पढ़ना, ४ बाल विवाह, (छोटे छोटे वर कन्या का विवाह) ५ वृद्ध विवाह और ७ अनमेल विवाह (वर

छोटा कन्या बड़ी, या कन्या छोटी वर बड़ा) जैसे सामाजिक और वैयक्तिक पतनके कारणोंसे भी हैं।

मेरी समझमें इन घृणित दुराचारोंको रोकनेका सर्व श्रेष्ठ उपाय यही है कि माता पिता अपने बच्चोंको सबसे पहिले सदाचारके संस्कारसे ही विभूषित करनेकी प्रतिज्ञा करें। सदाचार एक ऐसा आभूषण है जो न कभी मैला हो सकता है न कभी खो सकता है। वह व्यक्तिके साथ छायाकी तरह सदा साथ रहता है। बालक ही वे युवक होते हैं जो एक दिन पिताका भार ग्रहण कर कुटुम्बमें धर्म परम्परा चलाते हैं, बालक ही वे नेता होते हैं जो समाजका नेतृत्व कर उसे नवीन जीवन और जागृति प्रदान करते हैं, यहाँ तक कि बालक ही वे महर्षि होते हैं जो जनताको कल्याण पथका प्रदर्शन कर शान्ति और सच्चा सुख प्राप्त करानेमें सहायक बनते हैं।

१०. गृहस्थोंके संयममें सबसे पहले इन्द्रिय संयमको कहा है। उसका कारण यही है कि ये इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं कि वे आत्माको हटात् विषयकी ओर ले जाती हैं, मनुष्यके ज्ञानादि गुणोंको तिरोहित कर देती हैं, स्वीय विषयके साधन निमित्त मनको सहकारी बनाती हैं, मनको स्वामीके बदले दास बना लेतीं हैं! इन्द्रियोंकी यह सबलता आत्म कल्याण में बाधक है अतः उनका निग्रह अत्यावश्यक है। उपाय यह है कि सर्व प्रथम इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति ही उस ओर न होने दो परन्तु यदि जब कोई इन्द्रियका समभिधान हो रहा है, कोई प्रतिबन्धक कारण विषय निवारक नहीं है, और आप उसके ग्रहण करनेके लिए तत्पर हो गये हैं तो उसी समय आपका कार्य है कि इन्द्रियको विषयसे हटाओ। उसे यह

निश्चय करा दो कि तेरी अपेक्षा मैं ही बलशाली हूँ,तुझे विषय ग्रहण न करने दूंगा। जहां दस पांच अवसरों पर आपने इस तरह विजय पा ली अपने आप इन्द्रियां आपके मनके अधीन हो जावेंगी। जिस विषय सेवन करनेसे आपका उद्देश्य काम तृप्त करनेका था वह दूर होकर शरीर रक्षाकी ओर आपका ध्यान आकर्षित हो जायगा। उस समय आपकी यह दृढ़ भावना होगी कि मेरा स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यवाला है। केवल इन कर्मोंने इस प्रकार जकड़ रखा है कि मैं निज परणतिको परित्याग कर इन विषयों द्वारा तृप्ति चाहता हूँ। यह विषय कदापि तृप्ति करनेवाले नहीं। देखनेमें तो किंपाक सदृश मनोहर प्रतीत होते हैं किन्तु परिपाकमें अत्यन्त विरस और दुःख देनेवाले हैं। मैं व्यर्थ ही इनके वश होकर नाना दुखों को खनि हो रहा हूँ। इस तरहकी भावनाओंसे जीवनमें एक नवीन स्फूर्ति और शुभ भावनाओंका सञ्चार होता है, विषयोंकी ओरसे विरक्ति होकर सुपथकी ओर प्रवृत्ति होती है।

११. जिन उत्तम और कुल शीलधारक प्राणियोंने गृहस्थावस्थामें उदासीनवृत्ति अवलम्बन कर विषय सेवन किए वे महानुभाव उस उदासीनताके बलसे इस परम पदके अधिकारी हुए। श्री भरत चक्रवर्तीको अन्तर्मुहूर्तमें ही अनन्त चतुष्टय लक्ष्मीने संवरण किया। वह महनीय पद प्राप्ति इसी भावनाका फल है। ऐसे निर्मल पुरुष जो विषयको केवल रोगवत् जान उपचारसे औषधिवत् सेवन करते हैं उन्हें यह विषयाशा नागिन कभी नहीं डँस सकती।

१२. संसारमें जो व्यक्ति काम जैसे शत्रुपर विजय पा लेते हैं वही शूर हैं। उन्हींकी शुभ कामनाओंके उदयाचल पर उस

दिव्य ज्योति तीर्थंकर सूर्यका उदय होता है जिसके उदय होते ही अनादिकालीन मिथ्यान्धकार ध्वस्त हो जाता है।

१३. ब्रह्मचर्य एक ऐसा व्रत है जिसके पालनेसे सम्पूर्ण व्रतोंका समावेश उसीमें हो जाता है तथा सभी प्रकारके पापों का त्याग भी उसी व्रतके पालनेसे हो जाता है। विचार कर देखिये जब स्त्री सम्बन्धी राग घट जाताहै तबअन्य परिग्रहोंसेसहज ही अनुराग घट जाता है क्योंकि वास्तवमें स्त्री ही घर है, घास-फूस, मिट्टी चूना आदि का बना हुआ घर घर नहीं कहलाता। अतः इसके अनुराग घटानेसे शरीरके श्रृङ्गारादि अनुराग स्वयं घट जाते हैं। माता पिता आदिसे स्नेह स्वयं छूट जाता है। द्रव्यादिकी वह ममता भी स्वयमेव छूट जाती है जिसके कारण गृहबन्धनसे छूटनेमें असमर्थ भी स्वयंमेव विरक्त होकर दैगम्बरी दीक्षाका अवलम्बन कर मोक्षमार्गका पथिक बन जाता है।

१४. ब्रह्मचर्यके साधकको मुख्य तया इन बातोंका विशेष ध्यान रखना चाहिये—

१. प्रातः ४ बजे उठकर धार्मिक स्तोत्रका पाठ और भगवन्नामस्मरण करनेके अनन्तर ही अन्य पुस्तकोंका अध्ययन पर्यटन या गृह कार्य किया जाय।

२. सूर्य निकलनेके पहले ही शौचादिसे निवृत्त होकर खुले मैदानमें अपनी शारीरिक शक्ति और समयानुसार दंड, बैठक, आसन, प्राणायाम आदि आवश्यक व्यायाम करे।

३. व्यायाम के अनन्तर एक घण्टा विश्रान्तिके उपरान्त ऋतुके अनुसार ठंडे या गरम जलसे अच्छी तरह स्नान करें। स्नानके अनन्तर एक घण्टा देव पूजा और शास्त्र स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्य कर दस बजेके पहिले तकका जो समय शेष रहे उसे अध्ययन आदि कार्योंमें लगावे।

४. दस बजे निर्द्वन्द्व होकर शान्त चित्तसे भोजन करे। भोजन सादा और सात्त्विक हो। भोजनमें लाल मिर्च आदि उत्तेजक, रबड़ी मलाई आदि गरिष्ठ एवं अन्य किसी भी तरहके चटपटे पदार्थ न हों।

५. भोजन के बाद आध घण्टे तक या तो खुली हवा में पर्यटन करे या पत्रावलोकन आदि ऐसा मानसिक परिश्रम करे जिसका भार मस्तिष्क पर न पड़े। बादमें अपने अध्ययनादि कार्य में प्रवृत्त हो।

६. शायंकाल चार बजे अन्य कार्योंसे स्वतन्त्र होकर शौचादि दैनिक क्रियासे निवृत्त होनेके पश्चात् ऋतुके अनुसार पाँच या साढ़े पाँच बजे तक सूर्यास्तके पहिले पहिले भोजन करे।

७. भोजनके पश्चात् एक घण्टे खुली हवामें पर्यटन करें। तदनन्तर दस बजे तक अध्ययनादि कार्य करे।

८. दस बजे सोनेके पूर्व ठण्डे जलसे घुटनों तक पैर और ऋतु अनुकूल हो तो शिर भी धोकर स्तोत्र पाठ या भगवन्नामस्मरण करके शयन करे।

९. सदा अपने कार्यसे कार्य रखे, व्यर्थ विवादमें न पड़े।

१०. अपने समयका एक एक क्षण अमूल्य समझ उसका सदुपयोग करे।

११. मनोवृत्ति दूषक साहित्य, नाटक, सिनेमा आदिसे दूर रहे।

१२. दूसरोंकी माँ बहिनोंको अपनी माँ बहिन समझे।

१३. "सत्संगति और विनय जीवनकी सफलताका अमोघ मन्त्र है" इसे कभी न भूले।

१४. जिनका विद्यार्थी या उदासीन जीवन नहीं है अपितु गृहस्थ जीवन है वे भी उक्त ब्रह्मचर्यके साधक नियमोंको ध्यानमें रखते हुये पर्वके दिनोंमें ब्रह्मचर्य व्रतका पालन कर अपने शरीरका संरक्षण करें।

१५. सबसे अच्छी रामवाण औषधि ब्रह्मचर्य है अतः उसके संरक्षणका सदा ध्यान रखें।
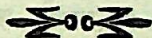
बाल्यावस्था

१. उन्नति और अवनतिके दो सुगम और दुर्गम मार्ग सदाचार और दुराचारकी ओर प्रवृत्ति और निवृत्तिका निर्णय यदि बाल्यावस्थामें ही बालकको करा दिया जाय तो उसके स्वर्णिम संसारमें ही उसे स्वर्गीय सौख्य सदनकी सुख, समृद्धि और शान्ति मिलने में कोई संशय नहीं है।

२. अच्छी और बुरी परम्पराओंका बीजारोपण बाल्यावस्थामें ही होता है। आदि भला तो अन्त भला।

३. जिन्हें आज धूलमें खेलते और गलियोंमें किलोल करते देखते हो, कौन जानता है उनमें कौन धूल भरा हीरा है ?

४. बच्चोंको जैसी शिक्षा दी जाती है वैसे ही उनके जीवनका निर्माण होता है। इसलिये उन्हें 'शिक्षा देनेवाला उतना ही निष्णात होना चाहिये जितना कि एक सन्मार्ग-दर्शक गुरु होता है।

५. बालक निर्द्वन्द्व ही जन्म लेता है, गुण दोषोंका ग्रहण तो वह अपने चारों ओरके अच्छे बुरे वातावरणसे करता है।

६. बालकोंकी निश्छल वृत्ति ही इस बातकी परिचायक होती है कि उन्हें बुरा बनानेकी अपेक्षा अच्छा बनाना अधिक सरल है।

७. छह सात माहकी अवस्थामें बालककी अभिलाषाएं उत्पन्न होती हैं और लगभग डेढ़ वर्षकी अवस्थामें उसमें समझ आती है। यहींसे उसकी अनुकरण प्रियता प्रारम्भ होती है, तब आवश्यक यह होता है कि उसके साथ रहनेवाले माता-पिता, भाई-बहिन, नौकर-चाकर सभी अपने सदाचार की सावधानी रखें जिससे बालकके जीवन पर अच्छे संस्कारों का प्रभाव पड़े। इस समय उसका अन्तःकरण उस स्वच्छ दर्पणकी भाँति होता है जिसके सामने रखे पदार्थोंका प्रतिबिम्ब उसमें ज्योंका त्यों झलक जाता है।

८. बालकको अक्षर ज्ञानके साथ सरल सरस सुबोध कहानियों द्वारा सत्य बोलना, परोपकार करना, उद्योगी एवं पराक्रमी बनना आदि जीवन निर्मापक शिक्षा दी जानी चाहिये।

९. बाल जीवनकी पाठशालामें यदि कठिनाई, विपत्ति, परिश्रम और निस्वार्थकी चार कक्षाएँ भी उत्तीर्ण कर लीं तो समझो बहुत कुछ पढ़ लिया।

सत्सङ्गति (सत्समागम)

१. सत्सङ्गतिका अर्थ यही है–"निजात्मा बाह्य पदार्थोंसे भिन्न भावनाके अभ्याससे कैवल्य पद पानेका पात्र हो।"

२. जिस समागमसे मोह उत्पन्न हो वह समागम अनर्थ की जड़ है।

३. ग्रहावास उतना बाधक नहीं जितना कायरोंका समागम है।

४. आवश्यकता इस बातकी है कि निरन्तर निष्कपट पुरुषोंकी सङ्गति करो। ऐसे समागमसे अपनेको रक्षित रखो जो स्वार्थके प्रेमी हैं, कुपथगामी हैं।

५. प्रत्येक उदासीन व्यक्तिको सत्समागममें रहना चाहिये। सत्समागमसे यह अर्थ लेना चाहिये कि जो मनुष्य संसारसे विरक्त हों शेष आयु मोक्षमार्गमें बिताना चाहते हों, उन्हें चाहे ज्ञान अल्प भी हो पर भीतरसे निष्कपट हों, उन्हीं का समागम करे।

६. साधु समागम मोक्षमार्गमें बाह्य निमित्त है।

७. वर्त्तमानमें निष्कपट समागमका मिलना परम दुर्लभ है, अतः सर्वोत्तम समागम तो अपनी रागादि परणति को घटाना ही है।

८. विकल्पोंका अभाव कषायके अभावमें, कषायोंका अभाव तत्वज्ञानके सद्भावमें, और तत्वज्ञानका सद्भाव साधु समागमसे होता है।

९. जिस तरह दीपकसे दीपक जलाया जाता है उसी तरह महात्माओंसे महात्मा बनते हैं, अतः महात्माओंके सम्पर्क (साधु समागम) से एक दिन स्वयं महात्मा हो जाओगे।

१०. सत्संगका लाभ पुण्योदयसे होता है, और पुण्योदय मन्द कषायसे होता है।

११. विचार परम्पराको उत्तम रखनेका कारण अन्तःकरणकी शुद्धि है, वह शुद्धि विना विवेकके नहीं हो सकती, वह विवेक भेद विज्ञानके विना नहीं हो सकता और वह भेदविज्ञान बिना सत्समागमके नहीं हो सकता।
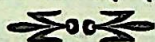
विनय

१. विनयका अर्थ नम्रता या कोमलता है। कोमलता में अनेक गुण वृद्धि पाते हैं। यदि कठोर जमीनमें बीज डाला जाय तो व्यर्थ चला जायगा। पानीकी वारिषमें जो जमीन कोमल हो जाती है उसीमें बीज जमता है। बच्चेको प्रारंभ में पढ़ाया जाता है—

"विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥"

"विद्या विनयको देती है विनयसे पात्रता आती है, पात्रतासे धन मिलता है, धनसे धर्म और धर्मसे सुख प्राप्त होता है।"

२. जिसने अपने हृदयमें विनय धारण नहीं किया वह धर्मका अधिकारी कैसे हो सकता है ?

३. विनयी छात्र पर गुरुका इतना आकर्षण रहता है कि वह उसे एक साथ सब कुछ बतलानेको तैयार रहता है।

४. आजकी बात क्या कहें ? आज तो विनय रह ही नहीं गया। सभी अपने आपको बड़ेसे बड़ा अनुभव करते हैं। मेरा मान नहीं चला जाय इसकी फिकरमें पड़े रहते हैं, पर इस तरह किसका मान रहा है ? आप किसीको हाथ जोड़कर या

सिर झुकाकर उसका उपकार नहीं करते बल्कि अपने हृदयसे मानरूपी शत्रुको हटाकर अपने आपका उपकार करते हैं। किसीने किसीको बात मान ली, उसे हाथ जोड़ लिये, सिर झुका दिया, इतनेसे ही वह प्रसन्न हो जाता है और कहता है कि इसने मान रख लिया। तुम्हारा मान क्या रख लिया; अपना अभिमान खो दिया, अपने हृदयमें जो अहंकार था उसने उसे अपने शरीरकी क्रियासे दूर कर दिया।

५. विनयके सामने सब सुख धूल है। इससे आत्माका महान् गुण जागृत होता है, विवेक शक्ति जागृत होती है। आज कल लोगोंमें विनयकी कमी है इसलिये हर एक बात में क्यों क्यों करने लगते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उनमें श्रद्धाके न होनेसे विनय नहीं है अतः हर एक बात में कुतर्क उठाया करते हैं।

एक आदमी को "क्यों" का रोग हो गया, जिससे बेचारा बड़ा परेशान हुआ। पूछने पर किसीने उसे सलाह दी कि तू इसे किसीको बेच डाल भले ही सौ पचास रुपये लग जांय। बीमार आदमी इस विचारमें पड़ा कि यह रोग किसे बेचा जाय। किसीने सलाह दी स्कूलके लड़के बड़े चालाक होते हैं अतः ५०) देकर किसी लड़केको यह रोग दे दो। उसने ऐसा ही किया। एक लड़केने ५०) लेकर उसका वह "क्यों" रोग ले लिया; सब लड़कोंने मिल कर ५०) की मिठाई खाई। जब लड़का मास्टरके पास पहुँचा, मास्टरने कहा—"कलका पाठ सुनाओ" लड़काने कहा क्यों ? मास्टरने कान पकड़ कर लड़केको स्कूल के बाहर निकल दिया। लड़केने सोचा कि यह क्यों रोग तो बड़ा बुरा है। वह उसको वापिस कर आया। उसने सोचा चलो अबकी बार यह अस्पतालके किसी मरीजको बेच दिया जाय तो अच्छा है।

ये लोग तो पलंग पर पड़े पड़े आराम करते ही हैं। ऐसा ही किया, एक मरीज को वह रोग सौंप दिया। दूसरे दिन जब डाक्टर आये तब उन्होंने मरीजसे पूछा—"तुम्हारा क्या हाल है ?" मरीजने उत्तर दिया "क्यों" डाक्टरने उसे अस्पतालसे बाहर किया, रोगीकी समझमें आया कि वास्तवमें "क्यों" रोग तो एक खतरनाक वस्तु है, वह भी वापिस कर आया। अबकी बार उसने सोचा अदालती आदमी बहुत टंच होते हैं, इसलिए उन्हींको यह रोग दिया जाय, उसने ऐसा ही किया। परन्तु जब वह अदालती आदमी मजिस्ट्रेटके सामने गया, मजिस्ट्रेटने कहा—"तुम्हारी नालिशका ठीक ठीक मतलब क्या है ?" आदमी ने उत्तर दिया "क्यों ?" मजिस्ट्रेटने मुकदमा खारिज कर उसे अदालतसे निकाल दिया।

इस उदाहरणसे सिद्ध है कि कुतर्कसे काम नहीं चलता। अतः आवश्यक है कि मनुष्य दूसरेके प्रति कुतर्क न करें अपि तु श्रद्धा रखें जिससे कि उसके हृदयमें विनय जैसा गुण जागृत हो।

रामबाण औषधियाँ

१. सबसे उत्तम औषधि मनकी शुद्धता है, दूसरी औषधि ब्रह्मचर्यकी रक्षा है, तीसरी औषधि शुद्ध भोजन है।

२. यदि भवभ्रमण रोगसे बचना चाहो तो सब औषधियोंके विकल्प जालको छोड़ ऐसी भावना भाओ कि यह पर्याय विजातीय दो द्रव्योंके सम्बन्धसे निष्पन्न हुई है फिर भी परिणमन दो द्रव्योंका पृथक्-पृथक ही है। सुधाहरिद्रावत् एक रंग नहीं हो गया अतः जो भी परिणमन इन्द्रिय गोचर है वह पौद्गलिक ही है। इसमें सन्देह नहीं कि हम मोही जीव शरीरकी व्याधिका आत्मामें अवबोध होनेसे उसे अपना मान लेते हैं, यही ममकार संसारका विधाता है।

३. कभी अपने आपको रोगी मत समझो। जो कुछ चारित्रमोहसे अनुमति क्रिया हो उसके कर्ता मत बनो। उसकी निन्दा करते हुए उसे मोहकी महिमा जानकर नाश करनेका सतत प्रयत्न करते रहो।

४. जन्म भर स्वाध्याय करनेवाला अपनेको रोगी समझ सबकी तरह विलापादिक करे यह शोभास्पद नहीं। होना यह चाहिये कि अपनेको सनत्कुमार चक्रवर्तीकी तरह दृढ़ बनाओ। "व्याधिका मन्दिर शरीर है न कि आत्मा" ऐसी श्रद्धा करते

हुए राग-द्वेषके त्यागरूप महामन्त्रका निरन्तर स्मरण करो यही सच्ची और अनुभूत रामबाण औषधि है।

५. वास्तवमें शारीरिक रोग दुःखदायी नहीं। हमारा शरीरके साथ जो ममत्वभाव है वही वेदनाकी मूल जड़ है इसके दूर करनेके अनेक उपाय हैं पर दो उपाय अत्युत्तम हैं—

१—एकत्व भावना (जीव अकेला आया अकेला जायगा)

२—अन्यत्व भावना (अन्य पदार्थ मुझसे भिन्न हैं)

इनमें एक तो विधिरूप है और दूसरा निषेधरूप है। वास्तवमें विधि और निषेधका परिचय हो जाना ही सम्यक्-बोध है।

६. जिसको हमने पर्याय भर रोग जाना और जिसके लिये दुनियाँके वैद्य और हकीमोंको नब्ज दिखाया, उनके लिखे बने या पिसे पदार्थोंका सेवन किया और कर रहे हैं, वह वास्तव रोग नहीं है। जो रोग है उसको न जाना और न जाननेकी चेष्टा की और न उस रोगके वैद्यों द्वारा निर्दिष्ट रामबाण औषधिका प्रयोग किया। उस रोगके मिट जानेसे यह रोग सहज ही मिट जाता है। वह रोग है राग और उसके सद्वैद्य हैं वीतराग जिन। उनकी बताई औषधि है १ समता २ परपदार्थों से ममत्वका त्याग और ३ तत्त्वज्ञान। यदि इस त्रिफल को शान्ति-रसके साथ सेवन कर कषाय जैसी कटु और मोह जैसी खट्टी वस्तुओंका परहेज किया जाय तो इससे बढ़कर रामबाण औषधि और कोई नहीं हो सकती।

७. राग रोग मिटानेकी यही सच्ची रामबाण औषधि है कि—प्रत्येक विषय जो शान्तिके बाधक हैं उनका परित्याग करो; चित्तसे उनका विकल्प मेंटो, सब जीवोंके साथ अन्त-

रङ्गसे मैत्रीभाव करो और प्रत्येक प्राणीके साथ अपने आत्माके सदृश व्यवहार करो।

८. आत्माको असन्मार्गसे रक्षित रखना, यही संसार रोग दूर करनेकी रामबाण औषधि है।

९. परिग्रह ही सब पापोंका कारण है, इसकी कृशता ही रागादिकके अभावमें रामबाण औषधि है।

१०. सच्ची औषधि परमात्माका स्मरण है। इससे बड़ी कोई रामबाण औषधि नहीं है।

रामायण से शिक्षा

रामायणसे भारतीय नर नारियोंको जो अपूर्व शिक्षा मिलती है वह इस प्रकार है—

१. प्रजापालक महाराज दशरथसे दृढ़प्रतिज्ञ बनो।

२. राजा जनकसे सहृदय सम्बन्धी बनो।

३. गुरु वशिष्ठसे ज्ञानी और कर्तव्यनिष्ठ बनो।

४. राजरानी कौशल्यासी पतिव्रता, पतिकी आज्ञाकारिणी और कर्तव्यपरायणा बनो।

५. श्री रामचन्द्रजीके साथ अपने लाड़ले लाल लक्ष्मण को हँसते-हँसते वन भेजनेवाली उस आदर्श माता 'सुमित्राकी तरह सौतेली सन्तानको भी अपनी सन्तान समझो? उसके दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी रहो।

६. दासी मन्थराके भड़कानेमें आकर राम जैसे पुत्र को वन भेजनेवाली कैकेयीकी तरह दूसरोंके कहनेमें आकर घरका सत्यानाश मत करो।

७. सारथी सुमन्त जैसी शुभचिन्तकता और सहृदयता से स्वामीका कार्य करो।

८. जटायु पक्षीकी तरह प्राणोंकी बाजी लगाकर भी मित्रका साथ दो।

६. श्रीरामकी तरह पिताके आज्ञाकारी, राज्यके निर्लोभी,

प्रजाके परिपालक और प्राणोंकी बाजी लगाकर भी अपनी गृहिणी (पत्नी) के रक्षक बनो।

१०. उर्मिलासी सुन्दरीका मोह छोड़कर श्रीरामके साथ जङ्गलमें नङ्गे पैर भटकनेवाले, भावज होनेपर भी सीताको माँ माननेवाले श्री लक्ष्मणकी तरह बन्धुवत्सल और सदाचारी बनो।

११. माँके षड्यन्त्रसे अनायास प्राप्त होनेवाले राज्यको भी ठुकरा देनेवाले श्री भरतकी तरह भाईके भक्त बनो।

१२. श्री शत्रुघ्नकी तरह भाइयोंके आज्ञाकारी रहो।

१३. सती सीतासी पतिव्रता, कर्तव्यपरायणा, पति पथानुगामिनी और सहनशीलताकी मूर्ति बनो।

१४. चौदह वर्ष तक पतिवियोग सहनेवाली उर्मिलासी सच्ची त्यागमूर्ति बनो।

१५. माण्डवी और श्रुतिकीर्ति जैसी सुयोग्य वधू बनो।

१६. लवकुश जैसे निर्भीक और तेजस्वी बनो।

१७. हनुमान जैसे स्वामिभक्त और साहसी बनो।

१८. मन्दोदरी जैसी पतिकी शुभचिन्तिका नारीकी सम्मतिकी अवहेलना कर अपना सर्वस्व स्वाहा मत करो।

१९. मायासे सुवर्णके मृगका रूप धारण कर रामको लुभानेवाले मरीचिकी तरह दिखावटी वेष धारण कर दुनियाका मत ठगो।

२०. रावण जैसे अन्यायी बनकर अपयशके भागी मत बनो।

२१. सर्वशक्तिमान लङ्केश्वर दशानन (रावण) भी धराशायी हो गया, मेघनाथ जैसा बलिष्ठ योद्धा भी कालके गालमें चला गया, अतः दुरभिमान मत करो।

२२. परस्त्रीकी ओर आँख उठानेवाला सर्वश्रेष्ठ बल-शाली रावण भी अपना सर्वस्व स्वाहा कर चुका, अतः परस्त्री की ओर कुदृष्टिसे मत देखो।

उक्त शिक्षाओंसे स्पष्ट है कि रामायण न केवल श्रीरामका पावन चरित है अपितु कल्याणार्थियोंको कल्याणका सरल मार्ग एवं उज्वल भविष्य निर्माणार्थियोंको आदर्श सरल उपाय भी है।

रामराज्यमें जो सुख समृद्धि और शान्ति थी वह ऐसी ही आदर्श शिक्षाओं पर चलनेके कारण थी। इसलिये जो व्यक्ति रामराज्यका स्वप्न साकार करना चाहते हैं उन्हें आवश्यक है कि वे १—उक्त शिक्षाओं पर स्वयं चलें, २— अपने कुटुम्बीजन, मित्रों एवं ग्रामवासियोंको उन शिक्षाओं पर चलने का प्रोत्साहन दें, और ३—उन्हें बता दें कि रामराज्यकी स्थापना राम बनकर की जा सकती है, रावण बनकर नहीं।

संस्कार के कारण

संसार के कारण

१. यह भला और वह बुरा, यही वासना बन्धकी जान है। आज तक अन्य पदार्थों में ऐसी कल्पना करते करते संसार के ही पात्र रहे। बहुत प्रयास किया तो इन बाह्य वस्तुओंको छोड़ दिया किन्तु इससे तो कोई लाभ न निकला। निकले कहाँसे, वस्तु तो वस्तुमें है परमें कहाँसे आवे ? परके त्याग से क्या ? क्योंकि वह तो स्वयं पृथक् है। उसका चतुष्टय स्वयं पृथक् है, केवल विभाव दशामें अपना चतुष्टय उसके साथ तद्रूप हो रहा है। तद्रूप अवस्थाका त्याग ही शुद्ध स्वचतुष्टय का उत्पादक है अतः उसकी ओर दृष्टिपात करो और लौकिक-चर्याको तिलाञ्जलि दो। आजन्मसे यही आलाप रहा, अब एकबार निज आलापकी तान लगा कर तानसेन हो जाओ तो सब दुःखोंकी सत्ताका अभाव हो जायगा।

२. "पर पदार्थ हमारा उपकार और अपकार करता है" यह धारणा ही भवपद्धतिका कारण है।

३. कर्तृत्वबुद्धिका त्याग ही संसारका नाश है जब कि अहंकारबुद्धि ही संसारकी जननी है।

४. जब तक हम आत्मतत्त्वको नहीं जानते संसारसे विरक्त नहीं हो सकते।

५. जहाँ तक बने पर पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धिको त्याग देना यही उपाय संसारसे मुक्त होनेका है।

६. योग और कषाय ही संसार के जनक हैं। इनकी निवृत्ति ही संसारसे छूटनेका उपाय है।

७. जगत एक जाल है। इसमें अल्पसत्त्ववालोंका फँसना कोई बड़ी बात नहीं है।

८. इस आत्माके अन्तरङ्गमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ होती हैं और वे प्रायः संसारके कारण ही होती हैं।

९. विभावशक्ति द्वारा आत्मामें रागादि विभाव भाव होते हैं। यही संसारके मूल कारण हैं।

१०. संसारकी जननी ममता है, इसे त्यागो।

११. हम लोग जो संसारमें अनेक यातनाओंके पात्र हुए उसका मूल कारण हमारी अज्ञानता है, बाह्य पदार्थोंका अपराध नहीं और न मन वचन कायके व्यापारोंका अपराध है। क्रोधादि कषायों की पीड़ा नहीं सही जाती इससे जीव उनका कार्य कर बैठता है। परन्तु यह विपरीत अभिप्राय ऐसा निकृष्ट परिणाम है कि अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीयताका भाव करानेमें अपना विभव दिखाता है। यही संसारका मूल कारण है।

१२. संसार परिभ्रमणका मूल कारण जीवका वह अज्ञान ही है जिसके प्रभावसे अनन्त शक्तियोंका पुञ्ज आत्मा भी एक श्वासके बराबर कालमें अठारह बार जन्म और मरणका पात्र होता है! उस अज्ञानके नाशका उपाय अपनी परणतिको कलुषित न करना ही है।
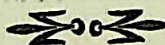
इन्द्रियों की दासता

१. इन्द्रियोंका दास सबसे बड़ा दास है।

२. विषयोंसे परिपूर्ण दुनियामें जो अनाचार होते हैं उसका कारण स्पर्शन इन्द्रियकी दासताकी प्रभुता ही है।

३. सब रोगोंका मूल कारण भोजन विषयक तीव्र गृध्नता है। यदि रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त न हो सकी तो समझो किसी पर भी विजय प्राप्त नहीं कर सकते।

४. रसनेन्द्रियविजयी ही संयमी होते हैं। अल्पकाल जिह्वा इन्द्रियको वश करनेसे आजन्म नीरोगता और संयम की रक्षा होती है।

५. रसना इन्द्रिय पर नियन्त्रण रखना सबसे हितकर है। जो वस्तु जिस समय पच सके वही उस कालमें पथ्य है। औषधिका सेवन आलसी और धनिकोंके लिये है।

६. संसारके कारण रागादिकोंमें भोजन की लिप्सा ही प्रधान कारण है। अतः जिसने रसनेन्द्रियको नहीं जीता उसे उत्तम गति होना प्रायः दुर्लभ है।

७. जिह्वा लम्पटी आकण्ठ तृप्तिको करते हुए नाना रोग के पात्र तो होते ही हैं साथ ही लालचके वशीभूत होकर दुर्वासनाके द्वारा अधोगतिके पात्र होते हैं।

८. रसनेन्द्रियकी प्रबलता भवगर्तमें पतनका कारण है।

९. जो घ्राणेन्द्रियके दास हैं, लौकिक इत्र तेल फूल आदि की सुगन्धके आदी हैं उन्हें आत्मोन्नति कुसुमकी सुखावह गन्ध नहीं आ सकती।

१०. जो परका रूप देखनेमें लगे रहेंगे उन्हें अपना रूप नहीं दिख सकता।

११. सुखी संसारका गाना सुननेकी अपेक्षा दुःखी दुनिया का रोना सुनना कहीं अच्छा है।

१२. स्पर्शन इन्द्रियके क्षणिक सुखका लोलुपी हाथी कागज की हस्तिनीके लिए गड्ढेमें जा गिरता है! रसना इन्द्रियकी लोलुप मछली जरासे आटेके लोभमें मोहकी कँटीली वंशी को चबाकर अपनी जीभ छिदाकर तड़प तड़प कर जान दे देती है! घ्राणेन्द्रियका दास सुगन्धिका लालची भौंरा सूर्यास्तके समय कमलमें बन्द होकर अपने प्राण गँवा बैठता है! चक्षु-इन्द्रियके विषय सुखका दास पतंगा बार बार जल जाने पर भी दीपक पर ही आकर जल मरता है! और कर्ण इन्द्रियका दास मृग बहेलियेके हिंसक स्वभावको जानते हुए भी उसकी वंशीकी मधुर तानमें आकर बाणसे मारा जाता है! एक एक इन्द्रियके विषय सुखके लोलुपियोंकी जब यह दशा होती है तब पाँचों ही इन्द्रियोंके विषय सुखके लोलुपियोंकी क्या दशा होती होगी? यह प्रत्येक भुक्तभोगी या प्रत्यक्षदर्शी ही जानता है।

१३. इन्द्रियों की दासता से जो मुक्त हुआ वही महान् है।

कषाय

१. कषायके वशीभूत होकर ही सभी उपद्रव होते हैं।

२. कषायके आवेगमें बड़े-बड़े काम होते हैं। जो न हो जाय सो थोड़ा। इसके चक्करमें बड़े-बड़े व्यक्ति आत्महित तक की अवहेलना कर देते हैं।

३. सबसे प्रबल माया कषाय है, इसको जीतना अति-कठिन है।

४. कहीं भी जाओ कषायकी प्रचुरता नष्ट हुए विना शान्ति नहीं मिल सकती।

५. कषाय अनादि कालसे स्वाभाविक पदकी बाधक है क्योंकि इसके सद्भावमें आत्मा कलुषित हो जाता है, जिससे वह मद्यपायीकी तरह नाना प्रकारकी विपरीत चेष्टाओं द्वारा अनन्त संसारकी यातनाओंका ही भोक्ता बना रहता है। परन्तु जब कषायोंकी निर्मलता हो जाती है तब अनायास ही आत्मा अपने स्वाभाविक पदका स्वामी हो जाता है।

६. चञ्चलताका अन्तरङ्ग कारण कषाय है।

७. "संसार असार है, कोई किसीका नहीं" यह तो साधारण जीवोंके लिये उपदेश है किन्तु जिनकी बुद्धि निर्मल है और जो भावज्ञानी हैं उन्हें तो प्रवचनसारका चारित्र-अधि-

कार पढ़कर "आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय" इस भावनाको ही दृढ़ करना चाहिए।

८. अनेक यत्न करने पर भी मनकी चञ्चलताका निग्रह नहीं होता। आभ्यन्तर कषायका जाना कितना विषम है! बाह्य कारणोंके अभाव होने पर भी उसका अभाव होना अति दुष्कर है।

९. विकल्पोंका अभाव कषायके अभावमें ही होता है।

१०. बन्धका कारण कषायवासना है, विकल्प नहीं।

११. मनकी चञ्चलतामें मुख्य कारण कषायोंकी तीव्रता है और स्थिरतामें कषायकी कृशता है। इसलिये कायकी कृशताको गौण कर कषायकी कृशता पर ध्यान दो।

१२. जिस त्यागमें कषाय है वह शान्तिका मार्ग नहीं।

१३. जब तक कषायोंकी वासनाका निरोध न हो तब तक वचनयोग और मनोयोगका निरोध होना असम्भव है।

१४. शान्ति न आनेका कारण कषायका सद्भाव है और शान्ति आनेका कारण कषायका अभाव है। उपयोग न शान्तिका कारण है और न अशान्तिका ही।

१५. कषाय कलुषताकी कालिमासे जिनका आत्मा मलिन हो रहा है भला उनके ऊपर धर्मका रंग कैसे चढ़ सकता है?

१६. कषायके अस्तित्वमें चाहे निर्जन वनमें रहो चाहे पेरिस जैसे शहरमें रहो सर्वत्र ही आपत्ति है। यही कारण है कि मोही दिगम्बर भी मोक्षमार्गसे पराङ्मुख है और निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्गके सन्मुख है।

१७. जिस तरह पानी बिलोड़नेसे मक्खनकी उपलब्धि

नहीं होती उसी तरह मन्द कषायोंके विकल्पोंसे कषायाग्निकी शान्ति नहीं होती। उपेक्षामृतसे ही कषायाग्निका आताप शान्त होता है।

१८. मोक्षमार्गका लाभ उसी आत्माको होता है जो कषायोंकी दुर्बलतासे परे रहता है।

१९. मन वचन कायका व्यापार व्यग्रताका उत्पादक नहीं, व्यग्रताकी उत्पादक तो कषाय-ज्वाला है।

२०. जिस वस्त्र पर नीला रंग चढ़ चुका है उस पर कुमकुम का रंग नहीं चढ़ सकता। इसी तरह जब कषायोंके द्वारा चित्त रंजित हो चुका है तब शुद्ध चिद्रूपका अनुभव तो दूर रहा, उसका स्पर्श होना भी दुर्लभ है।

२१. कषायका उदय प्राणीमात्रको प्रेरता है! जब तक वह शान्त न हो केवल उपाय जाननेसे मोक्षमार्ग नहीं हो सकता अपितु उसके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे होता है।

२२. कषाय दूर करनेके लिये जन संसर्ग, विषयोंकी प्रचुरता, और विशेषतया जीभकी लोलुपताका त्याग आवश्यक है।

२३. जिसने कषायों पर विजय पा ली, या विजय पानेके सन्मुख है, वही धन्य है और वही सच्चा सन्मार्गगामी है।

लोक प्रतिष्ठा

१. संसारमें प्रतिष्ठा कोई वस्तु नहीं, इसकी इच्छा ही मिथ्या है। जो मनुष्य संसार बन्धनको छेदना चाहते हैं वे लोकप्रतिष्ठाको कोई वस्तु ही नहीं समझते।

२. केवल लोकप्रतिष्ठाके लिये जो कार्य किया जाता है वह अपयशका कारण और परिणाममें भयङ्कर होता है।

३. संसारमें जो मनुष्य प्रतिष्ठाका लिप्सु होता है वह कदापि आत्म कार्यमें सफल नहीं होता। क्योंकि जो आत्मा पर पदार्थोंसे सम्बन्ध रखता है वह नियमसे आत्मीय उद्देश्य से च्युत हो जाता है।

४. लोकप्रतिष्ठाकी लिप्साने इस आत्माको इतना मलिन कर रखा है कि वह आत्म गौरव पानेकी चेष्टा ही नहीं कर पाता।

५. लोकप्रतिष्ठाका लोभी आत्मप्रतिष्ठाका अधिकारी नहीं। लोकमें प्रतिष्ठा उसीकी होती है जिसने अपनेपनको भुला दिया।

६. लोकप्रतिष्ठाकी इच्छा करना अवनतिके पथपर जाने की चेष्टा है।

७. संसारमें वही मनुष्य बड़े बन सके जिन्होंने लोक-प्रतिष्ठाकी इच्छा न कर जन हितके बड़ेसे बड़े कार्योंको अपना कर्तव्य समझ कर किया।
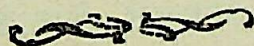
आत्म-प्रशंसा

१. जब तक हमारी यह भावना है कि लोग हमें उत्तम कहें और हमें अपनी प्रशंसा सुहावे तब तक हमसे मोक्षमार्ग अति दूर है।

२. जो आत्म-प्रशंसाको सुन कर सुखी और निन्दाको सुन कर दुखी होता है उसको संसार सागर बहुत दुस्तर है। जो आत्म-प्रशंसाको सुनकर सुखी और निन्दाको सुनकर दुखी नहीं होता वह आत्म गुणके सन्मुख है। जो आत्म-प्रशंसा सुन कर प्रतिवाद कर देता है वह आत्मगुणका पात्र है।

३. जो अपनी प्रशस्ति चाहता है वह मोक्षमार्गमें कण्टक बिछाता है।

४. आत्म-प्रशंसा आत्माको मान कषायकी उत्पत्ति भूमि बनाती है।

५. आत्मश्लाघामें प्रसन्न होना संसारी जीवोंकी चेष्टा है। जो मुमुक्षु हैं वे इन विजातीय भावोंसे अपनी आत्माकी रक्षा करते हैं।

६. आत्म-प्रशंसा सुनकर जो प्रसन्नता होती है, मत समझो कि तुम उससे उन्नत हो सकोगे। उन्नत होनेके लिये आत्म-प्रशंसाकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता सद्गुणोंके विकाश की है।
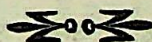
मोह

१. संसारके मूल हेतु हम स्वयं है। इसी प्रकार मोक्षके भी कारण हम ही हैं। इसके अतिरिक्त कल्पना मोहज भावोंकी महिमा है। मोहको नष्ट करना संसारके बन्धनसे मुक्त होना है।

२. जब तक मोहका उदय रहेगा मुक्ति लक्ष्मीका साम्राज्य मिलना असम्भव है।

३. मोहकी कथा अवाच्य और शक्ति अजेय है।

४. मोहको जीतना चाहो तो परपदार्थके समागमसे बहिर्मुख रहो।

५. हम चाहते हैं कि आत्मा संकटोंसे बचे परन्तु संकटों से बचनेका जो अभ्रान्त मार्ग है उससे हम दूर भागते हैं। कोई मनुष्य पूर्वके तीर्थ दर्शनकी अभिलाषा करे और मार्ग पकड़े पश्चिमका तब क्या वह इच्छित स्थानपर पहुँच सकता है? कदापि नहीं। यही दशा हमारी है। केवल संतोष कर लेना मिथ्यामार्ग है।

६. जिस महानुभाव ने रागादिकोंको जीत लिया वही मनुष्य है। यों तो अनेक जन्मते और मरते हैं उनकी गणना मनुष्योंमें करना व्यर्थ है।

७. आत्मा चिदानन्द है, उसके शत्रु मोहादि भाव हैं।

८. मोहकी कृशता होने पर ही आनन्दका विकास होता है। उसके होनेमें हम स्वयं उपादान हैं निमित्त तो निमित्त ही हैं।

९. जिस कालमें हमारी आत्मा रागादिरूप न परिणमे वही काल आत्माके उत्कर्षका है। उचित मार्ग यही है कि हम पुरुषार्थ कर रागादि न होने दें।

१०. जिस तरफ दृष्टि डालें उसी ओर उपद्रव ही उपद्रव दृष्टिमें आते हैं, क्योंकि दृष्टिमें मोह है। कामला रोगवालेको जहाँ भी दृष्टि डाले पीला ही दिखाई देता है।

११. जो सिद्धान्तज्ञान आत्मा और परके कल्याणका साधक था आज उसे लोगोंने आजीविकाका साधन बना रखा है! जिस सिद्धान्तके ज्ञानसे हम कर्मकलङ्कको प्रक्षालन करनेके अधिकारी थे आज उसके द्वारा धनिकवर्गका स्तवन किया जाता है! यह सिद्धान्तका दोष नहीं; हमारे मोहकी बलवत्ता है।

१२. आनन्दके बाधक यह सब ठाठ हैं परन्तु हम मोही जीव इन्हें साधक समझ रहे हैं।

१३. सभी वेदनाओंका मूल कारण मोह ही है। जब तक यह प्राचीन रोग आत्माके साथ रहेगा भीषणसे भीषण दुःखोंका सामना करना पड़ेगा।

१४. जब तक मोह नहीं छूटा तब तक अशान्ति है। यदि वह छूट जावे तो आज शान्ति मिल जाय।

१५. केवल चित्तको रोकना उपयोगी नहीं, मन आत्माके क्लेशका जनक नहीं, क्लेशका जनक मोहजन्य रागादि हैं। अतः इन्हींको दूर करनेकी चेष्टा ही सुखद है।

१६. संसारकी भयङ्कर दशा यूरोपीय युद्धसे प्रत्यक्ष हो गई फिर भी केवल मोहकी प्रबलता है कि प्राणी आत्महितमें नहीं लगता।

१७. जो मोही जीव हैं वे निमित्तोंकी मुख्यतासे ही मोक्ष-मार्गके पथिक बनते हैं।

१८. निश्चय कर मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानदर्शनात्मक हूँ, इस संसारमें अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं, परन्तु मोह! तेरी महिमा अचिन्त्य है, अपार है जो संसारमात्रको अपना बनाना चाहता है। नारकीकी तरह मिलनेको तो कण भी नहीं परन्तु इच्छा संसार भरके अनाज खानेकी है!

१९. जिसका मोह नष्ट हो जाता है उसके ज्ञेयज्ञायकभावका विवेक अनायास ही हो जाता है।

२०. विकल्पका कारण मोह है। जब तक मोहका अंश है तब तक यथाख्यात चारित्रका लाभ नहीं, जब तक यथाख्यात चारित्र नहीं तब तक आत्मामें स्थिरता नहीं, जब तक आत्मामें स्थिरता नहीं तब तक निराकुलता नहीं, जब तक निराकुलता नहीं तब तक स्वात्मानुभूति नहीं और जब तक स्वात्मानुभूति नहीं तब तक शान्ति और सुख नहीं!

२१. दर्शनमोहके नाश होने पर चारित्रमोहकी दशा स्वामीहीन कुत्तेकी तरह हो जाती है—भौंकता है परन्तु काटनेमें समर्थ नहीं।

२२. संसार दुःखमय है, इससे उद्धारका उपाय मोहकी कृशता है, उस पर हमारी दृष्टि नहीं। दृष्टि हो कैसे, हम निरन्तर परपदार्थोंमें रत हैं अतः तत्त्वज्ञान भी कुछ उपयोगी नहीं।

२३. यह अच्छा है वह जघन्य है, अमुक स्थान उपयोगी

है अमुक अनुपयोगी है, कुटुम्ब बाधक है साधुवर्ग साधक है यह सब मोहोदयकी कल्लोलमाला है।

२४. मोहका प्रकोप है जो विश्व अशान्तिमय हो रहा है। जो व्यक्ति अपने स्वरूपकी ओर लक्ष्य रखते हैं और अपने उपयोगको रागद्वेषकी कलुषतासे रक्षित रखते हैं वे इस अशान्ति से ग्रसित नहीं होते।

२५. मोहके सद्भावमें निर्ग्रन्थोंको भी आकुलता होती है, देशव्रती और अव्रतीकी तो कथा ही क्या है।

२६. मोहकर्मका निःशेष अभाव हुए बिना विकल्पोंकी निवृत्ति नहीं होती, अतः विकल्पोंके होनेका खेद मत करो।

२७. परिग्रहसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं, फिर भी मोह नाना कल्पना कर किसी न किसीको अपना मान लेता है। हमने ऐसी प्रकृति अनादिसे बना रक्खी है कि बिना दूसरोंके रहनेमें कष्ट होता है। कहनेको तो सभी कहते हैं "हम न किसी के, न कोई हमारा" परन्तु कर्त्तव्यमें एकांश भी नहीं। यही अविवेक संसारका ब्रह्मा है और कोई व्यक्ति ब्रह्मा नहीं।

२८. हाय रे मोह! तेरे सद्भावमें ही तो यह उपासना है— "दासोऽहं" और तेरे ही असद्भावमें "सोऽहं" कितना अन्तर है! जिसमें ऐसी ऐसी विरोधी भावनाएँ हों वह वस्तु कदापि ग्राह्य नहीं अतः अब इसके जालसे बचो। उपाय यह है कि जो अधीरता इनके उदयमें होती है पहिले उसे श्रद्धाके बलसे हटाओ और निरन्तर अपनी शक्तिकी भावना लाओ। एक दिन वह आयगा जब "दासोऽहं" और "सोऽहं" सभी विकल्प मिट जावेंगे। यहाँ तक कि "मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, अरहन्त सिद्ध परमात्मा हूँ, ज्ञायक स्वरूप आत्मा हूँ" आदि विकल्पोंको भी अवकाश न मिलेगा।

२९. संसारमें सबसे बड़ा बन्धन मोह है।

राग-द्वेष

१. तिलों (तिल्ली) में जब तक स्नेह (तैल) रहता है तब तक वह बार बार यन्त्र (कोल्हू) में पेले जाते हैं परन्तु स्नेह शून्य खल (खली) को यन्त्रकी यन्त्रणा नहीं सहनी पड़ती। उसी तरह जब तक आत्मामें स्नेह (राग) रहता है तब तक संसार यन्त्रकी यातनाओंको सहना पड़ता है परन्तु जब यह आत्मा स्नेह शून्य (राग रहित) हो जाता है, तब वह संसार यातनाओंसे मुक्त हो जाता है।

२. रागादिकोंके होने पर जो आकुलित हो जाता है और उनके उपशमके लिये कभी स्तोत्र पाठ, कभी चरणानुयोग द्वारा प्रतिपाद्य उपवास व्रत, कभी अध्यात्मशास्त्रप्रतिपाद्य वस्तुका परिचय, कभी साधुसमागम, कभी तीर्थयात्रा आदि सहस्रों उपाय कर उन्हें शान्त करनेकी चेष्टा करता है वह कभी भी आकुलताके घेरेसे बाहर नहीं होने पाता।

३. वही जीव रागादिकोंके रणमें विजय पा सकेगा जो इनके होने पर साम्यभावका अवलम्बन करेगा।

४. संसारका मूल कारण रागद्वेष है। इस पर जिसने विजय प्राप्त कर ली उसके लिये शेष क्या रह गया?

५. योगशक्ति उतनी घातक नहीं, वह केवल परिस्पन्द करती है। यदि रागादि कलुषता चली जाय तब वह उपद्रव नहीं

कर सकती और न स्थिति और अनुभागवाले बन्धको ही कर सकती है।

६. जिसका मोह दूर हो गया है वह जीव सम्यक् स्वरूप को प्राप्त करता हुआ यदि रागद्वेषको त्याग देता है तो वह शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है अन्य कोई उपाय आत्मतत्त्वकी प्राप्तिमें साधक नहीं।

७. वास्तव आनन्द तो तब होगा जब ये रागादि शत्रु दूर हो जाएँगे। इनके सद्भावमें आनन्द नहीं?

८. आज तक हमने धर्मसाधन बहुत किया परन्तु उसका प्रयोजन जो रागादिनिवृत्ति है उस पर दृष्टि नहीं दी फल यह हुआ कि टससे मस नहीं हुए।

९. सब उपद्रवोंकी जड़ रागादिक भाव हैं। जिसने इन पर विजय पा ली वही भगवान् बन गया।

१०. मोहकी दुर्बलता भोजनकी न्यूनतासे नहीं होगी किन्तु रागादिके त्यागनेसे होगी।

११. घर हो या वन, परिणाम हर जगह निर्मल रक्खे जा सकते हैं।

१२. "घर रहनेमें रागादिकोंकी वृद्धि होती है" इस भूत को हृदयसे निकाल दो। जबतक इसको नहीं निकालोगे कभी भी रागादिकसे निर्मुक्त न होगे।

१३. जहाँ राग है वहीं रोग है।

१४. बीजमें फल देनेकी शक्ति है परन्तु उसे बोया न जावे तब उसकी सन्तति ही न रहेगी। इसी प्रकार रागद्वेषमें संसार-फल देनेकी सामर्थ्य है परन्तु यदि उनसे मन फेर लिया जावे तब फिर उनमें संसार फल जननेकी सामर्थ्य ही नहीं रह सकती।

१५. संसारजालमें फँसानेवाला कौन है? जरा अन्तर्दृष्टि से परामर्श करो। जाल ही चिड़ियाको फँसाता है ऐसी भ्रान्ति छोड़ो, बहेलिया फँसाता है यह भ्रम भी त्यागो, जिह्वेन्द्रिय फँसाती है यह अज्ञानता भी त्यागो, केवल चुँगनेकी अभिलाषा ही फँसानेमें बीजभूत है। इसके न होने पर वे सब व्यर्थ हैं। इसी तरह इस दुःखमय संसारके जालमें फँसानेका कारण न तो यह बाह्य सामग्री है, न मन वचन और कायका व्यापार है, न द्रव्यकर्मसमूह है, केवल स्वकीय आत्मासे उत्पन्न रागादि-परिणति ही सेनापतिका कार्य कर रही है। अतः इसी का निपात करो। अनायास ही इस संसारजालके बन्धनसे मुक्त होनेका उपाय पा जाओगे।

१६. आज कल लोगोंने धर्मात्मा बननेके बहुत सीधे और सरल उपाय निकाल लिये हैं। थोड़ा स्वाध्याय कर लिया, आसन जमाकर आँख मींचकर एक घण्टा माला फेरनेकी प्रथा निभा दी, दस व्यक्तियोंके समुदायमें—"संसार असार है" कथा कह डाली, न्याय मार्गकी शब्दोंसे पुष्टि कर दी, बहुत हुआ तो पर्वके दिन व्रत उपवास कर लिया, और आगे बढ़े तो किसी संस्था को कुछ दान दे दिया, और भी विशेष काम किया तो किसी त्यागी महात्माको भोजन करा दिया, बस धर्मात्मा बन गये! परन्तु यह सब ऊपरी बातें हैं। आत्माके प्रदेशोंमें तादात्म्यसे बैठा हुआ रागादि भाव जब तक नहीं गया तब तक यह आचरण दम्भ है।

१७. "रागादि भावोंका अभाव कैसे हो" यह एक समस्या है। उसके सुलझानेके मुख्य उपाय ये हैं—

१. शान्ति बाधक विषयोंका परित्याग करो।

२. चित्तसे विषयोंकी विकल्प सन्ततिको दूर करो।

३. सब जीवोंके प्रति अन्तरंगसे मैत्रीभाव रखो।

४. प्रत्येक प्राणीके साथ आत्मीयताको छोड़ो परन्तु आत्मसदृश लोकप्रिय व्यवहार करो।

५. केवल वचनोंके आय व्ययसे तुष्ट और रुष्ट न होओ अपितु अपनी शुद्धात्मपरिणतिकी गतिको सम्यक् जानकर ही व्यवहार करो।

६. "व्यर्थ पर्याय चली गई, क्या करें, कहाँ जावें" इस आर्त्तध्यानको छोड़ो।

७. "हम आत्मा हैं, हममें जो दोष आ गये हैं वे हमारी भूलसे आ गये हैं, अतः हम ही उनको दूर करनेमें समर्थ हैं" ऐसा विचार रखो और उस विचारको क्रमशः यथाशक्ति सक्रिय रूप दो, एक दिन आत्मासे परमात्मा बन जाओगे, नरसे नारा-यण हो जाओगे।

८. जिन कारणोंको पाकर रागद्वेष उत्पन्न होता है उन्हें पृथक् करो।

९. उन महापुरुषोंका समागम करो जिनका रागद्वेष कम हो गया है।

१०. उन महापुरुषोंका जीवन-चरित्र पढ़ो जिन्होंने इसका नाश कर आत्माकी निर्वाण अवस्था प्राप्त कर ली है।

११. निरन्तर रागद्वेषकी परणति दूर करनेमें प्रयत्न-शील रहो।

१२. रागद्वेष पोषक आगम को अनात्मीय जान उसका अध्ययन करनेकी इच्छा छोड़ो।
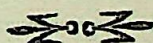
लोभ लालच

१. छोटा या बड़ा, धनी या निर्धन, त्यागी या गृहस्थ किसीको भी लालची बनाना महापाप है।

२. पापका पिता, मायाका पति, वञ्चकताका भाई, और दुर्वासनाका पुत्र एकमात्र लालच ही है।

३. लोभकी अपेक्षा पाप सूक्ष्म है, यही सबका जनक है।

४. लोभके वशीभूत हो अच्छे अच्छे विद्वान् ठगाये जाते हैं, मूर्खोंका ठगाया जाना तो कोई बड़ी बात नहीं।

५. लोभी त्यागीसे निर्लोभ गृहस्थ अच्छा है।

६. लोभसे मनुष्य नीच वृत्ति हो जाता है। लोभ ही पापकी जड़ है। लोभके वशीभूत होकर यह जीव नाना प्रकारके अनर्थोंको उत्पन्न करता है। उच्च वंशका जन्मा भी लोभी मनुष्य नीचकी सेवामें तत्पर हो जाता है, अपनी पवित्र भावनाओंको त्याग देता है!

७. लोभ कषायके सद्भावमें लोभीका धन किसी उपयोग में नहीं आता। लोभी अथक परिश्रम कर धन जोड़ते जोड़ते अपयशकी मौत मरता है, परन्तु उसका धन मरणके बाद या तो कुटुम्बियोंको मिलता है या राज्यमें चला जाता है! स्वयं उसे बदनामी और पापके सिवा कोई भी सुख उस धनसे नहीं मिलता।

———

परिग्रह

१. संसारमें परिग्रह ही पाँच पापोंके उत्पन्न होनेमें निमित्त होता है। जहाँ परिग्रह है वहाँ राग है, जहाँ राग है वहीं आत्माके आकुलता रूप दुःख है और वहीं सुख गुणका घात है, और सुख गुणके घातका नाम ही हिंसा है।

२. संसारमें जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है। आज जो भारतमें बहुसंख्यक मनुष्योंका घात हो गया है तथा हो रहा है उसका मूल कारण परिग्रह ही है। यदि हम इससे ममत्व घटा देवें तो अगणित जीवोंका घात स्वयमेव न होगा। इस अपरिग्रहके पालनेसे हम हिंसा पापसे मुक्त हो सकते हैं, और अहिंसक बन सकते हैं।

३. परिग्रहके त्यागे बिना अहिंसा-तत्त्वका पालन करना असम्भव है। भारतवर्षमें जो यागादिकसे हिंसाका प्रचार हो गया था, उसका कारण यही प्रलोभन तो है कि इस यागमे हमको स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा, अन्नादिक उत्पन्न होंगे, देवता प्रसन्न होंगे। यह सर्व क्या था? परिग्रह ही तो था। यदि परिग्रहकी चाह न होती तो निरपराध जन्तुओंको कौन मारता?

४. आज यदि इस परिग्रहमें मनुष्य आसक्त न होते तब

यह 'समाजवाद' या 'कम्यूनिस्टवाद' क्यों होते ? आज यदि परिग्रहके धनी न होते तब ये हड़तालें क्यों होतीं ? यदि परिग्रह पिशाच न होता तब जमींदारी प्रथा, राजसत्ताका विध्वंस करनेका अवसर न आता ? यदि यह परिग्रह-पिशाच न होता तब कांग्रेस जैसी स्वराज्य दिलानेवाली संस्था विरोधियों द्वारा निन्दित न होती और वे स्वयं इनके स्थानमें अधिकारी बनने की चेष्टा न करते ? आज यह परिग्रह-पिशाच न होता तो हम उच्च हैं, ये नीच हैं, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहाँ तक अपना प्रभाव प्राणियों पर जमाये हुए है जिससे सम्प्रदायवादियोंने धर्म तकको निजी धन मान लिया है। और धर्मकी सीमा बाँध दी है। तत्त्वदृष्टिसे धर्म तो 'आत्मा की परिणति विशेषका नाम है', उसे हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है ? जो धर्म चतुर्गतिके प्राणियोंमें विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्योंमें मानना क्या न्याय है ? परिग्रह-पिशाचकी ही यह महिमा है जो इस कुएका जल तीन वर्णोंके लिए है, इसमें यदि शूद्रोंके घड़े पड़ गये तब अपेय हो गया ! जब कि टट्टीमेंसे होकर नल आ जानेसे भी जल पेय बना रहता है ! अस्तु, इस परिग्रह पापसे ही संसारके सब पाप होते हैं। श्री वीर प्रभुने तिल-तुषमात्र परिग्रह न रखके पूर्ण अहिंसा व्रतकी रक्षा कर प्राणियोंको बता दिया कि यदि कल्याण करनेकी अभिलाषा है तब दैगम्बरपदको अंगीकार करो। यही उपाय ससार बन्धनस छूटनेका है।

५. परिग्रह अनर्थोंका प्रधान उत्पादक है यह किसीसे छिपा नहीं, स्वयं अनुभूत है। उदाहरणकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता उससे विरक्त होनेकी है।

६. आवश्यकताएँ तो इतनी हैं कि संसारके सब पदार्थ

भी मिल जावें तो भी उनकी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः किसी की आवश्यकता न हो यही आवश्यकता है।

७. ससारका प्रत्येक प्राणी परिग्रहके पंजेमें है। केवल सन्तोष कर लेनेसे कुछ हाथ नहीं आता। पानी विलोड़नेसे घीकी आशा तो असम्भव ही है छाँछ भी नहीं मिल सकता। जल व्यर्थ जाता है और पीनेके योग्य भी नहीं रह जाता।

८. परिग्रहकी लिप्सामें आज संसारकी जो दशा हो रही है वह किसीसे अज्ञात नहीं। बड़े-बड़े प्रभावशाली तो उसके चक्करमें ऐसे फँसे कि गरीब दीन हीन प्रजाका नाश कराकर भी अपनी टेक रखना चाहते हैं।

९. वर्तमानमें लोग आडम्बरप्रिय हैं इसीसे वस्तुतत्त्वसे कोसों दूर हैं।

१०. व्यापार करनेसे आत्मा पतित नहीं होता, पतित होने का कारण परिग्रहमें अति ममता ही है।

११. षट् खण्ड पृथ्वीका स्वामित्व भी ममताकी कृशतामें दुःखद नहीं।

१२. ममताकी प्रबलतामें मनुष्य अपरिग्रही होकर भी जन्म जन्मान्तरमें दुःखके पात्र होते हैं।

१३. जो कहता है "हमने परिग्रह छोड़ा" वह अभी सुमार्ग पर नहीं आ.या। रागभाव छोड़नेसे पर पदार्थ स्वयमेव छूट जाते हैं। अर्थात् लोभकषायके छूटते ही धनादिक स्वयमेव छूट जाते हैं।

१४. बाह्य पदार्थ मूर्च्छामें निमित्त होते हैं। वह मूर्च्छा दो प्रकारकी है—शुभोपयोगिनी और अशुभोपयोगिनी। इनके

निमित्त भी दो प्रकारके हैं—भगवद्भक्ति आदि जो धर्मके अङ्ग हैं इनके अर्हतादि निमित्त हैं और विषय कषाय जो पापके अङ्ग हैं इनके पुत्रकलत्रादि निमित्त हैं। इन बाह्य पदार्थों पर ही अवलम्बित रहना श्रेयस्कर नहीं।

१५. मेरा तो शास्त्र स्वाध्याय और अनुभवसे यह विश्वास हो गया है कि संसारमें अनर्थों और घोर अत्याचारोंकी जड़ परिग्रह ही है। जहाँ यह इकट्ठा हुआ वहीं झगड़ा होता है। जिन मठोंमें द्रव्य है वहाँ सब प्रकारका कलह है।

१६. जहाँ परिग्रह न हो वहाँ आनन्दसे धर्मसाधनकी सुव्यवस्था है। इसकी बदौलत ही आज भगवानका खजाने वाला' नाम पड़ गया। कहाँ तक कहें, सभी जानते हैं कि समाजमें वैमनस्यका कारण धर्मादायका द्रव्य भी है।

१७. त्यक्त परिग्रहको ग्रहण करना वमनको भक्षण करनेके तुल्य है।

१८. मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि परिग्रह ही संसार है और जब तक इससे प्रेम है कैसा भी तपस्वी हो संसारसे मुक्त नहीं हो सकता।

१९. मुक्तिका मूल्य परिग्रहका अभाव है।

२०. जब हमारे पास परिग्रह है, तब हम कहें "हमें इसकी मूर्च्छा नहीं" यह असम्भव है। विकल्प जाल छूटना ही मोक्ष मार्गका साधक है।

२१. यह संसार दुःखका घर है, आत्माके लिये नाना प्रकारको यातनाओंसे परिपूर्ण कारावास है। इससे वे ही महानुभाव पृथक् हो सकेंगे जो परिग्रह पिशाचके फन्देमें न आवेंगे।

२२. मूर्च्छाकी न्यूनतामें स्वात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

२३. संसारमें स्वाधीन कौन है ? त्यागी, परिग्रही नहीं।

२४. परिग्रह धर्मका साधक नहीं बाधक है।

२५. परिग्रह लेनेमें दुःख, देनेमें दुःख, भोगनेमें दुःख, धरनेमें दुःख, सहनेमें दुःख ! धिक्कार इस दुःखमय परिग्रहको !

२६. संसारमें मूर्च्छा ही एक ऐसी शक्ति है जिसके जालमें सम्पूर्ण संसार फँसा हुआ है। वे धन्य हैं जिन्होंने इस जालको तोड़कर स्वतन्त्रता प्राप्त की। इस जालकी यह प्रकृति है कि जो इसे तोड़कर निकल जाता है वह फिर इसके बन्धनमें नहीं आता परन्तु दूसरेको यह बन्धन रूप ही रहता है। अतः अब पुरुषार्थ कर इसे तोड़ो और स्वतन्त्र बनो।

२७. जब आयुका अन्त आवेगा यह सब आडम्बर यों ही पड़ा रह जायगा।

२८. जितना परिग्रह अर्जित होगा उतनी ही आकुलता बढ़ेगी। यद्यपि लौकिक उपकार परिग्रहसे होता है परन्तु अन्त में उत्तम पुरुष उसे त्यागते ही हैं।

२९. मूर्च्छा ही बन्धका कारण है, परन्तु यह समझमें नहीं आता कि वस्तुका संग्रह रहे और मूर्च्छा न हो। स्वामी कुन्द-कुन्दका तो यह कहना है कि जीवके घात होने पर बन्ध हो या न हो पर परिग्रहके सद्भावमें बन्ध नियमसे होता है। अतः जहाँ तक बने भीतरसे मूर्च्छा घटाना चाहिये।

३०. आत्महितका मूल कारण व्यग्रताकी न्यूनता है और व्यग्रताका मूल कारण परिग्रहकी बहुलता है। यह एक भया-

नक रोग है इसीके वशीभूत होकर अनेक अनर्थोंका उदय होता है, उन अनर्थोंसे वृत्ति हेयोपादेय शून्य हो जाती है और उसका फल क्या है ? सो सभी संसारी जीवोंके सामने है।

३१. परिग्रह पर वही व्यक्ति विजय पा सकता है जो अपने को, अपनेमें, अपनेसे, अपने लिये, अपने द्वारा आप ही प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। चेष्टा और कुछ नहीं, केवल अन्तरङ्गमें पर पदार्थमें न तो राग करता है और न द्वेष करता है।

३२. परिग्रहसे मनुष्यका विवेक चला जाता है। और यह स्पष्ट ही है कि विवेक हीनतामें जो भी असत्कार्य हो जाय वह थोड़ा है।

———

स्वपर चिन्ता

१. चिन्ता चाहे अपनी हो चाहे परकीं, बहुत ही भयंकर वस्तु है। "चिता" और "चिंता" शब्द लिखनेमें तो केवल एक बिन्दी मात्रका अन्तर है परन्तु स्वभावतः दोनों ही विलक्षण हैं। चिता मृत मनुष्यको एक ही बार जलाती है परन्तु चिन्ता जीवित मनुष्यको रह रहकर जलाती है!

२. परमार्थकी कथाका स्वाद तो भाग्यशाली जीव ही ले सकते हैं। वही परमार्थका अनुयायी है जो सब चिन्ताओंसे दूर रहता है।

३. इस कालमें सत्पथका पथिक वही हो सकता है जो परकी चिन्ताओंसे अपनेको बचा सके।

४. पर चिन्ताकी गन्ध भी सुखावह नहीं।

५. चिन्ता आत्माके पौरुषको क्षीण कर चतुर्गति भवावर्तमें पातकर नाना दुःखका पात्र बना देती है।

६. पर चिन्तासे कभी पार न होगे। आत्म चिन्ता भी तभी लाभदायक हो सकती है जब आत्माको जानो, मानो और तद्रूप होनेका प्रयास करो।

७. परकी चिन्ता कल्याण पथका पत्थर है।

८. उन पुरुषोंका अभी निकट संसार नहीं जो परकी चिन्ता करते हैं।

९. चिन्तासे आत्म परणति कलुषित और व्यग्र रहती है।

१०. जिनका मन चिन्तासे मलिन है उनके विशुद्धताका अंश कहाँसे उदय होगा ?

११. जिससे उत्तरोत्तर शरीर क्षीण और मन चञ्चल होता जाता है वह चिन्ता ही तो है। इसका त्याग करो और आत्महितमें लगो।

१२. चिन्ता किसकी करते हो, जब पर वस्तु अपनी नहीं तब उसकी चिन्तासे क्या लाभ ?
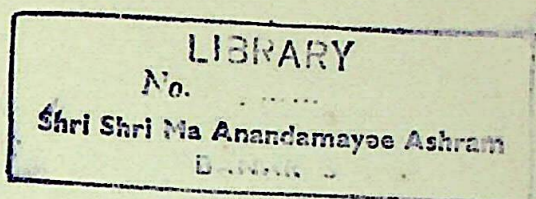
पर संसर्ग

१. पर संसर्ग पापकी जड़ है। जिसने इसे त्यागा वही सच्चारित्रका पात्र है।

२. पर संसर्ग छोड़ना निर्वृत्तिका कारण है।

३. पर पदार्थके आश्रयसे सुखका भोक्ता बननेकी चेष्टा करना आकाशसे पुष्प चयनके सदृश है।

४. जब तक पर पदार्थसे सम्बन्ध है तभी तक यह जीव परम दुःखका आस्पद है।

५. अन्य पदार्थोंके संसर्गसे ही बन्ध होता है।

६. पर संसर्गका विकल्प ही संसार है और उसका छूट जाना ही मोक्ष है।

७. पर संसर्गसे आकुलता होती है। आकुलतासे स्नेहका अभाव, स्नेहके अभावसे वात्सल्यका अभाव, वात्सल्यके अभाव से सहृदयताका अभाव और सहृदयताके अभावसे पारस्परिक सद्व्यवहारका भी अभाव हो जाता है?

८. पर संसर्ग अनर्थोंका बीज, आपत्तियोंकी जड़, विपत्तियोंकी लता और मोहका फल है।

९. पर संसर्ग वह संक्रामक रोग है जिसकी ज्यों-ज्यों दवा करो त्यों-त्यों बढ़ता है।
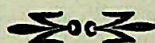
संकोच

१. संकोच एक ऐसी कषाय है जो आत्मघातका साधक है। जिन्होंने यह कषाय नहीं त्यागी वह धर्मके पात्र नहीं।

२. संकोच करना महापाप है।

३. संकोचका फल आत्मघात है।

४. जहाँ संकोच है, वहीं अनर्थोंका घर है।

५. संकोच एक प्रकारकी दुर्बलता है और वह दुर्बलता ही अनर्थोंकी जड़ है।

६. विषय कषायके सेवनमें संकोच करो। धर्मके पालन करनेमें संकोचका क्या काम?

कायरता

१. त्याग धर्ममें कायरताको स्थान नहीं।

२. कर्म शत्रुओंकी विजय शूरोंसे होती है, कायरोंसे नहीं।

३. कायरतासे शत्रुके बलकी वृद्धि होती है और अपनी शक्तिका ह्रास होता है, अतः जहाँतक बने कायरताको अपने पास न फटकने दो।

४. दुःखमय संसार उसीका है जो अपनी आत्माको हीन और कायर समझता है। जो शूर है उसे कुछ दुःख नहीं।

५. कायरता संसारकी जननी है।

६. परसे न कुछ होता है न जाता है। आप ही से मोक्ष और आप ही से संसार दोनों पर्यायोंका उदय होता है। आवश्यकता इस बातकी है कि हम संसारमें भ्रमण करानेवाली कायरताको दूर करें।

७. "संसार असार है" इस वाक्यके वास्तविक अर्थको न समझकर लोग अर्थका अनर्थ करते हैं। परिणाम यह होता है कि भोला मानव समाज कायर और कर्तव्य पथसे च्युत होकर त्यागी, साधु, उदासीन आदि अनेक भेषोंको धारण कर भूतलका भारभूत हो जाता है। आज भारतवर्षमें हिन्दू

समाजमें ही ५६००००० छप्पन लाख साधु हैं जो कहनेको तो साधु हैं परन्तु उनके कर्तव्योंका वर्णन किया जाय तो दिल दहल जायगा। इन साधुओंके लिये यदि—"संसारमें शूर-वीरता है" यह पाठ पढ़ाया जाय तो कोई अनर्थ नहीं। तब यह साधुसंघ शूरसंघ बनकर देशपर आँख उठानेवाले शत्रुओंको पराजितकर एक दिन कर्म शत्रुका भी ध्वंसकर दुनियाँमें चका-चध कर दे।

८. ऐसे ईश्वरको मानकर हम क्या करें जिससे हमें कायरताकी शिक्षा मिलती है। क्यों न हम उस तत्त्वको स्वीकार करें जो व्यक्ति स्वातन्त्र्य और उसकी परिपूर्णताका सूचक है।

९. यह मानना कि हम कुछ नहीं कर सकते सबसे बड़ी कायरता है। इसे त्यागो और आत्मपुरुषार्थको जागृत करो। फिर देखोगे कि तुम्हारी उन्नति तुम्हारे हाथमें है।
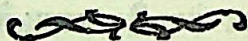
पराधीनता

१. हम लोग अनादिकालसे निरन्तर पराधीन रहे और उस पराधीनतामें आत्मीय परिणतिको पराधीनताका कारण न मान परको उसका कारण मानते आये हैं। इसी प्रकार पराधीनताके बन्धनसे मुक्त होनेमें भी निरन्तर पर ही को कारण माननेकी चेष्टा करते आये हैं। यही कारण है कि रोगी होनेपर हम एकदम वैद्यको बुलानेकी चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी प्रकारके दुःखसे दुखी होते हैं तब कहते हैं—"हे भगवन्! यदि हमारे नीरोगता हो गई तब आपकी पूजा, पाठ, व्रत, विधान या पञ्चकल्याणक करेंगे!" पुत्र व धनादिकके लालची तो यहाँतक बोली लगाते हैं—"हे चांदनपुरके महावीर! यदि हमारे धन और बालक हो गया तो मैं आपको अखण्ड दीपक चढ़ाऊँगा! हे काली कलकत्तेवाली! तू जो चाहे सो ले ले पर एक लाडला लाल मुझे दे दे!" कितनी मूर्खताकी बात है परके द्वारा आत्म-कल्याण चाहते हैं। देवी देवताओंको भी लोभ लालच और लांच घूस देनेकी चेष्टा करते हैं। यह सब पराधीनताका विलास है, इसे त्यागो और शूरवीर बनो तभी कल्याण होगा।

२. संसारमें दुःखकी उत्पत्तिका मूल कारण पराधीनता है।

३. अन्तस्थ शत्रुका बल तभीतक है जबतक हम पराधीन हैं।

४. पराधीनता ही हमें संसारमें बनाए है तथा वही निज स्वरूपसे दूर किये है।

५. जहाँ पराधीनता है वहाँ सुखकी मात्रा होना कठिन है।

६. पराधीनतामें मोहकी परिणति रहती है जो आत्माके गुणोंकी बाधक है।

७. हम लोग अति कायर हैं जो अपनेको पराधीनताके जालमें अर्पित कर चुके हैं। इसीसे संसार यातनाओंके पात्र हो रहे हैं।

८. जो मनुष्य पराधीन होते हैं वे निरन्तर कायर और भयातुर रहते हैं।

९. जो आत्मा पराधीन होकर कल्याण चाहेगा वह कल्याणसे वञ्चित रहेगा। अपने स्वरूपको देखो, ज्ञाता दृष्टा होकर प्रवृत्ति करो। चाहे भगवत्पूजा करो, चाहे विषयोपभोगमें उपयुक्त होओ, उभयत्र अनात्मधर्म जान रत और अरत न होओ।

१०. पराधीनताको त्यागकर अरहन्त परमात्मा व ज्ञायक स्वरूप आत्मा पर ही लक्ष्य रखो। पास होते हुए भी कस्तूरीके अर्थ कस्तूरीमृगकी तरह स्थानान्तरमें भ्रमणकर आत्मशुद्धिकी चेष्टा न करो।

११. परकी सहायता परमात्म पदकी बाधक है।

१२. पराधीनतासे बढ़कर कोई पाप नहीं।

प्रमाद

१. आत्माका भोजन ज्ञान दर्शन है, जो उसके ही पास है, किसीसे याचना करनेकी आवश्यकता नहीं। चरणानुयोगका कोई नियम भी लागू नहीं कि स्नान करके ही खाओ या दिनमें ही खाओ फिर भी प्रमाद इतना बाधक है जिससे उस भोजनके करनेमें हम आलस कर देते हैं। अथवा कषाय रूपी विष मिलाकर उसे ऐसा दूषित कर देते हैं जिससे आत्मा मूर्छित होकर चतुर्गतिका पात्र बनता है अतः प्रमादका परिहार कर अपनी सावधानीमें कषाय विष मिलनेका अवसर मत दो।

२. जो इस प्रमादके वशीभूत होकर आत्मस्वरूपको भूलता है वही भौतिक पदार्थोंके व्यामोहमें फँसता है।

३. आज तक हम और आप जो इस संसारमें भ्रमण कर रहे हैं उसका कारण प्रमाद ही है।

४. हिंसादि पाँच पापोंका मूल कारण प्रमाद है।

५. पाँच इन्द्रियोंके विषयमें रत होना प्रमाद है अतः इनका त्याग करो।

६. कषायोंके वशीभूत होना भी प्रमाद है। कषायवान् आत्माका आत्मकल्याण होना दुर्लभ है।

७. अप्रमत्त बननेके लिये विकथाओंका त्याग करना भी आवश्यक है।

८. जो निद्रालु और प्रणयवान् हैं वे भला अप्रमादी कैसे हो सकते हैं।

९. प्रमाद संसारकी वेल है इसका त्याग करो।

सुधाकर

सुधासीकर

अध्यात्मखण्ड—

१. बाह्याडम्बरकी शोभा वहीं तक है जहाँ तक स्वात्म-तत्त्वमें आकुलता न होने पावे।

२. तत्त्वज्ञ वही है जो जगत्‌की प्रवृत्ति देखकर हर्ष विषाद न करे।

३. आत्मलाभसे उत्कृष्ट और कोई लाभ नहीं।

४. भोगी ही योगी हो सकता है। विना भोगके योग नहीं।

५. गारा, ईंट, चूनासे मकान ही बनता है, इन्द्रभवन नहीं। सांसारिक सुखोंसे शरीर ही सुखी होगा, आत्मा नहीं।

६. गृह छोड़ना कठिन नहीं, मूर्च्छा छोड़ना कठिन है।

७. गृहस्थ धर्म को एकदम अकल्याण का मार्ग समझना मोक्षमार्गका लोप करना है।

८. केवल आत्म-संयमके अतिरिक्त संसारमें विकल्पों को औषधि नहीं, और इसके अर्थ किसी को महान् मानना लाभदायक नहीं।

१४

९. परघातमें जब प्रमत्तयोग होता है तभी हिंसा होती है अन्यथा नहीं, परन्तु आत्मघातमें तो प्रमत्तयोगका परदादा मिथ्यात्व होनेसे हिंसा निश्चत रूपसे है। अतः सबसे बड़ा पाप परघात है और उससे भी बड़ा पाप आत्मघात है।

१०. रागद्वेष निवृत्ति पद जहाँ हो वही आत्मा है।

११. जब स्वात्म-रसका आस्वाद आ जाता है तब अन्य रसका विचार ही नहीं रहता।

१२. आत्माका तथ्य श्रद्धान अनन्त क्रोधाग्निको शान्त करनेमें समर्थ है।

१३. परपदार्थ न शुभ बन्धका जनक है और न अशुभ बन्धका जनक है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे उन्हें मूल कर्त्ता मानना श्रेयोमार्गमें उपयोगी नहीं।

१४. दुःखका लक्षण आकुलता है और आकुलताका कारण रागादिक हैं। जो इन्हें आत्मीय समझता है वही दुःखका पात्र होता है।

१५. यह दृश्यमान पर्याय विजातीय जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंके सम्बन्धसे बनी है, अतः उसमें निजत्व मानना उतना ही हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण है जितना सांझेकी दुकानको केवल अपनी मानना हास्यास्पद है। इसलिए इस पर्यायसे ममत्व छोड़कर और निजमें स्वत्व मानकर आत्म-द्रव्यकी यथार्थताको अवगम कर पर की संगतिसे विरक्त होना ही स्वात्महितका अद्वितीय मार्ग है।

१६—स्वाध्याय आदि शुभ कार्योंमें बाधाका मूल कारण केवल शरीरकी दुर्बलता ही नहीं, मोहकी सबलता भी है। इसे कृश करना अपने आधीन है। किन्तु जिस तरह शारीरिक

नीरोगताके लिये नियमित औषधि सेवन और पथ्य भोजन करना हितकर है उसी तरह मानसिक स्वस्थताके लिये निर्ग्रन्थ गुरुके रामबाण औषधि तुल्य उपदेशामृतका पान और आत्मीय गुणोंमें अनुरक्त रहना हितकर है।

१७. संसारमें अनन्त पदार्थ हैं, और वे सर्वदा रहेंगे। उनका न कभी अभाव हुआ और न होगा। अतः अपने स्वरूप की ओर लक्ष्य रक्खो, परके छोड़नेका प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि पर तो पर ही है, अतः पृथक् है ही।

१८. जैसे दीपकसे दीपक होता है, वैसे ही परमात्माके स्मरणसे भी परमात्मा बन जाता है, किन्तु जैसे अरणि निर्मन्थनसे अग्नि होती है, वैसे ही अपनी उपासनासे भी परमात्मा हो जाता है।

१९. बाह्य व्रतादिकोंमें जबतक आभ्यन्तर विशुद्ध भावका समावेश न होगा, तब तक वे केवल कष्टप्रद ही होंगे।

२०. निवृत्तिमार्गका न कोई समर्थक है, न कोई निषेधक है और न कोई उस पवित्र भावका उत्पादक है। जिसके इस अभिवन्दनीय भावकी प्राप्ति हो गई उसे ही हम सिद्धात्माकी पूर्व अवस्था समझते हैं और उसीको भव्य कहते हैं।

२१. जैसे संसारको उत्पन्न करनेमें हम समर्थ हैं वैसे मोक्षके उत्पन्न करनेमें भी हम स्वयं समर्थ हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि आत्मा ही आत्माको संसार और निर्वाण में ले जाता है अतः परमार्थसे आत्माका गुरु आत्मा ही है।

२२. कर्मोदयकी बलवत्ता वहीं तक अपना पुरुषार्थ कर सकती है जब तक आत्माने अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा नहीं की। जिसने आत्मस्वरूपका अवलम्बन किया उसके समक्ष

कर्मोदय सूर्योदयमें उल्लूकी तरह अन्धा हो जाता है, आत्मा पर बार करनेकी उसमें कोई शक्ति नहीं रहती।

२३. जिस आचरणसे आत्मामें निर्मलताका उदय नहीं हुआ वह आचरण दम्भ है।

२४. स्वाध्यायका फल भेदज्ञान और व्रतादि क्रियाका फल निवृत्ति है।

२५. परकी रक्षा करनेसे दया नहीं होती किन्तु तीव्र कषायको शमन कर अपने आत्मीय गुणकी रक्षा करना दया है।

२६. बाह्य क्रियासे अन्तरङ्गकी वासनाका यथार्थ ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है।

२७. वही जीव महा पुण्यशाली है जिसने अनेक प्रकारके विरुद्ध कारणोंके समागम होनेपर भी अपने चिद्रूप को अशुचितासे रक्षित रखा है।

२८. इधर उधर मत भटको, आपका आत्मा ही आपका सुधार करनेवाला है।

२९. जिस ज्ञानार्जनसे मोहका उपशम नहीं हुआ उस ज्ञानसे कोई लाभ नहीं।

३०. स्नेह संसारका कारण है परन्तु धार्मिक पुरुषोंका स्नेह मोक्षका कारण है।

३१. यदि राग बुरा है तो रागमें राग करना और बुरा है।

३२. जिसने मानवीय पर्यायमें रागादि शत्रु सेनाका संहार कर दिया वही शूर है।

३३. आत्मज्ञान शून्य सभी प्रकार के व्यापार उसी तरह निष्फल हैं जिस प्रकार नेत्रविहीन सुन्दर मुख निष्फल है।

३४. यदि अहं बुद्धि हट जावे तब ममत्व बुद्धि हटने में कोई विलम्ब नहीं।

३५. यदि विकलता का सद्भाव है तब सम्यग्ज्ञानी और अनात्मज्ञानीमें कोई अन्तर नहीं। जिस समय आत्मासे कर्मकलंक दूर हो जाता है उस समय आत्मामें शान्तिका उदय होता है। अतः कल्याण आत्मासे भिन्न वस्तु नहीं अपि तु आत्माकी ही स्वभावज परिणति है।

३६. अनुराग पूर्वक परमात्माका स्मरण भी बन्धका कारण है अतः हेय है। मूल तत्त्व तो आत्म ही है। जबतक अनात्मीय भाव औदयिकादिका आदर करेगा संसार ही का पात्र होगा।

३७. व्याधिका सम्बन्ध शरीरसे है। जो शरीरको अपना मानते हैं उन्हें ही व्याधि है, भेदज्ञानीको व्याधि नहीं।

३८. जिन जीवोंने अपराध किया है उन जीवोंको तत्काल अथवा कभी भी दण्डित करने या मारने का अभिप्राय न होना इसीका नाम प्रशम है। यह गुण मानवमात्रके लिए आवश्यक है।

३९. अनात्मीय भावका पोषण करना विषधरसे भी भयानक है।

४०. जो गुण अन्यत्र खोजते हो वे तुम्हारे नहीं, आत्माका उनसे कोई उपकार नहीं, उपकार तो निज शक्तिसे होगा, उसी का विकाश करना श्रेयस्कर है।

४१. सबसे उत्कृष्ट दान ज्ञानदान है।

४२. आत्मीय गुणका विकाश उसी आत्माके होगा जो पर पदार्थोंसे स्नेह छोड़ेगा। आत्मकल्याणका अर्थी शुद्धोपयोगके साधक जो पदार्थ हैं उनसे भी स्नेह छोड़ देता है तब अन्यकी कथा ही क्या है।

४३. स्वयं जिन कर्मोंके हम कर्त्ता बन रहे हैं यदि चाहें तो उन्हें हम ध्वंस भी कर सकते हैं। जो कुम्भकार घट बना सकता है वही उसे फोड़ भी सकता है। इसी तरह जिस संसारका हमने संचय किया यदि हम चाहें तो उसका ध्वंस भी कर सकते हैं। वास्तवमें संचय करनेकी अपेक्षा ध्वंस करना बहुत सरल है। मकान बनवानेमें बहुत समय और बहुत साधनोंकी जरूरत होती है लेकिन ध्वंस करनेके लिये तो दो मज़दूर ही पर्याप्त हैं।

४४. एक बार यथार्थ भावनाका आश्रय लो और इन कलंक भावोंकी ज्वालाको सन्तोषके जलसे शान्त करो। इससे अपने ही आप अहं बुद्धिका प्रलय होकर 'सोऽहं' विकल्प को भी स्थान मिलने का अवसर न आवेगा। वचनकी पटुता, कायकी चेष्टा, मनके व्यापार इन सबका वह विषय नहीं।

४५. जहाँ सूर्य है वहीं दिन है। जहाँ साधु जन हैं वहीं तीर्थ है। जहाँ निस्पृह त्यागी रहते हैं वहीं अच्छा निमित्त हैं।

४६. दानका द्रव्य ऋण है; उससे मुक्त होना ही अच्छा है। निमित्तमें शुभाशुभ कल्पना छोड़ना ही हितकारी है। निमित्त बलात्कार हमारा कुछ अनर्थ नहीं कर सकते। यदि हम स्वयं उनमें इष्टानिष्ट कल्पना कर इन्द्रजालकी रचना करने लग जावें तब इसे कौन दूर करे? हम ही दूर करनेवाले हैं। अतः

सर्व विकल्पोंको छोड़ केवल स्वात्म-बोधके अर्थ किसीको भी दोषी न समझकर सबको हितकारी समझो।

४७. मेरी समझमें दो ही मार्ग उत्तम हैं एक तो गृहस्थावस्थामें जलमें कमलकी तरह रहना और दूसरे जिस दिन पैसासे ममता छूट जावे, घर छोड़ देना।

४८. जब तुम्हें शान्ति मिल जावे तब दूसरेको उपदेश दो। जबतक अपनी कषाय न जावे अन्यको उपदेश देना वेश्याको ब्रह्मचर्यका उपदेश देनेकी भाँति है।

४९. सहसा घर मत त्यागो, जिस दिन त्यागकी इच्छाके अनुकूल साधन हो जावें और परिणामोंमें सांसारिक विषयोंसे उदासीनता हो जावे विरक्त हो जाओ।

५०. संसारमें कोई किसीका नहीं। व्यक्ति अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अतः जब ऐसी व्यवस्था अनादि निधन है तब परके सम्पर्कसे असम्भव द्वैत बनने की चेष्टा करना क्या आकाशसे पुष्पचयन करनेके सदृश नहीं है?

५१. संसारमें देखिये वास्तवमें कोई भी पूर्ण सुखी नहीं है, क्योंकि जिसे हम सुखी समझते हैं वह भी अंशतः दुखी ही है।

५२. योग्यता देखकर दान करनेसे संसार लतिकाका नाश होता है। अयोग्यतासे संसार बढ़ता है।

५३. अपनेमें परके प्रति निर्मलताका भाव होना ही स्वच्छता है।

५४. द्रव्यका मिलना कठिन नहीं परन्तु उसका सदुपयोग विरले ही पुण्यात्माओंके भाग्यमें होता है।

५५. अपराधी व्यक्तिपर यदि क्रोध करना है तो सबसे बड़ा अपराधी क्रोध है वही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका शत्रु है, अतः उसीपर क्रोध करो।

५६. शरीरको सर्वथा निर्बल मत बनाओ। व्रत उपवास करो, परन्तु जिसमें विशेष आकुलता हो जावे ऐसा व्रत मत करो, क्योंकि व्रतका तात्पर्य आकुलता दूर करना है।

५७. संसारमें किसीको शान्ति नहीं। केलेके स्तम्भमें सारकी आशाके तुल्य संसार-सुखकी आशा है।

५८. गुरु शिष्यका व्यवहार मोहकी परिणति है, वास्तवमें न कोई किसीका शिष्य है न कोई किसीका गुरु है। आत्मा ही आत्माका गुरु है और आत्मा ही आत्माका शिष्य है।

५९. आडम्बर और है वस्तु और है, नकलमें पारमार्थिक वस्तुकी आभा नहीं आती। हीराकी चमक काँचमें नहीं। अतः पारमार्थिक धर्मका व्यवहारसे लाभ होना परम दुर्लभ है। इसके त्यागसे ही उसका लाभ होगा।

६०. ममत्व ही बन्धका जनक है।

६१. जहाँ तक बने परके जानने देखनेकी इच्छाको छोड़ निजको जानना देखना ही श्रेयस्कर है।

६२. अपनी आत्मगत जो त्रुटि है उसको दूर करनेका यत्न करनेसे यदि अवकाश पा जाओ तब अन्यका विचार करो।

६३. मुख्यतासे एकत्व परिणत आत्मा ही मोक्षका हेतु है।

६४. स्वात्मोन्नतिके लिये जहाँ तक बने दृढ़ अध्यवसायकी आवश्यकता है। शरीरकी कृशता उस कार्यमें उपयोगी नहीं।

६५. सबकी बात सुन कर स्वात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें जो साधक हो उसे करो, शेषको त्याग दो।

६६. व्रतका माहात्म्य वहीं तक कल्याणकारी है जहाँ तक ध्यान और अध्ययनमें वह बाधक न हो।

६७. जिसे क्षमाका स्वाद आ गया वह क्रोधाग्निमें नहीं जल सकता। पुस्तकाभ्यास का फल आभ्यन्तर शान्ति है यदि आभ्यन्तर शान्ति न आई तब पुस्तकाभ्यास केवल कायक्लेश ही है।

६८. चित्त का संतोष कर लेना अन्य बात है, और आभ्यन्तर शान्तिका रसपान करना अन्य बात है।

६९. वही बाह्य क्रिया सराहनीय है जो आभ्यन्तरकी विशुद्धतामें अनुकूल पड़े। केवल आचरणसे कुछ नहीं होता, जबतक कि उसके गर्भमें सुवासना न हो। सेमरका फूल देखनेमें अति सुन्दर होता है, परन्तु सुगन्ध शून्य होनेसे किसीके उपयोगमें नहीं आता।

७०. मोहके उदयमें बड़ी बड़ी भूलें होती हैं। अतः जहां तक बने अपनी भूल देखो, परकी भूलसे हमें क्या लाभ।

७१. जिनमें आत्माके गुणोंका विकास होता है वही पूज्य होते हैं। जहां पर ये गुण विकृतावस्थामें होते हैं वहीं अपूज्यता होती है।

७२. जो यह वैषयिक सुख है, वह भी दुःखरूप ही है, क्योंकि जब तक वह होता नहीं तब तक तो उसके सद्भावकी आकुलता रहती है और होनेपर भोगनेकी आकुलता रहती है। आकुलता ही जीवको सुहाती नहीं, अतः वही दुःखावस्था है।

७३. संसारको प्रायः सभी दुःखात्मक कहते हैं, यदि संसार दुःखरूप है तब यह जो हमको शुभ कार्योंके करनेका उपदेश दिया जाता है वह क्यों ? क्यों कि शुभ कर्म भी तो बाधक हैं। वास्तवमें संसारमें दुःख दिखा कर लोगोंको उत्साहसे वञ्चित कर दिया जाता है। असलमें संसार किसी स्थानका नाम नहीं, रागादि रूप जो आत्माकी परणति है उसीका नाम संसार है। और जहां रागादि परिणामोंका अभाव हुआ वहीं आत्माका मोक्ष है।

७४. अभिलाषा अनात्मीय वस्तु है। इसका त्यागी ही आत्मस्वरूपका शोधक है।

७५. सब आत्माएँ समान हैं केवल पर्यायदृष्टिसे ही भेद है।

७६. जो मनोनिग्रह करनेमें समर्थ है उसे मोक्ष महल समीप है अन्य कार्योंकी निष्पत्ति तो कोई वस्तु नहीं।

लौकिक खण्ड

१. जब जैसा जिसके द्वारा होना होता है होकर ही रहता है।

२. जिसको बहुत दिनसे सोचते हैं वह कार्य होता नहीं, जिसका कभी स्वप्नमें भी विचार नहीं करते वह अकस्मात् सामने आ पड़ता है। राजतिलककी तयारी करते समय किसने सोचा था कि श्रीरामको वनवास होगा ? विधिका विलास विचित्र और होनी दुर्निवार है !

३. मार्गदर्शक वही हो सकता है जो सरल और निस्पृह हो।

४. कहनेकी अपेक्षा मार्गमें लग जाना अच्छा है।

५. अति कल्पना किसी भी प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर सकती।

६. सच्चा हितैषी वही है जो अपने आत्मीय जनोंको हित की ओर ले जावे।

७. जिस देशमें जातिकी रक्षाके अर्थ मनुष्योंकी चेष्टा न हो वहाँ रहना उचित नहीं। हम तो जातिके हीन बालकोंके सामने धनको बड़ा नहीं समझते। हमारा तो यह विश्वास है कि धार्मिक बालकोंकी रक्षासे उत्कृष्ट धर्म इस कालमें अन्य नहीं। इनकी रक्षाके आधीन ही धार्मिक स्थानों की रक्षा है।

८. ऊपरी लिवाससे अन्तरङ्गमें चमक नहीं आती।

९. वचनकी सुन्दरतासे अन्तरङ्गकी वृत्ति भी सुन्दर हो यह नियम नहीं।

१०. अपनी भूलोंसे शिक्षा न लेनेवाला मनुष्य मूर्ख है। मूर्ख ही नहीं मनुष्य व्यवहारके योग्य नहीं। प्रत्येक मनुष्यसे भूल होती है, फिरसे उस भूलको न करना ही विज्ञानी बनने का पाठ है।

११. वह मनुष्य महामूर्ख है जो बहुत बकवाद करता है।

१२. जो आदमी लक्ष्यभ्रष्ट हैं वे ही सबसे बड़े मूर्ख हैं। उनका समागम छोड़ना ही हितकारी है।

१३. जो गुड़ देनेसे मरे उसे विष कभी मत दो। इसका तात्पर्य यह कि जो मधुर वाणीसे अपना दुर्व्यवहार छोड़ दे उसके प्रति कटु वचनोंका प्रयोग मत करो।

१४. व्याख्यान देना सरल है किन्तु इस पर अमल करना महान् कठिन है।

१५. जिस कार्यसे स्वयंकी आत्मा दुखी हो उसे परके प्रति करना उचित नहीं।

१६. वरदान वहाँ माँगा जाता है जहाँ मिलनेकी सम्भावना हो।

दैनन्दिनी के पृष्ठ

दैनन्दिनी के पृष्ठ

१. दैनन्दिनी (डायरी) का यही उपयोग है कि अपनी अतीत जीवन यात्राका आद्योपान्त सिंहावलोकन कर दोषों को दूर किया जाय, गुणों का सञ्चय किया जाय और उज्वल भविष्य निर्माण के लिए स्वपर हितमें प्रवृत्त होकर आदर्श बना जाय।

२. आज की बातको कल पर मत छोड़ो।

पौष कृष्णा १२ वी. २४६३

३. आकुलताका मूल कारण इच्छा है, इच्छाका मूल कारण वासना है, वासनाका मूल कारण विपरीत आशय है और विपरीत आशयका मूल कारण परपदार्थ में स्वात्म-बुद्धि है।

पौष कृष्णा १३ वीराब्द २४६३

४. व्रत में सावधानी रखो, केवल भूखे रहना कार्य कर नहीं।

पौष कृ. १४ वी. २४६३

५. धर्म वह वस्तु है जहाँ कषाय पूर्वक मन, वचन, काय के व्यापार रुक जावें। वही धर्म मोक्षमार्ग है।

पौष शुक्ला ३ वी. २४६३

६. यदि आत्म-कल्याण की इच्छा है तब मन, वचन कायके व्यापार को कषाय मिश्रित मत करो।

पौष शु. ४ वी. २४६३

७. पर को दिखाने के लिए कोई काम न करो। जिन प्राणियोंके सम्बन्धसे सुखका अभाव हो उन्हें छोड़ना ही अच्छा है।

पौष शु. ५ वी. २४६३.

८. परका उत्कर्ष देख ईर्षा और अपना उत्कर्ष देख गर्व मत करो।

पौष शु. ६ वी. २४६३

९. अधिक सम्पर्क मत रखो, यह एक रोग है जो बढ़ते बढ़ते असह्य दुखका कारण हो जाता है।

पौष शु. १३ वी. २४६३

१० अच्छे कार्य करते समय प्रसन्न रहो, यदि पापका कार्य बन जावे तब उत्तर कालमें आत्मनिन्दा करते हुए भविष्यमें वह कार्य न हो ऐसा प्रयत्न करो, यही प्रायश्चित्त है।

माघ कृ. ७ वी. २४६३

११. सच और झूठ छिपाये नहीं छिपता, अतः इस बात को भूल जाओ कि हम जो कुछ भी अकार्य करते हैं उसे कोई देखनेवाला नहीं।

माघ कृ. ८ वी. २४६३

१२. विपत्तिसे रक्षाके लिए धन सञ्चयकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता संयम भाव द्वारा आत्मरक्षाकी है।

माघ कृ. ९ वी. २४६३

१३. अपना स्वभाव अभिमान आदि अवगुणोंसे रहित, भोजन विशेष चटपटी चीजोंसे रहित और वस्त्र चाक्यचिक्य से रहित स्वदेशी शुद्ध खादीके रखो, देशभक्त बन जाओगे।

माघ कृ. १० वी. २४६३

१४. दोनों पक्षोंका हाल जाने बिना न्याय न करो। न्याय करते समय पक्ष-विपक्षका पूर्ण परामर्श कर जिस पक्षके साधक प्रमाण प्रबल हों उसीका समर्थन करो।

माघ शु. १ वी. २४६३

१५. मार्गमें सुख है अतः कुमार्गपर मत जाओ। जिन गुणोंसे पतित आत्माका उद्धार होता है वे गुण प्राणी मात्रमें हैं।

माघ शु. १२ वी. २४६३

१६. "कहनेसे करनेमें महान् अन्तर है" जिन्होंने इस तत्त्वको नहीं जाना वे मनुष्य नहीं पामर हैं।

माघ शु. १३ वी. २४६३

१७. किसीको धोखा मत दो। धोखेबाजी महान् पाप है।

माघ शु. १४ वी. २४६३

१८. बिना परिग्रहकी कृशताके व्रतका धारण करना अनर्थ परम्पराका हेतु है। जो निरुद्यमी होकर त्याग करते हैं वे अनर्थ पोषक हैं।

फाल्गुन कृ. १ वी. २४६३

१९. शिक्षाप्रद बात बच्चेकी भी मानो। अपनी प्रकृतिको सुधारनेकी चेष्टा करो, तभी आपका उपदेश दूसरोंपर असर कर सकता है।

फाल्गुन कृ. ५ वी. २४६३

२०. आवश्यकतासे अधिक धन रखना सरासर चोरी है।

ज्येष्ठ कृ. ८ वी. २४६३

२१. सत्यके सामने सभी आपत्तियाँ विलयको प्राप्त हो जाती हैं।

ज्येष्ठ कृ. १२ वी. २४६३

२२. उसी भावका आदर करो जो अन्तमें सुखद हो। और उस भावको मूलसे विच्छेद करो जो मूलसे लेकर विपाक काल तक कष्टप्रद है।

ज्येष्ठ शु. ७. ८ वी. २४६३

२३. बहु सङ्कल्पोंकी अपेक्षा अल्प कार्य करना श्रेयस्कर है।

श्रावण शु. ७ वी. २४६३

२४. जो मानव हृदयहीन हैं वे मित्रताके पात्र नहीं।

कार्तिक कृ. ४ वी. २४६३

२५. जन्मकी सार्थकता स्वात्म हितमें है। जो मनुष्य पर संसर्ग करता है वह संसार बन्धनका पात्र होता है।

कार्तिक शु. ७ वी. २४६४

२६. आत्महितमें प्रवृत्ति करनेसे अनायास ही अनेक यातनाओंसे मुक्ति हो जाती है।

कार्तिक शु. ९ वी. २४६४

२७. जो मनुष्य संसारमें स्त्रीके प्रेममें आकर अपनी परिणतिको भूल जाता है वह संसार बन्धनसे नहीं छूट सकता।

कार्तिक शु. १२ वी. २४६४

२८. जिसके पास ज्ञान धन है वही सच्चा धनी है।

मार्गशीर्ष कृ. ५ वी. २४६४

२९. ऐसा कार्य मत करो जो पश्चात्तापका कारण हो।

मार्गशीर्ष कृ. १० वी. २४६४

३०. लोककी मान्यता आत्मकल्याणकी प्रयोजक नहीं, आत्मकल्याणकी साधक तो निरीहवृत्ति है।

मार्ग. कृ. १२ वी. २४६४

३१. संसार अशान्तिका पुञ्ज है, अतः जो भव्य शान्तिके उपासक हैं उन्हें अशान्ति उत्पादक मोहादि विकारोंकी यथार्थताका अभ्यासकर एकान्तवास करना चाहिये।

मार्ग. कृ. १४ वी. २४६४

३२. प्रत्येक व्यक्तिके अभिप्रायको सुनो परन्तु सुनकर एकदम बहक मत जाओ। पूर्वापर विचार करो, जिससे आत्मा सहमत हो वही करो। बातें सुननेमें जितनी कर्णप्रिय होती हैं उनके अन्दर उतना रहस्य नहीं होता। रहस्य वस्तुकी प्राप्तिमें है, दर्शनमें नहीं, मिश्रीका स्वाद चखनेसे आता है देखनेसे नहीं।

पौष कृ. ४ वी. २४६४

३३. प्रत्येक कार्यका भविष्य देखो, केवल वर्तमान परिणामके आधार पर कोई काम न करो, सम्भव है उत्तर कालमें असफल हो जाओ।

पौष कृ. ५ वी. २४६४

३४. जो प्रारम्भ करते हैं, वे किसी समय अन्तको भी प्राप्त होते हैं, क्योंकि उनकी सीमा नियमित है। जो कार्य नियमपूर्वक किया जाता है वह एक दिन सिद्ध होकर ही रहता है।

पौष कृ. १४ वी. २४६४

३५. संयमकी रक्षा परम धर्म है।

पौष कृ. ३ वी. २४६४

३६. यदि संसार यातनाओंका भय है तब जिन निमित्तों और उपादान द्वारा वे उत्पन्न होती हैं उनमें स्निग्धताको छोड़ो।

पौष शु. ९ वी. २४६४

३७. विचारधाराको निर्मल बनानेके लिये वे वचन बोलो जो लक्ष्यके अनुकूल हों।

माघ कृ. १ वी. २४६४

३८. वही जीव प्रशस्त और उत्तम है जो परके सम्पर्कसे अपनेको अन्यथा और अनन्यथा नहीं मानता।

माघ कृ. २ वी. २४६४

३९. सुखका कारण संक्लेश परिणामका अभाव है।

माघ शु. ६ वी. २४६४

४०. जहाँ तक देखा गया आत्मा स्वकीय उत्कर्षकी ओर ही जाता है। कोई भी व्यक्ति स्वकीय उच्चताका पतन नहीं चाहता, अतः सिद्ध हुआ कि आत्माका स्वभाव उच्चतम है। इसलिये जो नीचताकी ओर जाता है वह आत्मस्वभावसे च्युत है।

माघ शु. ११ वी. २४६४

४१. स्वरूप सम्बोधन ही कार्यकारी और आत्मकल्याणकी कुञ्जी है। इसके बिना मनुष्य जन्म निरर्थक है।

फाल्गुन कृ. ७ वी. २४६४

४२. लोगोंकी प्रशंसा स्वात्मसाधनमें मोही जीवको बाधक और ज्ञानी जीवको साधक है।

फाल्गुन कृ. ११ वी. २४६४

४३. पुण्यबन्धका कारण मन्द कषाय है। जहाँ मानादिके वशीभूत होकर केवल द्रव्य लेने और प्रशंसा करानेका अभिप्राय रहता है वहाँ पुण्यबन्ध होना अनिश्चित है।

फाल्गुन कृ. १२ वी. २४६४

४४. आत्मा जिस कार्यसे सहमत न हो उस कार्यके करनेमें शीघ्रता न करो।

फाल्गुन शु. ३ वी. २४६४

४५. किसीके प्रभावमें आकर सन्मार्गसे वञ्चित मत हो जाओ। यह जगत् पुण्य पापका फल है अतः जब इसके उत्पादक ही हेय हैं तब यह स्वयमेव हेय हुआ।

४६. किसी भी कार्यके करनेकी प्रतिज्ञा न करो। कार्य करनेसे होता है प्रतिज्ञा करनेसे नहीं।

चैत्र कृ. ३ वी. २४६४

४७. अज्ञानताके सद्भावमें परम तत्त्व की आलोचना नहीं बनती। परम तत्त्व कोई विशेष वस्तु नहीं, केवल आत्माकी शुद्धावस्था है, जो अज्ञानी जीवको नहीं दिखती।

चैत्र कृ. ११ वी २४६४

४८. साधनहीन जीवों पर दया करना उत्तम है परन्तु उन्हें सुमार्गपर लाना और भी उत्तम है।

चैत्र शु. २ वी. २४६४

४९. जब तक पूर्वका अवधार न हो जाय आगे न चलो।

वैशाख कृ. ८ वी. २४६४

५०. परके छिद्र देखना ही स्वकीय अज्ञानताकी परम अवधि है।

वैशाख कृ. ३० वी. २४६४

५१. अज्ञानता पापकी जड़ है।

वैशाख शु. ९ वी. २४६४

५२. जो मनुष्य अपने मन पर विजयी नहीं संसारमें उसकी अधोगति निश्चित है।

वैशाख सुदी १३ वी. २४६४

५३. प्रवृत्ति वही सुखकर होती है जो निवृत्तिपरक हो।

ज्येष्ठ कृ. ३ वी. २४६४

५४. जिसने आत्मगौरव त्यागा वह मनुष्य मनुष्य नहीं।

ज्येष्ठ कृ. ५ वी. २४६४

५५. जिन महापुरुषोंने अपनेको जाना वही परमात्मा पदके अधिकारी हुए।

५६. महापुरुष होनेका उपाय केवल अपने आत्मगौरवकी रक्षा करना है। परन्तु आत्मगौरवका अर्थ मान करना और अपनी तुच्छता दिखाना नहीं है। क्योंकि आत्मा न उच्च है, न नीच है, अतः ऊँच नीचकी कल्पनाका त्याग ही आत्मगौरव है और वही आत्मपदमें स्थिरताका प्रधान कारण है।

५७. संसारसे याचना करना महती लघुताका पोषक है।

श्रावण कृ. ५ वी. २४६४

५८. विचारधारा पवित्र बनानेके लिये उत्तम संस्कार बनानेकी बड़ी आवश्यकता है।

५९. केवल शास्त्र जाननेसे ही मोक्ष मार्गकी सिद्धि नहीं होती, सिद्धिका कारण अन्तरंग त्याग है।

६०. यदि मोक्षकी अभिलाषा है तो एकाकी बननेका

प्रयत्न करो। अनेक वस्तुओंसे प्रेम करना आत्माके निजत्वका घातक है।

६१. इस संसारमें जो जितनी अधिक बात और बाह्य वस्तुजालसे सम्बन्ध करेगा वह उतना ही अधिक व्यग्र और दुखी होगा।

अश्विन कृ. ३ वी. २४६४

६२. परको सुखी करके अपनेको सुखी समझना परोपकारीका कार्य है।

६३. वे क्षुद्र जीव हैं जो परं विभव देखकर निरन्तर दुखी रहते हैं।

अश्विन शु. ९ वी. २४६४

६४. विजया दशमी मनानेकी सार्थकता तभी है जब कि पञ्चेन्द्रियोंकी विषय सेनाके स्वामी रावण राक्षसरूप मनका निपात किया जाय।

अश्विन शु. १० वी. २४६४

६५. मौनका फल निरीहवृत्ति है अन्यथा मौनसे कोई लाभ नहीं।

अश्विन शु. १३ वी. २४६४

६६. संसारमें सब वस्तुएँ सुलभ हैं परन्तु आत्मविवेक होना अतिदुर्लभ है।

कार्तिक कृ. १ वी. २४६४

६७. जब कभी भी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो तब स्वात्मवृत्ति क्या है इसपर विचार करो, चित्त स्थिर हो जायगा।

कार्तिक शु. २ वी. २४६५

६८. विचार करना कठिन है परन्तु सद्विचार करना और भी परम दुर्लभ है।

कार्तिक शु. ३ वी. २४६५

६९. जिन्होंने अन्तरङ्गसे पर वस्तुकी अभिलाषा त्याग दी उनका संसार समुद्र पार होना अतिसुगम है।

अगहन कृ. १ वी. २४६५

७०. संसारमें विशुद्ध परिणाम ही सुखकी सामग्री सम्पन्न कर सकते हैं।

अगहन कृ. ८ वी. २४६५

७१. जिसके जितनी उत्तम परिणामोंकी परम्परा होगी वह उतना ही अधिक सुखी होगा।

अगहन शु. २ वी. २४६५

७२. संसारमें कोई किसीका शत्रु नहीं, हमारे परिणाम ही शत्रु हैं। जिस समय हमारे तीव्र कषायरूप परिणाम होते हैं उस समय हम स्वयं दुखी हो जाते हैं तथा पापोपार्जन कर दुर्गतिके पात्र बन जाते हैं। अतः यदि सुखकी अभिलाषा है तो सभीको अपना मित्र समझो, सभीसे मैत्रीभाव रखो।

अगहन शु. ३ वी. २४६५

७३. बिना स्वात्मकथाके आत्महित होना अति कठिन है।

अगहन शु. १५ वी. २४६५

७४. अभिलाषाएँ संसारमें दुःखोंका मूल है।

पौष कृ. १२ वी. २४६५

७५. वही मनुष्य योग्य और श्रेयोमार्गका अनुगामी हो सकता है जो अपनी शक्तिके अनुरूप कार्य करता है।

पौष शु. ५ वी. २४६७

७६. जितने पाप संसारमें हैं उन सबकी उत्पत्तिका मूल कारण मानसिक विकार है। जब तक वह शमन न होगा सुखका अंश भी न होगा।

माघ शु. ७ वी. २४६७

७७. आपको आपरूप देखना ही शुद्धिका कारण है।

माघ शु. ८ वी. २४६७

७८. आयुकी अनित्यता जानकर विरक्त होना कोई विरक्तता नहीं किन्तु वस्तु स्वरूप जानकर अपने स्वरूपमें रम जाना ही विरक्तता है।

माघ शु. ६ वी. २४६७

७६. धनका मद विलक्षण मद है जो मनुष्यको बिना पिये ही पागल बना देता है।

चैत्र कृ. १ वी. २४६७

८०. व्रत करनेमें अन्तरङ्ग निर्मलता और निरीहताकी आवश्तकता है, दुर्बलता उतनी बाधक नहीं। क्योंकि निर्बलसे निर्बल मनुष्य परिणामोंकी निर्मलतासे मोक्षमार्गके पात्र बन जाते हैं जब कि निर्मलताके अभावमें सबलसे सबल भी मनुष्य संसारके पात्र बने रहते हैं।

अषाढ़ कृ. ८ वी. २४६७

८१. संक्लेश परिणाम आत्मामें दुःखका कारण और परिपाकमें पापका कारण है।

श्रावण कृ. ९ वी. २४६७

८२. अपने पर दया करोगे तभी अन्य पर दया कर सकोगे।

श्रावण कृ. १३ वी. २

८३. वही विचार प्रशस्त होते हैं जो आत्महितके पोषक हों।

श्रावण शु. २ वी. २४६७

८४. जो संसार समुद्रसे पार लगा देते हैं वे ही परमार्थतः गुरु हैं और वे ही मोक्षमार्गमें उपकारी हैं।

श्रावण शु. ८ वी. २४६७

८५. हित मित असंदिग्ध वचन ही प्रशस्त होते हैं अतः जो मनुष्य बहुत बोलता है वह आत्मज्ञानसे पराङ्मुख हो जाता है।

अश्विन कृ. ११ वी. २४६७

८६. नियमका उलंघन करना आत्मघातका प्रथम चिन्ह है।

अश्विन कृ. १४ वी. २४६७

८७. आत्महितके सम्मुख होना ही पर हितकी चेष्टा है।

प्रथम ज्येष्ठ कृ. ९ वी. २४६८

८८. व्रत वह है जो दम्भसे विमुक्त है। जहाँ दम्भ है वहाँ व्रत नहीं।

द्वितीय ज्येष्ठ कृ. ४ वी. २४६८

८९. बल वही उत्तम है जो दीनोंकी रक्षा करे।

द्वि. ज्येष्ठ कृ. ६ वी. २४६८

९०. बात वही अच्छी है जो स्वपर हित साधक हो।

द्वि. ज्येष्ठ शु. २ वी. २४६८

९१. कोई किसीका नहीं है। जैसे एक रुपयामें ही २ अठन्नियाँ, ४ चवन्नियाँ, ८ दुअन्नियाँ, १६ एकन्नियाँ, ३२ टके ६४ पैसे, १२८ धेले, १९२ पाई आदि भाग होते हैं फिर भी ये एक

दूसरेकी सत्तासे भिन्न-भिन्न हैं। यदि ये सभी भाग एक होते तो दो अठन्नियोंके मिलनेपर भी (एक रुपया व्यवहार न होकर) अठन्नी ही व्यवहार होता, परन्तु ऐसा नहीं होता। रुपयेको रुपया कहा जाता है, अठन्नीको अठन्नी, चवन्नीको चवन्नी, और पाईको पाई। इससे सिद्ध है कि सभी पदार्थ अपनी अपनी सत्तासे पृथक् पृथक् हैं। जब भिन्नताकी ऐसी स्थितिका ज्ञान हो जाय तब परको अपना मानना सर्वथा निरीमूर्खता है।

कार्तिक शु. १५ वी. २४६९

६२. जो भी कार्य करो, निष्कपट होकर करो, यही मानव की मुख्यता है।

अगहन शु. १३ वी. २४६९

६३. मनकी शुद्धि बिना कायशुद्धिका कोई महत्त्व नहीं।

अगहन शु. १५ वी. २४६९

६४. जो मनुष्य अपने मनुष्यपने की दुर्लभताको देखता है वही संसार से पार होने का उपाय अपने आप खोज लेता है।

पौष कृ. ८ वी. २४६९

६५. समय जो जाता है वह आता नहीं. मत आओ और उसके आनेसे लाभ भी नहीं; क्योंकि एक कालमें द्रव्यकी एक ही पर्याय होती है। तब जो समय विद्यमान है उसमें जो कुछ भी उपयोग बने करो, करना अपने हाथकी बात है केवल बातोंसे कुछ नहीं होगा। बातें करते करते अनन्त काल अतीत होगया परन्तु आत्माका हित नहीं हुआ।

पौष कृ. १० वीराब्द २४६९

६६. जो स्पष्ट व्यवहार करते हैं वे लोभवश अपयशके

पात्र नहीं होते। संकोचमें आकर जो मानव आत्माके अन्तरङ्ग भावको व्यक्त करनेसे भय करते हैं वे अन्तमें निन्दाके पात्र होते हैं। यथार्थ कहनेमें भय करना वस्तुस्वरूपकी मर्यादाका लोप करना है। जो मनुष्य संसारको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करते हैं वे अपनी आत्माको अकल्याणके गर्भमें पात करते हैं। मानव जन्म उसीका सफल है जो आत्माको अपना जाने।

पौष कृ. १४ वी. २४६९

६७. किसीकी परोक्षमें निन्दा करना उसके सम्मुख कहनेकी अपेक्षा महान् पापास्रव का कारण है। परकी निन्दा करनेसे आत्मप्रशंसाकी अभिलाषाका अनुमान होता है अथवा परके द्वारा पराई निन्दा श्रवण कर सम्मत होना यह भाव भी अत्यन्त पापास्रव का जनक है।

पौष शु. २ वी.२४६९

६८. आत्मा जब तक अपनी प्रवृत्तिको स्वच्छ नहीं बनाता तभी तक वह अनेक दुःखोंका पात्र होता है, क्योंकि मलिनता ही आत्माको पर वस्तुओंमें निजत्वकी कल्पना कराती है।

पौष शु. १० वी. २४६९

६९. "किसीको मत सताओ" यही परम कल्याणका मार्ग है। इसका यह तात्पर्य है कि जो परको कष्ट देनेका भाव है वह आत्माका विभाव भाव है, उसके होते ही आत्मा विकृत अवस्थाको प्राप्त हो जाता है और विकृत भावके होते ही आत्मा स्वरूपसे च्युत हो जाता है, स्वरूपसे च्युत होते ही आत्मा नाना गतियोंका आश्रय लेता है और वहाँ नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव करता है, इसीका नाम कर्मफल चेतना

है। कर्मफल चेतनाका कारण कर्मचेतना है जब तक कर्म-चेतनाका सम्बन्ध न छूटेगा इस संसार चक्रसे सुलझना कठिन ही नहीं असम्भव है।

माघ कृ. १२ वी. २४६९

१००. जिसने रागद्वेषको नहीं त्यागा वह व्यर्थ ही लोगोंकी वंचना करनेके अर्थ बाह्य तपस्वी बना हुआ है। और अन्यकी दृष्टि भी उसे तपस्वी रूपमें देखती है परन्तु उससे पूँछो तो वह यही कहता है कि मैं दम्भी हूँ, केवल अन्य लोग मुझे मिथ्या श्रद्धासे तपस्वी समझ रहे हैं, वे सब बुद्धिसे हीन हैं।

माघ कृ. १४ वी. २४६९.

१०१. जो कुछ करना है उसे अच्छे विचारोंसे करो। संसारकी दशा पर विचार करनेसे यह स्थिर होता है कि यहाँ पर कोई भी कार्य स्थिर नहीं, तब किसी भी कार्यको करनेकी चेष्टा मत करो, केवल कैवल्य होनेका प्रयास करो।

माघ शु. २ वी. २४६९.

१०२. संसारको प्रसन्न बनानेकी चेष्टा ही संसारकी माता है।

माघ शु. ३ वी. २४६९

१०३. यदि आत्माको अव्यग्र रखनेकी अभिलाषा है तब—

(१) पर पदार्थोंके साथ सम्पर्क न करो (२) किसीसे व्यर्थ पत्रव्यवहार न करो (३) और न किसीसे व्यर्थ बात करो (४) मन्दिरजीमें एकाकी जाओ (५) किसी दानीकी मर्यादासे अधिक प्रशंसाकर चारण बननेकी चेष्टा मत करो,

दान जो करेगा सो अपनी आत्माके हितकी दृष्टिसे करेगा, हम उसके गुणगान करें सो क्यों ? गुणगानसे यह तात्पर्य है कि आप उसे प्रसन्नकर अपनी प्रशंसा चाहते हो। इसका यह अर्थ नहीं कि किसीकी निन्दा करो उदासीन बनो।

माघ शु. ८ वी. २४६९

१०४. इस दुःखमय संसारमें जीवन सबको प्रिय है इसके अर्थ ही प्राणी नाना प्रकारके यत्न करता है, सर्वस्व देकर जीवनकी रक्षा चाहता है। इसके अर्थ ही ज्ञानका अर्जन, तप का करना और परिग्रहका त्याग आदि अनेक कारणोंको मिलाता है और स्वीय जीवनको शान्तिमय बनानेका यत्न करता है। यह सर्व त्याग अन्तरंग लाभके बिना निरर्थक है।

माघ शु. १२ वी. २४६९

१०५. जिसने आत्माकी सरलताकी ओर लक्ष्य दिया वह स्वयमेव अनेक द्वन्द्वसे बच गया, परकी संगतिसे आत्माकी परिणति अतिकुटिल और कलुषित हो जाती है। इसका उदाहरण देखो सोना चांदीके संगसे अपनी महत्ता खो देना है।

फाल्गुन शु. १ वी. २४६९

१०६. प्रायः प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि हमारा कल्याण हो। यह तो सर्वसम्मत है, परन्तु इसमें उस जीवका जो यह अभिमान है कि जो हमारे मुखसे निकल गया वही ब्रह्मवाक्य है, कल्याणका घातक विष है। इसीसे अभीष्टको चाहने पर जीव अभीष्टसे दूर रहता है। वास्तवमें जो निरभिमानपूर्वक प्रवृत्ति होगी वह आत्मकल्याणकी जननी है।

चैत्र कृ. २ वी. २४६९

१०७. मनुष्य वही प्रशस्त और उत्तम है जो आत्मीय वस्तु

पर निज सत्ता रक्खे। जो वस्तुमें निजत्व मानते हैं वे ही इस संसारके पात्र हैं, और नाना प्रकारकी वेदनाओंके भी पात्र होते हैं। तथा अन्य जीवोंको भी संसारके पात्र बनाते हैं।

चैत्र शु. १ वी. २४६९

१०८. जिसने अपनी प्रभुताको नहीं सम्भाला वह संसारमें दीन होकर रहता है, घर घरका भिखारी होता है। अपनी शक्तिके आधारसे ही अपनी सत्ता है उसका दुरुपयोग करना अपना घात करना है। अनन्त बलका धारी आत्मा भी पराधीन होकर दुर्गतिका पात्र बनता है। पराधीनता किसी भी हालतमें सुखकारी नहीं, इसके वशीभूत होकर यह जीव नाना गतियोंमें नाना दुर्गतिका पात्र होता है।

चैत्र शु. १५ वी, २४६९

१०९. अपने आप अपनी सहायता करो, परकी आशा करना कायरोंकी प्रकृति है। परके सहायसे सदा दीन बनना पड़ता है, और दीनता ही संसारकी जननी है।

वैशाख कृ. ५ वी. २४६९

११०. जो स्वच्छ मनमें आवे उसे कहनेमें सङ्कोच मत करो, २. किसीसे राग द्वेष मत करो; ३. राग द्वेषके आवेगमें आकर अन्यथा प्रलाप मत करो, यही आत्माके सुधारकी मुख्य शिक्षा है।

अषाढ़ शु. १२ वी. २४६९

१११. संसारकी दशा जो है वही रहेगी, इसको देखकर उपेक्षा करना चाहिये। केवल स्वात्मगुण और दोषोंको देखो और उन्हें देखकर गुणको ग्रहण करो और दोषोंको त्यागो।

श्रावण कृ. १ वी. २४६९

११२. वह कार्य करो जो आत्माको उत्तरकाल और वर्त्तमानमें भी सुखकर हो। जिस कार्यके करनेमें सङ्कोचकी प्रचुरता हो वह कार्य कदापि उत्तरकालमें हितकर नहीं हो सकता। ऐसे भाव कदापि न करो जिनके द्वारा आत्माका अधःपात हो, अधःपातका कारण असक्त प्रवृत्ति है। जब मनुष्य अधम काम करनेमें आत्मीय भावोंको लगा देता है तब उसकी गणना मनुष्योंमें न होकर पशुओंमें होने लगती है। अतः जिन्हें पशु सदृश प्रवृत्तिकर मनुष्य जातिका गौरव मिला है—वे मनुष्य स्वेच्छाचारी होकर संसारमें इतस्ततः पशुवत् व्यवहार भले ही करें पर उनसे मनुष्य जातिका उपकार नहीं हो सकता।

भाद्रपद कृ. ५ वी. २४६९

११३. जो मनुष्य संसारको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करते हैं वे अपने आत्माको संसारगतमें डालनेका प्रयत्न करते हैं और जो अपनी परिणतिको स्वच्छ बनानेका उपाय करते हैं वे ही सच्चे शूर हैं। संसारमें अन्य पर विजय पानेमें उतना क्लेश नहीं जितना आत्म विजय करनेमें क्लेश है। आत्माकी विजय वही कर सकता है जो अपने मनको परसे रोककर स्थिर करता है।

कार्तिक कृ. ३० वी. २४६९

११४. विशुद्धता ही मोक्षकी प्रथम सीढ़ी है। उसके बिना हमारा जीवन किसी कामका नहीं। जिसने उसको त्यागा वह संसारसे पार न हुए, उन्हें यहीं पर भ्रमण करनेका अवसर मिलता रहेगा।

कार्तिक शु. १५ वी. २४७०

वर्णी लेखाञ्जलि

संसार

जो परिणाम आत्माको एक जन्मसे दूसरा जन्म प्राप्त कराये उसी का नाम संसार है। संसार का मूल कारण मिथ्यादर्शन अर्थात् अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय भाव है, जिसके प्रभावसे यह आत्मा अनन्त संसारका पात्र होता है। यद्यपि जीव अमूर्त है और पुद्गल द्रव्य मूर्त है फिर भी अपनी अपनी योग्यतावश दोनों का अनादि सम्बन्ध है परन्तु यहाँपर जीवका पुद्गलके साथ जो सम्बन्ध है वह विजातीय दो द्रव्योंका सम्बन्ध है अतः दोनों द्रव्य मिलकर एकरूपताको प्राप्त नहीं होते अपि तु अपने अपने अस्तित्वको रखते हुए बन्धको प्राप्त होते हैं। यद्यपि दो परमाणुओंका बन्ध होनेपर उनमें एक रूप परिणमन हो जाता है इसमें विरोध नहीं। उदाहरणार्थ सुधा और हरिद्रा मिलकर एक लाल रंगरूप परिणमन हो जाता है, क्योंकि दोनों पुद्गल द्रव्यकी पर्याय हैं। यह सजातीय द्रव्योंके बन्धकी व्यवस्था है किन्तु विजातीय दो द्रव्य मिलकर एक रूपताको प्राप्त नहीं होते। उदाहरणार्थ जीव और पुद्गल इन दोनोंका बन्ध होने पर ये एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं किन्तु एकरूप नहीं होते। जीव अपने विभावरूप हो जाता है और पुद्गल अपने विभावरूप हो जाता है।

संसार दुःखमय है यह प्रायः सभीको मान्य है। चार्वाक

की कथा छोड़िये वह तो परलोक व आत्माके अस्तित्वको ही नहीं मानता। फिर भी जिस प्रत्यक्षको मानता है उसमें वह भी स्वीकार करता है कि मनुष्यकी सहायता करनी चाहिये क्योंकि यदि हम ऐसा न करेंगे तो जब हमारे ऊपर कोई आपत्ति आवेगी तब हमारी सहायता कोई अन्य व्यक्ति कैसे करेगा? अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि संसार विपत्तिमय है। वे विपत्तयां अनेक हैं और अनेकविध हैं। परन्तु जिसको दुःख बताया है वह भिन्न भिन्न पर्यायोंकी अपेक्षासे ही बताया है जिसका हमें अनुभव नहीं परन्तु आगम अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञानसे हम उसे जानते हैं। आगममें प्राणियोंकी चार गतियाँ बतलाई हैं १ तिर्यग्गति, २ नरकगति, ३ मनुष्यगति और ४ देव-गति। जीवोंको अपने शुभाशुभ परिणामोंके अनुसार इन चारों गतियोंमें अनेक बार जन्म मरणके असह्य दुःखोंको सहन करना पड़ता है। जैसे—

तिर्यग्गति—

जब यह जीव निगोदमें रहता है तब एक स्वांसमें अठा-रह बार जन्म मरण करता है। उस समय इसके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासो-च्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। तीन लोकमें घीके घड़ेकी तरह निगोद भरा हुआ है। इस तरह अनन्तकाल तो इसका निगोदमें ही जाता है। उसके दुःखोंको वही जान सकता है। उसके बाद पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि अनेक पर्यायोंमें जीव जन्म मरण कर जीवन व्यतीत करता है। उसके बाद द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय सम्बन्धी क्रमसे लट, पिपीलिका अलि आदि अनेक भव धारण कर आयुको व्यतीत कर अनेक दुःखों

का पात्र होता है। उसके बाद असैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याय धारण कर मनके बिना विविध दुःखोंका पात्र होता है। इसके बाद जब संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च होता है और उसमें भी यदि सिंहादि जैसा बलवान् पशु होता है तब दूसरे निर्बल प्राणियों को सताता है और आप भी निर्दयी मनुष्योंके द्वारा शिकार किये जाने पर तड़प-तड़प कर मरता है। तथा संक्लेश परणामों के कारण नरक गतिका पात्र होता है।

नरकगति—

नरकोंकी वेदना अनुमानसे किसीसे भी छिपो नहीं है। लोकमें यह देखा जाता है कि जब किसीको असह्य वेदना होती है तब कहा जाता है कि अमुक व्यक्तिको नरकों जैसी वेदना हो रही है। किसी स्थानके अधिक मैले-कुचैले और दुर्गन्धित देखे जानेपर कहा जाता है कि ऐसे सुन्दर स्थानको नरक बना रखा है। ऐसा कहनेका कारण यही है कि वहांकी भूमि इतनी दुर्गन्धमय होती है कि यदि वहाँका एक कण भी यहाँ आ जावे तो कोसोंके जीवोंके प्राण चले जावें। प्यास इतनी लगती है कि समुद्र भरका पानी पी जावे तो भी प्यास न बुझे। भूख इतनी लगती है कि तीनों लोकोंका अनाज खा जावे तो भी भूख न जाय परन्तु न पीनेको एक बूँद पानी मिलता है और न खानेको एक अन्नका दाना! शीत और गर्मीका तो कहना ही क्या है? गर्मी इतनी पड़ती है कि एक लाख मनका लोहेका गोला वहाँकी स्वाभाविक गर्मीसे ही क्षणमात्रमें पिघलकर पानी हो जाय और शीत इतनी पड़ती है कि वही पिघला हुआ लोहेका गोला शीतमें पहुंचने पर पुनः गोला हो जाय। न वहाँ जज है न मजिस्ट्रेट, न पुलिस

है, न पंचायत, न शासक हैं न शासित, जो कुछ हैं सब नारकी जीव ही हैं इसलिये कुत्तोंकी तरह केवल परस्परमें लड़ना, राक्षसोंकी तरह मारपीट करना और दानवकी तरह एक दूसरेके तिल तिल बराबर टुकड़े कर डालना यही उनका दिन रातका काम है। परन्तु मृत्यु? उनके शरीरके तिल तिल बराबर टुकड़े टुकड़े हो जाने पर भी मृत्यु नहीं होती अपि तु टुकड़े टुकड़े इकट्ठे होकर वे पुनः उठ खड़े होते हैं। मृत्यु तभी होती है जब नरकायु पूर्ण हो जाती है। इन अनेक वेदनाओंको सहनेके बाद कभी जब सौभाग्य होता है तब मनुष्य पर्याय प्राप्त होती है!

मनुष्यगति—

यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्यगति सभी गतियोंसे अच्छी है, परन्तु सच्चा सुख जिसे कहना चाहिये वह यहाँ भी प्राप्त नहीं होता है। माताके गर्भमें पिताके वीर्य और माताके रजसे शरीरकी उत्पत्ति होती है। गर्भमें नौ मास तक किस प्रकारके कितने कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, इसका पूर्ण अनुभव उसी समय वही जीव कर सकता है जो गर्भाशयमें रहता है। बाल्य अवस्थाके दुःख कुछ कम नहीं हैं। माता-पिता भले ही अपनी शक्तिभर उसे लाड़-प्यार करें, परन्तु उसके भी दुःखोंका अन्त नहीं होता। पलनेमें पड़ा-पड़ा भूख-प्यास या शरीरजन्य वेदनाओंसे तिलमिला उठता है, रोता और चिल्लाता है, रोने के सिवा और कोई उपाय नहीं। वह तो इसलिये रो रहा है— "माँ! मुझे दूध पिला दे" परन्तु माँ उसे पलना झुला देती है और गाती है—"सो जा बारे वीर!" और जब बालक सोना चाहता है तब माँ उसे दूध पिलाना चाहती है, कैसी आपत्ति

है ! माँ गृह-कार्यमें व्यस्त होती है, बालकके कपड़े मलमूत्र से गन्दे हो जाते हैं। बालक सूखे और साफ कपड़े चाहता है, परन्तु वे समय पर नहीं मिलते। कैसी परतन्त्रता है !

स्त्री पर्यायके अनुसार यदि कन्या हुई तो कहना ही क्या है ? उसके दुखोंको पूछनेवाला ही कौन है ? जन्म समय "कन्या" सुनते ही माँ-बाप और कुटुम्बीजन अपने ऊपर सजीव ऋण समझने लगते हैं। युवावस्था होनेपर जिसके हाथ माता पिता सौंप दें गाय की तरह चला जाना पड़ता है। कन्या सुन्दर हो वर कुरूप हो, कन्या सुशील और शिक्षित हो वर दुःशील और अशिक्षित हो, कन्या धन सम्पन्न और वर गरीब हो कोई भी इस विषमता पर पूर्ण ध्यान नहीं देता ! लड़की को घरका कूड़ा कचड़ा समझकर जितना शीघ्र हो सके घर से बाहर करनेकी सोचता है ! कैसा अन्याय है ! यदि पुरुष हुआ तो भी कुशलता नहीं। विवाह क्या होता है मनुष्यसे चतुष्पद (चौपाया) हो जाता है। एक दूसरी ही कुलदेवी का शासन शिरोधार्य करना पड़ता है ! घूँघट माताके आज्ञा पालनमें मदारीके बन्दरकी तरह नाचना पड़ता है ! विषयाशाकी ज्वालामें रात दिन जलते जलते बहुत दिन बाद भी जब कभी सन्तति न हुई तब सासु बहूको कुलक्षणा और और कुलकलङ्किनी कहती है, पति स्त्री को फूटी आँखसे भी नहीं देखना चाहता ! इस तरह बेचारी बहूको माँगे भी मौत नहीं मिलती। यदि सन्तति हुई और बालिका हुई तब भी कुशल नहीं, कहते हैं पूर्व भवका सजीव पाप शिर पर आ पड़ा ! यदि बालक हुआ और दुराचारी निकल गया तब कुल कलङ्की ठहरा ! पिताकी षट्पद (छह पैरवाला-भौंरा) संज्ञा हो गई, कुटुम्ब पालनके लिए भौंरे की तरह इधर उधर दौड़ता

है और जब दूसरी सन्तति हो गई तब अष्टापद (आठ पैर वाला-मकड़ी) संज्ञा हो गई कुटुम्बके भरण-पोषण के लिए मकड़ीके जालकी तरह संसार जालमें फँस जाता है, न आत्मोन्नतिकी बात सोच सकता है, न परोन्नतिकी चेष्टा कर सकता है। सांसारिक जालका कैसा विकट बन्धन है !

वृद्धावस्था तो एक ऐसी अवस्था है जिसमें जीवित भी व्यक्ति मरेसे गया बीता हो जाता है। हाथ पैर आदि सभी आङ्गोपाङ्ग शिथिल हो जाते हैं। तीर्थाटनकी इच्छा होती है पर चला नहीं जाता, सुस्वादु भोजन करना चाहता है परन्तु दाँत भंग हो जानेसे जिह्वा साथ नहीं देती, सुगन्धित फूलोंकी गन्ध लेना चाहता है पर घ्राणेन्द्रिय सहायता नहीं करती, उत्तम रूप सुन्दर दृश्य देखना चाहता है पर आँखोंसे दिखता नहीं, उल्लासक गायन वादन सुनना चाहता है परन्तु कान बहिरे हो जाते हैं इसलिए साधारण या अपने लिये आवश्यक कार्यकी भी बात नहीं सुन पाता। हाथ काँपते हैं, पैर लड़खड़ाते हैं, लाठीके बल चलते हैं ! रास्ता पूछते मुँहसे लार टपकती है, वचन स्पष्ट नहीं निकलते, आगे बढ़ते हैं आँखोंसे दिखता नहीं, दीवालसे टकरा जाते हैं। "बाबाजी लाठीके इस हाथ चलो" रास्ता बताया जाता है, कानोंसे सुनाई नहीं देता, बाबाजी लाठीके उस हाथ चलते हैं, गड्ढेमें गिर जाते हैं। घर कुटुम्ब ही नहीं पुरा पड़ोसके भी लोग बाबाजीके मरनेकी माला टारते हैं कैसा अनादर है !

यदि मन्दकषायसे मरण हुआ, तब देवायुके बन्धसे देवगतिको प्राप्त करता है।

देवगति—

एक व्यक्ति जब अनेक संकट या कष्ट सहनेके बाद निर्द्वन्द्व

स्वच्छन्द आनन्दको प्राप्त कर लेता है तब उसे अनुभव होता है, वह सहसा कह भी उठता है-"अब तो मैं स्वर्गीय सुख पा गया ।" धनिकोंके ठाट-बाटको, सुख साधक सामग्रियों एवं भव्य-भवनोंको देखकर लोग कहा करते हैं—"सेठ सा० को क्या चाहिये स्वर्गों जैसा सुख है ।" यह लोक व्यवहार हमारे अनुमानमें सहायता करता है कि वास्तवमें स्वर्गोंमें ऐसी निर्द्वन्द्वता, स्वच्छन्दता और आनन्द होगा। ऐहिक सुखोंसे जहाँ तक सम्बन्ध है स्वर्गोंका ठाट-बाट और स्वच्छन्द सुखके सम्बन्धमें अनुमान ठीक है परन्तु वास्तविक सुखोंसे-पारलौकिक सुखोंसे जहाँ सम्बन्ध है वहाँ आगम कहता है—"जिस देव पर्यायको तुम सुखोंका खजाना समझते हो वह नुकीले घास पर ओसकी बूँदों को मोती समझना है। भवनवासी व्यन्तर और जोतिष्क जातिके देवोंमें निरन्तर परिणामोंकी निर्मलता भी नहीं रहती, यदि विमानवासी क्षुद्र देव हुआ तब महान् पुण्यशाली देवोंका वैभव देख संक्लेशित रहता है। बड़ा देव हुआ तब निरन्तर सुखकी सामग्रीके भोगनेमें आकुलित रहता है। देवायु जब पूर्ण होती दिखती है तब उन सुखोंकी सामग्रीको अपनेसे बिछुड़ता देख इतना संक्लेशित होता है जिससे सद्गतिका बन्धन होकर पुनः उन निगोदादि दुर्गतियोंका पात्र होता है।

इस प्रकार संसारमें चारों गति दुःखमय हैं, कहीं भी सुख नहीं हैं। इन सभी दुःखोंका हमें प्रत्यक्ष नहीं और जबतक किसीका प्रत्यक्ष अनुभव न हो तबतक उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा नियम है। इष्टको जानकर उसके उपायमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार अनिष्टको जानकर उसके जो कारण हैं उनमें प्रवृत्ति नहीं करनेकी चेष्टा होती है।

यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि मोक्ष तो प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय नहीं, फिर मनुष्य मोक्षके उपायोंमें क्यों प्रवृत्ति करता है ? तो उसकी ऐसी आशङ्का करना ठीक नहीं, क्योंकि मोक्ष भले ही प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय न हो परन्तु अनुभव और आगमका विषय तो है हीं। हम देखते हैं कि लोकमें आशादिकी निवृत्ति होनेसे हमें सुख होता है, तब जहां सब निवृत्ति हो गई हो वहां तो स्थायी सुख होगा ही। इस प्रकार इस अनुमानसे मोक्ष सुखका ज्ञान हो जाता है और इसीसे मोक्षके उपायोंमें मुमुक्षुवर्गकी प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी तरह चतुर्गतिके जीवोंके दुःख तथा अतीत कालमें हमको जो दुःख हुए उनका प्रत्यक्ष तो है नहीं, अतः उनके निवारणका प्रयत्न हम क्यों करें ? यह आशङ्का भी ठीक नहीं। अतीत कालके दुःखोंकी कथा छोड़ो, वर्तमानमें जो दुःख हैं उन पर दृष्टिपात करो।

सुख और दुःख व उसके कारण—

नैयायिकोंने दुःखका लक्षण—"प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्" माना है और जैनाचार्योंने—"आकुलता—एक तरहकी व्यग्रताको दुःख" कहा है। आकुलताकी उत्पत्तिमें मूल कारण इच्छा है और इच्छाकी उत्पत्ति क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेदसे होती है। अर्थात् जब इस जीवके क्रोधकषायकी उत्पत्ति होती है तब इसके अनिष्ट करने, मारने और ताड़नेके भाव होते हैं, जब मान कषायका आविर्भाव होता है तब परको नीचा और अपनेको ऊँचा दिखानेका भाव होता है। जबतक यह परका अनिष्ट न कर ले या परको ताड़नादि न कर ले तबतक इसे शान्ति नहीं मिलती। तत्त्वदृष्टिसे विचार करने पर परको

कष्ट पहुँचानेसे कुछ नहीं मिलता, परन्तु जबतक ऐसा नहीं कर पाता तबतक उस कषायकी शान्ति नहीं होती। यही दुःख है। अथवा परको नीचा दिखाना और अपनेको उच्च मान लेना, इससे इसे कुछ लाभ नहीं। परन्तु जबतक ऐसा नहीं कर लेता तबतक इसे शान्ति नहीं। जिस कालमें इसने अपनी इच्छा के अनुकूल ताड़नादि क्रिया कर ली या परको नीचा दिखानेका प्रयत्न सिद्ध हो गया, उस कालमें यह जीव अपनेको शान्त मान लेता है, सुखी हो जाता है। यहां पर यह विचारणीय है कि जो सुख हुआ वह दूसरोंको ताड़ने या नीचा दिखानेसे नहीं हुआ, अपितु ताड़ने या नीचा दिखानेकी जो इच्छा थी वह शान्त हो गई, इसीसे वह हुआ। इससे सिद्ध है कि इच्छा मात्रका सद्भाव दुःखका करण है और इच्छाका अभाव सुखका कारण है।

दुःखका कारण मोह—

मनुष्य पर्याय बहुमूल्यवान् वस्तु है, इसे यों ही न खोना चाहिये। जिस समय हमारी आत्मामें असाताका उदय आता है उसी समय हम मोहवश दुःखका वेदन करते हैं। केवल असाताका उदय कुछ कार्यकारी नहीं, उसके साथमें यदि अरति आदि कषायका उदय न हो तब असातोदय कुछ नहीं कर सकता। सुकुमाल स्वामीके तीव्र असातोदयमें जन्मान्तरकी वैरिणी स्यालिनी व उसके दो बालकोंने उनके शरीरको पञ्जों द्वारा विदारण कर तीन दिनतक रुधिर पान किया, परन्तु उनके अन्तरङ्गमें मोहकी कृशता होनेसे उपशमश्रेणी आरोहण कर वे सर्वार्थसिद्धिको गये। अतः दुःख-वेदनमें मूलकारण मोहनीय कर्मका उदय है। यद्यपि कर्म जड़ हैं, वे

न तो आत्माका भला ही कर सकते हैं और न बुरा ही कर सकते हैं। परन्तु जब उनका उदयकाल आता है तब आत्मा स्वयमेव रागादि रूप परिणाम जाता है. इतना ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे—जब मोह का विपाक होता है अर्थात् जब मोहनीय कर्मफल देनेमें समर्थ होता है उस कालमें आत्मा स्वयं रागादिरूप परिणाम जाता है, कोई परिणमन करानेवाला नहीं है। यही नियम सर्वत्र है, जैसे–कुम्भकार घटको बनाता है, यहां भी यही प्रक्रिया है। अर्थात् कुम्भकारका व्यापार कुम्भकारमें है, दण्डादिका व्यापार दण्डादिमें है और मृत्तिकाका व्यापार मृत्तिकामें है। वास्तवमें कुम्भकार अपने योग व उपयोगका कर्ता है किन्तु उनका निमित्त पाकर दण्डादिमें व्यापार होता है, अनन्तर मृत्तिकाकी प्रागवस्थाका अभाव होकर घट बन जाता है। ऐसा सिद्धान्त है कि—

"यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तत्कर्म।"

इस सिद्धान्तके अनुसार घटका कर्ता न तो कुम्भकार है और न ही दण्डादि हैं किन्तु मृतिका कर्ता है और घट कर्म है। परिणाम परिणामीभावकी अपेक्षा मृतिका और घटमें कर्तृकर्म भाव तथा व्याप्यव्यापक भाव है। निमित्त-नैमित्तिकभावकी अपेक्षा कुम्भकार कर्ता और घट कर्म है। यही व्यवस्था सर्वत्र है। इसी प्रकार आत्मामें जो रागादि परिणाम होते हैं उनका परिणामी द्रव्य आत्मा है, अतः आत्मा कर्ता है और रागादि भाव कर्म हैं। इसी प्रकार आत्मामें वर्तमानमें रागादि द्वारा जो अकुशलतारूप परिणाम होता है आत्मा उसका कर्ता है और रागादिक कर्म हैं। इस प्रकार रागादि परिणाम और परिणामी आत्मा इन दोनोंका परस्पर कर्तृकर्मभाव है।

मोक्ष—

जैसा कि पहले बतला आये हैं कि रागादिक द्वारा हमारी आत्मामें जो आकुलता होती है उसीका नाम दुःख है। उस दुःखको कोई नहीं चाहता परन्तु जब यह दुःखरूप अवस्था होती है उस समय हम व्याकुल रहते हैं किसी भी विषयमें उपयोग नहीं लगता, चित्त यही चाहता है कि कब यह संकट टले। इसका अर्थ यही है कि यह विषय ज्ञानमें न आवे परन्तु मोही जीव पर्यायदृष्टिवाले हैं उनसे यह होना असम्भव है। यदि इष्ट वियोग होगया तब वही ज्ञानका विषय होता है। विषय होना मात्र दुःखका कारण नहीं, उसके साथ जो मोहका सम्बन्ध है वही दुःखका कारण है। बाह्य वस्तुका वियोग न तो दुःखका कारण है और न उसका संयोग सुखका कारण है। केवल कल्पनासे ही सुख और दुःख मान लेता है। अतः सुख और दुःख आप ही परमार्थसे दुःखरूप हैं। जिस वस्तुके संयोगसे हमें हर्ष होता है उसे हम सुखका कारण मान लेते हैं और उसी वस्तुके वियोगसे दुःख मान लेते हैं, तथा जिस वस्तुके संयोगसे चित्तमें विकार होता है उसे हम दुःखका कारण मान लेते हैं और उसी वस्तुके वियोगसे सुख मान लेते हैं। यह काल्पनिक मान्यता हमारे मोहोदयसे होती है, वस्तु न सुखदाई है और न दुःखदाई है क्योंकि जिस वस्तुके संयोगसे हम सुख होना मानते हैं उसी वस्तुका संयोग दूसरोंको दुःखदायी होता है। अतः सिद्ध है कि पदार्थ सुखदाई या दुःखदाई नहीं अपितु हमारी कल्पना ही सुखदाई और दुःखदाई है। इसलिये पदार्थोंको इष्टानिष्ट मानना मिथ्या है। हमें आत्मीय परणतिमें जो मिथ्या कल्पना है उसे त्याग देना आवश्यक है। जिस दिन हमारी मान्यता इन विकल्पोंसे मुक्त

हो जावेगी, अनायास तज्जन्य दुःखोंसे छूट जावेगी। इसीका नाम मोक्ष है।

मोक्ष प्राप्तिमें प्रबल साधक कारण १ सम्यग्दर्शन, २ सम्यग्ज्ञान और ३ सम्यक्चारित्र हैं। इनके पहिले दर्शन, ज्ञान और चारित्र की जो अवस्था होती है उसे १ मिथ्यादर्शन, २ मिथ्या ज्ञान और ३ मिथ्याचारित्र कहते हैं। यही तीन कारण मोक्षके सबसे सबल बाधक हैं।

मिथ्यादर्शन—

मुक्तिका अर्थ है छूटना, अर्थात् मिथ्यात्वके उदयमें आत्मा पर पदार्थोंमें आत्मीयताकी कल्पना करता है, उन्हें आत्मस्वरूप मानता है। यद्यपि वे आत्मस्वरूप नहीं होते परन्तु इसको तो यह प्रतीत होता है कि ये हम ही हैं। जैसे जब अन्धकारमें रस्सीमें सर्पका ज्ञान होता है तब इसके ज्ञानमें स चात् सर्प ही दीखता है। और इसके अन्तरङ्गमें भय प्रकृतिकी सत्ता है अतः भयभीत होकर भागनेकी चेष्टा करता है। वास्तवमें रस्सी सर्प नहीं हुई और न ज्ञानमें सर्प है फिर भी जिस कालमें यह ज्ञान होरहा है उस कालमें ज्ञानका परिणमन ज्ञानरूप होकर भी सर्प जैसा भान होरहा है, इसीसे ये सभी उपद्रव होरहे हैं। जब यह भेदविज्ञान हो जाय कि मुझे जो सर्प ज्ञान हो रहा है वह मिथ्या है तब उसका भय एकदम पलायमान हो जाता है। मिथ्याज्ञानका अभाव ही भयके दूर होनेका कारण है।

मिथ्याज्ञान—

इस तरह जीवके दुःखका कारण मिथ्याज्ञान है। अर्थात्

यह जीव शरीरको आत्मा मानता है और शरीरकी नाना अवस्थाओंको अपनी अवस्थाएँ मानता है। उन अवस्थाओंमें जो इसके कषायके अनुकूल अवस्था होती है उससे हर्ष मानता है और जो उसके कषायके प्रतिकूल अवस्था होती है उससे विषाद मानता है। यही मिथ्याज्ञान है और यही संसारके सुख दुःखका कारण है अतः जिनको संसार दुःखमय भासता है वे इन कषायोंसे भय करने लगते हैं तथा प्रत्येक कार्यमें कषायकी निवृत्ति करनेकी चेष्टा करते हैं। पञ्चेन्द्रियोंके विषय सेवन करनेमें भी उनका लक्ष्य कषाय निवृत्तिका रहता है। जब राग सुननेकी इच्छा होती है तब राग सुननेकी इच्छासे आत्मामें एक प्रकारकी हलचल हो जाती है उसे दूर करनेके लिये ही यह प्रयत्न करता है। इसी तरह और भी जो इच्छा आत्मामें बेचैनीका कारण हो वह कालान्तरमें चाहे बुद्धिमें न आवे उसके अभाव या दूर करनेका प्रयत्न करता है। यही कारण है सम्यग्दृष्टि विषय सेवन करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता। आसक्तिके अभावसे ही उसके बन्धका अभाव कहा है। बन्ध न हो यह बात नहीं है, बन्ध तो होता है परन्तु जो बन्ध अनन्त संसारका कारण होता है वह नहीं होता क्योंकि संसारका कारण मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय है उसका उसके अभाव है। माना कि अनन्तानुबन्धी चारित्र मोहनीय प्रकृति है। वह स्वरूपाचरणकी घातक है। परन्तु जब मिथ्यात्वके साथ इसका सत्त्व रहता है तब यह सम्यक्त्व गुणको भी नहीं होने देती। इसीसे जब सम्यग्दर्शन होता है तब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चारों कषायोंका उदय नहीं होता। सम्यग्दर्शनके होने पर यह आत्मा परको निज माननेके

अभिप्रायसे मुक्त हो जाता है। जबतक जीवके मिथ्यात्व रहता है तबतक इसका ज्ञान मिथ्या रहता है और जब मिथ्याज्ञान रहता है तब परको निज मानता है। अर्थात् तब इसके स्वपरका विवेक नहीं होता।

मिथ्याचारित्र—

इसी मिथ्याज्ञानके बलसे परमें ही इसकी प्रवृत्ति होती है। इसीका नाम मिथ्याचारित्र है। अर्थात् मिथ्यादर्शनके बलसे ही परमें निजत्वकी कल्पना होती है और उसीमें प्रवृत्ति करता है। कहाँ तक कहें स्त्री पुत्रादिमें निजत्वकी कल्पना तो होती ही है, अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और द्वादशांग शास्त्रको भी अपने मानने लगता है। हमारा धर्म हमारे गुरु और हमारा आगम इस तरह निजत्वकी कल्पना करता है। जो अपने अनुकूल हुए अथवा जिनके साथ रोटी बेटीका व्यवहार होता है उन्हें अपनी जातिका मान लेता है। इसके अतिरिक्त जो शेष बचते हैं उन्हें कह देता है "आपको मन्दिर आनेका अधिकार नहीं, आप पूजन नहीं कर सकते, आप मूर्तिका स्पर्श नहीं कर सकते आप जहाँपर प्रतिबिम्ब विराजमान है वहाँ नहीं जा सकते! आप दस्सा होगये, आप मोक्षमार्गका साधन हमारे मन्दिरमें नहीं कर सकते! आपका हम पानी नहीं पी सकते क्योंकि आप जातिच्युत हैं, बड़े भाग्यसे शुद्धता मिलती है। यदि आपको दर्शन करना हो तो कर लो अन्यथा चले जाओ।" यदि नया लहुरीसेन (दस्सा) हुआ तब कह देता है—"जाओ! अभी तुम दर्शन करनेके पात्र नहीं। जब तुम अपनी जातिमें मिल जाओगे तब हमारे मन्दिरमें आ सकते हो।" यदि कोई पूछ बैठे—"मन्दिरमें मालीको क्यों आने

देते हो ?" तब उत्तर मिलता है—"वह हमारी जातिका नहीं, आप तो हमारी जातिके हैं, पतित हो गये हो। आप किसीको दान नहीं दे सकते चाहे मुनि हो चाहे त्यागी हो। आप हस्त-लिखित शास्त्रोंका उपयोग नहीं कर सकते।" जो मनमें आता है सो बोलता है—"स्त्री वर्गको पूजन करनेका अधिकार है परन्तु वह मूर्तिका स्पर्श नहीं कर सकती क्योंकि उसके निरन्तर शङ्का रहती है, आदि।" जहां अपने सजातीय वर्गकी यह दशा है वहां शूद्रोंकी क्या कथा ? उनके मन्दिर प्रवेशकी बात तो अभी जैनियोंमें दूर है ! यद्यपि यह कल्पना आगमोक्त नहीं परन्तु मिथ्यात्वके उदयमें जो जो अनर्थ न हों सब थोड़े हैं।

उच्चगति और मोक्ष—

आगम तो यह कहता है—"चारों ही गतिमें संसारका नाशक सम्यग्दर्शन होता है, तिर्यग्गतिमें देशसंयम होता है। मनुष्यगतिमें सकलसंयम होता है। क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति और तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर्मभूमिके मनुष्योंके होता है। वहां यह नहीं लिखा—"अमुक गति, अमुक वर्ण अमुक जाति या अमुक वर्गवाला ही इसका अधिकारी है। अपि तु महान् पापोपार्जन करके भी जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन और तीथङ्कर प्रकृतिका अधिकारी हो सकता है।" राजा श्रेणिकने मुनि निन्दासे नरकायुका बन्ध कर लिया था फिर भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध किया। बहुतसे जीव उत्तम कुलमें हुए परन्तु पाप करके वे नरक चले गये और जिन्हें आप नीच कुलवाले समझते हैं वे धर्म करके उत्तमगतिमें चले गये। जिन्हें आप नीच गोत्रवाले तिर्यञ्च कहते हैं वे जीव भी धर्मके प्रसाद

से उच्चगतिमें चले गये। महान् हिंसकसे हिंसक शूकर, सिंह, नकुल, वानर भोगभूमिमें चले गये। वहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त कर स्वर्ग गये। कई भवमें भगवान् आदिनाथ स्वामीके पुत्र हुए। तथा नरक गतिवाले जीव जिनके निरन्तर असाताका उदय व क्षेत्रजनित वेदनासे निरन्तर संक्लेश परिणाम रहते हैं वे जीव भी किसीके उपदेश बिना ही स्वयमेव परिणामोंकी निर्मलतासे सम्यग्दर्शनके पात्र होते हैं। परिणामोंकी निर्मलतासे असाता आदि प्रकृतियां कुछ भी विघात नहीं कर सकतीं।

जाति, कुल और मोक्ष—

नरकोंमें नाना प्रकारकी तीव्र वेदना है परन्तु वहां भी जीव तीसरे नरक तक तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि नीच गोत्रमें भी तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती रहती है। परिणामोंके साथ मोक्ष मार्गका सम्बन्ध है, बाह्य कारणोंसे उसका कुछ भी विघात नहीं होता अतः जो जाति अभिमानसे परका तिरस्कार करते हैं वे धर्मका मार्मिक स्वरूप ही नहीं समझते। श्री पूज्यपाद स्वामीने कहा है—"जिनको जाति और कुलका अभिमान है वे मोक्षमार्गसे परे हैं।" यथा—

"येऽप्येवं वदन्ति यद्वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरतः स एव परमपदयोग्यः तेऽपि न मुक्तियोग्याः।" यतश्च—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात् ते ये जातिकृताग्रहाः॥"

अर्थात् "वर्णोंमें ब्राह्मण गुरु है, महान् है, पूज्य है इस लिये वही मुक्तियोग्य है" ऐसा जो कहते हैं वे भी मुक्तिके पात्र नहीं क्योंकि "ब्राह्मणत्व आदि जो जातियां हैं वे देहके आश्रय

देखी गई हैं और शरीर जो है वह आत्माका संसार है। इस लिये जो जीव मुक्तिके लिये जातिका आग्रह मान रहे हैं वे संसारसे नहीं छूट सकते।" न तो जाति बन्धका कारण है और न मुक्तिका कारण है, क्योंकि जातिका होना परद्रव्याधीन है।

जाति वेष और मोक्ष—

"ब्राह्मणत्व जाति मोक्षका मार्ग न हो, किन्तु ब्राह्मणत्व जातिविशिष्ट जीव निर्वाण दीक्षाके द्वारा दीक्षित होने पर मुक्तिको प्राप्त कर लेता है" ऐसा जो कहते हैं उनके प्रति पूज्यपाद स्वामीका कहना है—

"जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥"

अर्थात् जाति और वेषके विकल्पसे मुक्ति माननेवाले जो लोग कहते हैं कि ब्राह्मणत्व जातिविशिष्ट होनेके बाद जब दैगम्बरी दीक्षा धारण करेगा तभी मुक्तिका पात्र होगा। वे मनुष्य भी परम पदको प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि जाति और वेष पराश्रित हैं। वे मोक्ष-प्राप्तिमें साधक बाधक नहीं। एकमात्र आत्माश्रित भाव ही मोक्षका कारण हो सकता है। श्री कुन्दकुन्द स्वामीने समयसारमें लिखा है—

"पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति।
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति॥"

पाखण्डीलिंग अथवा गृहस्थलिंग ये बाह्य लिङ्ग हैं जो बहुत प्रकारके हैं। उन्हें ग्रहण कर मूढ लोग मानते हैं कि यह

लिङ्ग मोक्षमार्ग है। किन्तु विचार करनेपर मालूम पड़ता है कि कोई भी बाह्य लिङ्ग मोक्षका मार्ग नहीं है। यदि बाह्य लिङ्ग मोक्षका मार्ग होता तो अरहन्त भगवान् देहसे निर्मम न होते और लिङ्गको छोड़कर दर्शन, ज्ञान और चारित्रका सेवन नहीं करते। माना कि बहुतसे अज्ञानी जन द्रव्यलिङ्गको ही मोक्ष-मार्ग मानते हैं और मोह-पिशाचके वशीभूत होकर द्रव्य लिङ्ग को स्वीकार करते हैं पर उनका ऐसा मानना और मोह-पिशाच के वशीभूत होकर द्रव्यलिङ्गको स्वीकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि इससे संसारकी ही वृद्धि होती है। जिनदेव ने तो दर्शन, ज्ञान और चारित्रको ही मोक्षमार्ग कहा है, द्रव्यलिङ्ग को नहीं, क्योंकि वह शरीराश्रित होता है। सच तो यह है कि जो मोक्षाभिलाषी जीव हैं उन्हें सागार और अनगार लिङ्गसे ममताका त्याग कर दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप जो मोक्ष-मार्ग है उसमें ही अपनी आत्माको स्थापित करना चाहिये। श्री कुन्दकुन्द स्वामीने सर्वविशुद्धि अधिकारमें कहा है—

"मोक्खपदे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥"

आशय यह है कि अभेद रत्नत्रयरूप इस मोक्षमार्गमें ही अपनी आत्माको स्थापित कर, उसीका ध्यान कर, उसीको अनुभवन कर और उसीमें निरन्तर विहार कर अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

यह जीव अनादि कालसे अपनी ही प्रज्ञाके दोषसे राग, द्वेषवश परद्रव्योंमें अपनी आत्माको स्थापित किये हुए है, इसलिए अपने प्रज्ञाके गुण द्वारा उसे वहाँसे हटाकर दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें स्थापित करना चाहिये। इसी प्रकार इस

जीवका निरन्तर पर पदार्थोंमें चित्त जाता रहता है और कषायके वशीभूत होकर नाना प्रकारके विकल्प होते रहते हैं तथा उन विकल्पोंके विषयभूत पदार्थोंमें इष्टानिष्ट कल्पना होती है। अतः उन सबसे चित्तको हटाकर उसे एक ज्ञेयमें स्थिर करना चाहिये। यद्यपि जिसके आर्त और रौद्र ध्यान है वह भी एक ज्ञेयमें चित्त स्थिर कर लेता है। वह भी जिसे इष्ट और प्रिय मानता है उसे अपनाता है या उसमें तन्मय हो जाता है और जिसे अप्रिय और अनिष्ट मानता है उसे दूर करनेके लिये नाना प्रकारके प्रयत्न करता है। किन्तु यहाँ ऐसी चित्तकी एकाग्रता विवक्षित है जिसमें राग-द्वेषका लेश न हो। ज्ञेयमें रागादिरूप कल्पना न हो। इस प्रकर चित्तको ज्ञेयमें स्थिर करना चाहिये, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इसी प्रकार यह जीव निरन्तर कर्म चेतना और कर्मफल चेतना के वशीभूत हो रहा है अतः अपने चित्तको वहाँसे हटाकर एक ज्ञान चेतनामें लगाना चाहिये। यह जीव निरन्तर अज्ञान-वश अन्य पदार्थोंमें कर्तृत्व बुद्धि और अहं बुद्धि करता रहता है अतः उसे त्यागकर एक ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करना चाहिये। माना कि ज्ञानमें ज्ञेयसम्बन्धी नाना प्रकारके विकल्प आते रहते हैं पर उनमें स्वत्व कल्पना न कर अपने आत्माको ज्ञेयसे जुदा अनुभव करना चाहिये। ज्ञेय न तो मिथ्यादृष्टिके ज्ञानमें जाता है और न सम्यग्ज्ञानीके ज्ञानमें जाता है। ऐसा सिद्धान्त है—

"णाणं ण जादि णेये णेयं ण जादि णाणदेसम्हि।"

केवल यह जीव मोहवश ज्ञेयको अपना मान लेता है अतः उस मान्यताका त्याग कर निजका अनुभव करना ही श्रेय-स्कर है।

द्रव्यका स्वभाव परिणमनशील है। जब इस जीवके मोहादि कर्मका सम्बन्ध रहता है। तब इसकी स्वच्छता विकृत हो जाती है और उस समय यह पर पदार्थोंमें श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनोंकी प्रवृत्ति करता है। इसलिये ये ही तीनों मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहलाते हैं। किन्तु जब इसका मोहादि कर्मोंसे सम्बन्ध छूट जाता है तब यह अपने स्वभावरूप परिणमन करता है और उसमें तन्मय होकर दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें ही विहार करता है। इसी बातको ध्यानमें रखकर आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि प्रतिक्षण शुद्ध रूप होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें ही विहार करो तथा एकरूप अचल ज्ञानका ही अवलम्बन करो। किन्तु ज्ञानमें ज्ञेयरूपसे जो अनेक पर द्रव्य भासमान हो रहे हैं उनमें विहार मत करो, क्योंकि मोक्षमार्ग एक ही है और वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक ही है। उसीमें स्थिर होओ, उसीका निरन्तर ध्यान करो, उसीका निरन्तर चिन्तवन करो तथा द्रव्यान्तरको स्पर्श किये बिना उसीमें निरन्तर विहार करो। जो ऐसी प्रवृत्ति करता है वह बहुत ही शीघ्र समयका सारभूत और नित्य ही उदयरूप परमात्मपदका लाभ करता है। किन्तु जो इस संवृत्तिपथका त्याग कर और द्रव्य लिंग धारण कर तत्त्वज्ञानसे च्युत हो जाता है वह नित्य ही उदयरूप और स्वाभाविक प्रभाभारसे पूरित समयसारको नहीं प्राप्त कर सकता है। यही श्री समयप्राभृतमें कुन्दकुन्ददेवने कहा है—

"पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं॥'

जो पुरुष पाखण्डी लिंगोंमें तथा बहुत प्रकारके गृहस्थ लिंगोंमें ममता धारण करते हैं उन्होंने समयसारको नहीं

जाना है। आशय यह है कि जो पुरुष "मैं श्रमण हूँ और मैं श्रमणका उपासक हूं" ऐसा मिथ्या अहंकार करते हैं वे एक मात्र अनादि कालसे चले आ रहे व्यवहारमें ही मूढ़ हैं वास्तव में वे विशद विवेक स्वरूप निश्चयको नहीं प्राप्त हुए हैं। जो ऐसे मनुष्य हैं वे परमार्थ सत्य भगवान् समयसारको नहीं प्राप्त होते। वास्तवमें उनकी द्रव्यलिंगके ममकारसे अन्तर्दृष्टि तिरोहित हो गई है, इसलिये उन्हें समयसार दिखाई नहीं देता। द्रव्यलिंग पराश्रित है और ज्ञान स्वाश्रित है। इसलिये पराश्रित वस्तुसे ममकार और अहंकार भावका हटा लेना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि जो पराधीन होता है वह कदापि सुखका पात्र नहीं होता। यह कौन नहीं जानता कि द्रव्य लिंग शरीराश्रित होता है इसलिये इसके द्वारा आत्मा अपने अभीष्ट पदको भला कैसे प्राप्त कर सकता है? एक ज्ञान ही आत्माका निज गुण है जो कि स्वाश्रित है, इसलिये सुखका कारण वही हो सकता है। अतः जिन्हें स्वतन्त्र सुखकी प्राप्ति इष्ट है उन्हें पराधीन शरीराश्रित लिंगकी ममताका त्याग करना चाहिये।

कार्य निष्पत्तिमें निमित्तका स्थान—

आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। किन्तु अपने जिन विभावरूप परिणामोंके कारण यह आत्मा संसारमें रुल रहा है वे परिणाम जिस कालमें जिस रूप होते हैं उस काल में उनका निमित्त पाकर मोहादि कर्म स्वयमेव वैसे संस्कारवाले होकर आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हो जाते हैं और जिस काल में वे अपने परिणमन द्वारा स्वयमेव उदयमें आते हैं उसकाल में उनके निमित्तसे आत्मा स्वयमेव रागादिरूप परिणम जाता है। इतना ही विभाव परिणामोंका और कर्मका निमित्तनैमि-

त्तिक सम्बन्ध है। फिर भी जो आत्माकी विविध अवस्थाओं का कर्ता कर्मको मानता है वह अज्ञानी है। कर्म तो अचेतन है। चेतन पदार्थ भी दूसरेका कुछ नहीं कर सकता है। क्योंकि अचेतनका परिणमन अचेतन में होता है और चेतनका परिणमन चेतनमें होता है। अन्य अचेतन पदार्थ बिना ही चेतन परिणामोंके स्वयमेव परिणमन करता है और इसी प्रकार चेतन पदार्थ भी विना ही अचेतन पदार्थके स्वयमेव परिणमन करता है। जैसे जिस समय घटरूप पर्याय प्रकट होती है उस समय कुम्भकार आत्मीय योग और विकल्पका कर्ता होता है। यों तो घट निष्पत्तिमें तीन बातें आवश्यक मानी गई हैं। १—उपादान कारणका प्रत्यक्ष ज्ञान, २—घट बनानेकी इच्छा और ३—घट निष्पत्तिके अनुकूल व्यापार। ये तीन तरहके परिणाम कारण हैं। कुम्भकारको घटके उपादान कारण मृत्तिका द्रव्यका प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिये, घट बनानेकी इच्छा भी होनी चाहिये और तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिये। ये बातें कुम्भकारमें होती हैं और योग द्वारा उसके आत्मप्रदेश चलायमान होते हैं। जिसका निमित्त पाकर दण्डादिमें व्यापार हो जाता है और उसके निमित्तसे घट बन जाता है। जो कार्य पुरुषके प्रयत्न पूर्वक होते हैं उनके होनेकी यह पद्धति है। इसी प्रकार आत्मामें जो रागादि भाव होते हैं वे मोहोदयनिमित्तिक माने गये हैं। यहाँ भी पुद्गल कर्म मोहका विपाक मोह कर्ममें ही होता है किन्तु उसी कालमें आत्मा मोहरूप परिणम जाता है। कोई दूसरा परिणमन करानेवाला नहीं है। स्वयमेव ऐसा परिणमन हो रहा है। परन्तु इतना अवश्य है कि मोह कर्मके विपाकके बिना ऐसा परिणमन नहीं होता है। इसीसे मोह कर्मके विपाकको रागादि परिणामोंके होनेमें

निमित्त कहा है जगत्‌में और भी जीव हैं पर उनमें यह परिणमन नहीं होता किन्तु जिस जीवके साथ मोहका बन्ध है उसीमें यह परिणमन होता है। इसी प्रकार धर्मादि चार शुद्ध द्रव्य भी वहाँ पर हैं पर वहाँ भी यह परिणमन नहीं होता। इसका कारण यह है कि उनका यह निमित्त कारण नहीं है।

जगत्‌में छह द्रव्य हैं। उनमें धर्मादि चार द्रव्य तो शुद्ध हैं। उनमें द्रव्यके संयोगसे कभी भी विपरिणति नहीं होती। जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य ऐसे हैं जिनमें शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारका परिणमन होता है। बद्ध दशामें अशुद्ध परिणमन होता है और मुक्त दशामें शुद्ध परिणमन होता है। यही कारण है कि जीव और पुद्गलमें वैभाविक शक्ति मानी गई है। जबतक अशुद्धताके निमित्त रहते हैं तबतक इसका विभाव परिणमन होता है और निमित्तोंके हटते ही स्वभाव परिणमन होने लगता है। पुद्गलमें स्वयं बँधने और छूटनेकी योग्यता है इसलिये उसका बन्ध अनादि और सादि दोनों प्रकारका होता है किन्तु जीवकी स्थिति इससे भिन्न है। उसके रागादि परिणामोंके निमित्तसे बन्ध होता है और रागादि परिणाम कर्मके निमित्तसे होते हैं इसलिये कर्मके साथ इसका बन्ध अनादि माना गया है। इस प्रकारका यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चल रहा है। पर इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको देखकर निमित्तपर अवलम्बित रहना उचित नहीं है। यह तो कार्यप्रणालीके सम्बन्धसे वस्तुका स्वभाव दिखलाया गया है। वस्तुतः कार्यकी उत्पत्ति तो उपादान कारणसे होती है निमित्त तो सहकारीमात्र होता है। सहकारी कारण अनेक होते हैं किन्तु उपादान कारण एक होता है। द्रव्य उपादान कारण है और प्रति समयकी अवस्था उसका कार्य है। कार्यमें जैसा

समय भेद होता है वैसा उपादानमें समय भेद नहीं होता। कार्य उपादानके अनुरूप होता है। जितने कार्य हैं उनकी यही पद्धति है। फिर भी संसारमें मोही जीव व्यर्थ ही अन्यका कर्ता बनता है। निमित्त कारणका परिणमन निमित्तमें होता है और उपादानकी पर्याय उपादानमें होती है। जो अन्य द्रव्यकी पर्यायकी अपेक्षा निमित्त व्यपदेशको प्राप्त होता है वही अपनी पर्यायकी अपेक्षा उपादान भी है। हम लोग इस रहस्यको न समझकर व्यर्थके विवादमें समय बिताते हैं। जब यह निश्चय होगया कि एक द्रव्य द्रव्यान्तरका कुछ नहीं कर सकता तब जहाँ पर परस्पर सिद्धान्तकी चर्चा होती हो और एक सिद्धान्तके विषयमें जहाँ दो मत हों वहाँ चर्चामें परस्पर वैमनस्य नहीं होना चाहिये चाहे वह किसीके प्रतिकूल ही क्यों न हो। यदि वहाँ किसी एकका यह अभिप्राय होगया कि मैं इसे अपनी बात मनवाकर ही रहूँगा तब वह "एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता" इस सिद्धान्तसे च्युत होगया। अधिक क्या लिखें। वस्तुकी मर्यादा तो जैसी है उसे कोई भी शक्ति अन्यथा नहीं कर सकती। परन्तु मोही जीव मोहवश अन्यथा करना चाहते हैं। यही उनका भ्रम है अतः इसे त्यागना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि यह भ्रम ही संसारका मूल है। जो जीव इस भ्रमके आधीन हैं वे संसरी हैं मिथ्या-दृष्टि हैं और जिन्होंने इसे त्याग दिया वे ही मुक्तके पात्र हैं। आगममें बन्धके कारण कितने ही क्यों न बतलाये हों मुख्य कारण यह भ्रम ही है। इस भ्रमको बदलनेके लिये मूलमें श्रद्धाका निर्मल होना जरूरी है। समीचीन श्रद्धासे ही चारित्रमें निर्मलता आती है। मेरी तो यह श्रद्धा है कि दर्शन और चारित्रको छोड़कर अन्य सब गुण निर्विकल्प हैं। कोई तो

ऐसा कहते हैं कि ज्ञान गुणको छोड़कर शेष गुण निर्विकल्प हैं पर उनका ऐसा कहना ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि ज्ञान गुण तो प्रकाशक है। उसमें जो पदार्थ जैसा है वैसा प्रतिभासित हो जाता है ! श्री कुन्दकुन्द देव ने समयसारमें लिखा है—

"उवओगस्स अणाइपरिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य णायव्वो॥"

उपयोग स्वभाव से सम्पूर्ण पदार्थों के स्वरूप को जानने की स्वच्छता रखता है। जिस समय मोहादि कर्मोंका विपाक होता है उस समय दर्शन और चारित्र गुण मिथ्यात्व और रागादि रूप परिणमनको प्राप्त हो जाता है तथा उसका भान ज्ञान गुणमें होता है। तब ऐसा मालूम होता है कि 'मैं रागी हूं, द्वेषी हूँ, मोही हूँ।' वास्तवमें ये परिणमन ज्ञान गुणके नहीं हैं किन्तु दर्शन और चारित्र गुणके हैं। जैसे दर्पणमें अग्नि प्रतिभासमान होती है परन्तु दर्पणमें उष्णता व ज्वाला नहीं होती, क्योंकि ये अग्निके धर्म हैं। दर्पणमें जो अग्नि भासमान हो रही है वह सब दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। इसीतरह आत्माका ज्ञान गुण स्वपरको जाननेवाला है। जिस समय इस आत्मामें मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय होता है उस समय इसका दर्शन गुण यथार्थ परिणमन न कर विपरीत परिणमन करता है। अर्थात् उस समय जीवका अभिप्राय विरूप होजाता है। अतः उस समय इसके ज्ञान गुणमें भी उसका भान होता है। यह कुछ उसरूप नहीं हो जाता है। यह सब व्यवस्था इसी प्रकार चली आ रही है। संसार क्या वस्तु है ? यही तो है कि जब यह आत्मा योग और कषायरूप परिणमता है तब वे कार्मण वर्गणाएें जो कि इसके प्रदेशों पर

स्थित हैं ज्ञानावरणादिरूप होजाती हैं और उनका आत्माके साथ बन्ध हो जाता है। फिर जब वे कर्म उदयमें आते हैं तब इसके रागादिरूप परिणाम होते हैं। इसप्रकार कर्म और रागादि भावोंका निरन्तर चक्र चालू रहता है। कर्मके उदयसे रागादि भाव होते हैं और रागादि भावोंसे कर्मका बन्ध होता है। इसप्रकार यह जीव निरन्तर इस संसार चक्रमें घूम रहा है जिससे यह निरन्तर सन्तप्त होता है। अतः प्रत्येक प्राणीका यही कर्तव्य है कि वह इसके कारणोंका त्याग करे।

सुखकी चाह

श्री वर्द्धमानमानम्य मुक्तिमार्गप्रकाशकं ।
विद्वज्जनविनोदाय कीर्त्यतेऽद्य भाषणम् ॥

इस जगतकी रचनाको अवलोकन करने मात्रसे ही यह बात सहज ही ज्ञानगोचर हो जाती है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उपादान और सहकारी कारणकूटसे ही होती है।

इस संसारमें यावत् जीव हैं उन सर्व प्राणियोंका उद्देश्य दुःखनिवृत्ति सुखकी प्राप्ति है—अतएव प्राणियोंकी जो चेष्टा होती है वह तदर्थ ही होती है। देखिये, बालक जब विद्याभ्यास करनेके अर्थ प्रथमतः अक्षराभ्यास करनेके निमित्त पाठशालामें जाता है उस समय उस अल्पवयस्क बालकको यद्यपि यह बोध नहीं है कि विद्याभ्यास कर ज्ञानार्जन द्वारा हेयाहेयका विचार कर जो हेय पदार्थ होंगे उनका त्याग करूँगा और उपादेय पदार्थ को ग्रहण करूँगा, किन्तु उस कालमें जो उसकी प्रवृत्ति होती है उसका मूलकारण यह है कि यदि मैं पाठशाला नहीं गया तो मेरे माता-पिता ताड़न करेंगे वह ताड़नजन्य दुःख मुझे सह्य नहीं। इसीसे उसकी प्रवृत्ति होती है। इससे यही अनुमित होता है कि प्राणीमात्रकी चेष्टा दुःखके निमित्त नहीं होती है। देखिये, जब हमको निद्राका वेग आता है उस कालमें हम उचित कार्योंको भी परित्यागकर शयन करते हैं। यद्यपि सोती अवस्थामें

आत्माके जो ज्ञानादिक गुण जाग्रतावस्थामें विकाशशील थे वह सर्व तिरोभूत हो जाते हैं तथापि निद्राके द्वारा प्राप्त दुःखको न सहनेके कारण हम अपने ज्ञानादिक गुणोंकी हानिपर विचार नहीं करते हैं। तात्पर्य इसका यही है कि चाहे हमारे ज्ञानादिक गुणोंका विकाश भले ही प्रतिरुद्ध हो जावे परन्तु दुःख सहना हमको इष्ट नहीं। जब किसीको अत्यन्त दुःख होता है तब वह मरणावस्था तक की प्राप्ति करनेमें अधीर नहीं होता बल्कि मरणपर्यन्त उपाय करके भी दुःखोंसे दूर रहना चाहता है। स्वकीय अस्तित्वसे प्रियतम वस्तु संसारमें कोई नहीं यह अभ्रान्त सिद्धान्त पञ्चदशी है फिर भी वह जीव उसका लोपकर दुःख निवृत्ति चाहता है। कैसा विलक्षण भाव है कि जिसके द्वारा मनुष्यका उद्देश्य सहज ही आबाल गोपालकी दृष्टिमें आ जाता है? जिसके जाननेके अर्थ युगके युग गुरु सुश्रूषा और शास्त्राध्ययनमें बीत जाते हैं फिर भी मनुष्यके उद्देश्यका स्थिर होना दुर्गम रहता है वह इन प्रत्यक्ष दृष्टान्तों द्वारा मिनटोंमें मनुष्योंकी विमल प्रतिभामें प्रतिबिम्बित हो जाता है—अर्थात् दुःख निवृत्ति ही प्राणियोंका उद्देश्य है। यद्यपि तात्पर्य इसका यह है कि—

जब कपड़ा मलीन हो जाता है तब उसकी स्वच्छताका उस कालमें अभाव रहता है जब मलीनताके कारण पदार्थका संसर्ग मिट जाता है तब आप ही मलीनता नहीं रहती। मलीनताके अभावमें स्वच्छताकी व्यक्तता हो जाती है! स्वच्छताके उत्पन्न करनेकी चेष्टाका अर्थ भी यही है—इसी तरह आत्मामें सुख नामक शक्ति है जो वैभाविक शक्ति तथा मोहादि कर्मोंका निमित्त पाकर आकुलतारूप परिणमन करती है और जब मोहकर्म इस जीवसे पृथक होजाता है तब वह शक्ति स्वभावरूप परिणमन द्वारा परिणत रहती है। उस कालमें सुख गुणका

निराकुलरूप ही परिणमन रहता है। इसीसे कविवर दौलतरामजी ने कहा है—"आतमको हित है सुख सो सुख आकुलता विन कहिये"—

तथा वेदान्तियोंने भी सुख प्राप्ति ही को चरम पुरुषार्थ माना है।

"सुखमात्यन्तिकं यत्र वुद्धिग्राह्यमतिन्द्रिकं,
तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुःप्रापमकृतात्मभिः ॥"

वह जो सुख है सो अभावरूप नहीं किन्तु विधिरूप है। आल्हादनाकार परिणतिका नाम ही तो सुख है। आत्मा अनन्त शक्तियोंका पिण्ड है अर्थात् अनन्त शक्त्यात्मक ही आत्मा है। केवल गुण गुणीके व्यपदेशसे गुणीसे भिन्न प्रतीत होता है, वस्तुतः गुण और गुणीमें पृथक् प्रदेशपना नहीं है। उन शक्तियोंमें सुखनात्मक भी शक्ति है वह विधिरूप है निषेधरूप नहीं और न प्रतिजीवी गुणोंकी तरह सापेक्ष भी है। अवस्थाके भेदसे वह दो प्रकारकी कही जाती है वास्तविक गुण तो नहीं है—उस सुखके प्राप्त करनेमें प्राणी अपना सर्वस्व तक देनेमें नहीं चूकते परन्तु कार्यके अनुरूप प्रयत्न न करनेसे जब विफल प्रयत्न हो जाते हैं तब जो कुछ मानसिक विकल्पोंमें उसका उपाय सूझता है उसीके प्रयत्नमें दत्तचित्त रहते हैं अतएव किसी कविने कहा है:—

'आत्मानात्मविवेकशून्यहृदयो ह्यात्यन्तमज्ञो जनः।
स्वात्मानन्दमतिप्रसिद्धममलं अभ्यासदारादिषु ॥"

अर्थ—आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे शून्य तथा अत्यन्त अज्ञानी जो मनुष्य है वह आत्मसम्बन्धी आनन्द अति प्रसिद्ध है तो भी दारादिकोंमें अभ्यास करके उन्हींके रक्षणार्थ निरन्तर यत्नपर रहता है। जैसे कुत्ता अस्थिमें रुधिरके न होने पर भी उसके संघर्षणसे उत्पन्न जो स्वरुधिर उसका आस्वादन कर अस्थिमें ही उसके सत्त्वकी कल्पना कर निरन्तर अस्थि रक्षणके अर्थ सतर्क रहता है—

भावार्थ—यद्यपि सुख गुण आत्मा ही का है अतएव उसीमें उसीका विकाश होना चाहिये। आत्मामें जब मोहज इच्छा उत्पन्न होती है उस समय आत्मा उसकी निवृत्तिके अर्थ उद्योगशील होता है और जब उसका विषय सिद्ध होजाता है तब आत्मा सुखी होजाता है, क्योंकि ऐसा नियम है—यद्विषयक इच्छा होती है उसकी निवृत्ति उस विषयक सिद्धि हो जाने से होजाती है। जैसे जब हमको बुभुक्षा होती है तब उस कालमें यदि हमको भोजन मिल जाय तब उस बुभुक्षाकी निवृत्ति हो जाती है और बुभुक्षाके निवृत्त होते ही बुभुक्षाके द्वारा उत्पन्न जो पीड़ा है वह भी शान्त होजाती है। इससे यही अर्थ निकलता है कि दुःखका मूल कारण मोह कर्म है। इससे वह नाना प्रकारके संकटोंको भोगता है, क्योंकि यह सहज सिद्ध अनुभवगम्य है कि जब हमारे क्रोधका उदय होता है तब उससे हम अन्यका बुरा करनेकी इच्छा करते हैं, मानके उदयमें अपनेको उच्चतम और अन्यको अधमसे अधम दिखानेकी हम चेष्टा करते हैं। कहाँ तक कहा जावे, मानी पुरुष अपने मोहसे माता पिता गुरुओंकी भी विनय करनेमें संकोच करता है। यदि उनके मानकी रक्षा हो जावे तो उनको नीचा दिखानेकी चेष्टा करनेमें अचूक और अमोघ प्रयत्न करता है। कहाँ तक इसकी प्रशंसा की जावे यदि सर्वस्व खोनेमें भी इसकी मानरक्षा होती है, तब वह सर्वस्वको तृण

तुल्य भी नहीं गणना करता। धनकी कथा लेकर ही वह मरकर भी मानकी रक्षा करना चाहता है। क्या आपने पद्मपुराण नहीं बाँचा–रावणके वंशका विध्वंस होनेपर भी रावणसे श्री रामचन्द्रजी की विनय करना न हो सका। इसी तरह नोकषाय हास्यादिकोंकी भी प्रवृत्ति जानना। यद्यपि क्रोधादिक कषाय तथा उनके द्वारा सम्पादित कार्योंके द्वारा इसके आत्मगुणोंमें विकृतपना होजाता है। जैसे जव इस जीवके क्रोधाग्नि प्रज्वलित होती है उस कालमें आभ्यन्तर तो इसकी क्षमा परिणतिका विध्वंस होता है बाह्यमें रक्तनेत्रादि होनेसे शरीर विकरालरूपका अवलम्बन करता है, तथापि करे क्या। क्रोधाग्निसे उत्पन्न दाह दुःखमें जब इसको शान्ति नहीं मिलती तब चाहे आत्मसर्वस्व भले ही तिरोभूत हो जावे परन्तु उस दुःख निवृत्तिके लिये यह जीव जो मनमें आता है सो करता है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना। वसु राजा क्या यह नहीं जानता था कि अजैर्यष्टव्यम्—इसका अर्थ त्रिवार्षिक पैदा होनेके अयोग्य यव ही हैं परन्तु गुरुपत्नीके दवावमें आकर अन्यथा ही अर्थ कर दिया, क्या वसु राजा इस बातको नहीं जानता था कि अनर्थका फल अच्छा नहीं है परन्तु गुरुपत्नीके लिहाजका दुःख वह नहीं सहन कर सका और आँख मूदकर अन्यथा अर्थ करनेमें रञ्चमात्र भी उसने संकोच न किया। इत्यादि दृष्टान्तों से यही सिद्ध होता है कि यावती संसारमें प्रवृत्ति होती है वह दुःख निवृत्तिके अर्थ ही होती है। अतएव यही सिद्ध होता है कि इस जीवका हित दुःख निवृत्ति ही है। उसीके अर्थ अस्मदादि प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है। जब यह निश्चित हो चुका कि सुखकी प्राप्ति ही के अर्थ प्राणीमात्रके उद्योग होते हैं तब हम सर्व सजातीय बन्धुओंको उचित है कि उसीके अर्थ यत्न करें। अथवा उन यत्नोंमें यदि त्रुटि हो तो उनको दूर करनेका यत्न करें न कि मूल

उपायोंको ही उच्छिन्न कर डालें। ऐसा संसारमें नहीं देखा जाता है। व्यापारमें हानि भी देखी जाती है एतावता संसार व्यापारको नहीं छोड़ देता।

निश्चय और व्यवहार

आचार्योंने निश्चय और व्यवहारका अपनी अपनी शैलीसे निरूपण किया है। इनके विषयमें मैं न विशेष जानता हूँ और न जाननेकी इच्छा है। मैं तो यह समझता हूं कि जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। उनमें पुद्गल द्रव्य तो इन्द्रियके द्वारा ज्ञानमें आता है और धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य आगमगम्य हैं। हम यहाँ पर दो द्रव्योंकी चर्चा करना चाहते हैं जो प्रत्यक्ष हैं। पुद्गल तो इन्द्रिय जन्य ज्ञानसे प्रत्यक्ष है और आत्मा सुख, दुःख, ज्ञानादि गुणके द्वारा जाना जाता है।

आत्माकी दो अवस्थाएँ हैं—संसारावस्था और मुक्तावस्था। इनमेंसे मुक्तावस्थाका तो हमको प्रत्यक्ष नहीं किन्तु संसारावस्थाका प्रत्यक्ष है। हमें निरन्तर जो रागद्वेषादि विभावोंका अनुभव होरहा है उसीका नाम संसार है।

यद्यपि हमको निरन्तर राग-द्वेषका अनुभव होता है परन्तु सर्वथा नहीं। कभी राग-द्वेषके अभावमें जो अवस्था होती है उसका भी अनुभव होता है। जैसे कल्पना कीजिये कि हमको रूप देखनेकी इच्छा हुई और जैसा रूप देखनेका हमारा भाव था वैसा ही वह देखनेमें आया तो उस समय हम शान्ति और सुखमें मग्न होजाते हैं। विचार कीजिये जो शान्ति हुई

वह रूप देखनेसे हुई या रूपविषयक देखनेकी इच्छाके जानेसे हुई ? यदि रूप देखनेसे हुई तब हमको निरन्तर रूप ही देखते रहना चाहिये सो तो होता नहीं किन्तु हमारी जो रूप विषयक इच्छा थी वह चली गई, अतः सुख व शान्तिका कारण इच्छाका अभाव है। इसका कारण न विषय है और न इच्छा ही है। इससे यह सिद्धान्त निकला कि रागादिक परिणाम ही दुःखके कारण हैं और इनका अभाव ही सुखका कारण है। इसलिये जहाँ पर सम्पूर्ण रागादिकोंका अभाव होजाता है वहीं आत्माको पूर्ण शान्ति मिलती है और उसी अवस्थाका नाम मोक्ष है। अतएव जिन्हें मुक्तावस्थाकी अभिलाषा है उन्हें यही प्रयत्न करना चाहिये कि नवीन रागादि उत्पन्न न हों और जो प्राचीन हों वे रस देकर निर्जर जावें। केवल गल्पवादसे यह हल न होगा। अनादि कालसे जो पर पदार्थोंको अपनानेकी प्रकृति पड़ गई है तथा प्रत्येकके साथ जो व्यवहार में अभिरुचि रखते हो, पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें अपनी शक्तिका अपव्यय कर रहे हो, निरन्तर किसीको अनुकूल तथा किसीको प्रतिकूल मानकर संसारके कार्य कर रहे हो, इनसे पीठ दो और शुद्ध जीव द्रव्यका विचार करो अनायास अपने अस्तित्वका परिचय हो जावेगा। जिससे उत्पन्न आनन्दका आप स्वयं अनुभव करोगे।

आजतक यही सोचते आयु बीत गई—"आत्मा क्या पदार्थ है ?" इसके लिये प्रथम तो विद्याभ्यास किया, अनन्तर विद्वानोंके द्वारा अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन किया, विद्वानोंके समागममें प्रत्येक अनुयोगके ग्रन्थोंकी मीमांसा की, अनेक धुरन्धर वक्ताओंके भाषण सुने, अनेक तीर्थयात्राएँ कीं, बड़े-बड़े चमत्कार सुनकर मुग्ध होगये, तथा अनेक प्रकारके तप-

श्वरणकर शरीरको लक्कड़ बना दिया परन्तु अन्तमें बात यही निकली कि आत्मज्ञान होना अति कठिन है और यह कहकर सन्तोष कर लिया कि ग्यारह अङ्ग के पाठी भी जब तत्त्वज्ञान से शून्य रहते हैं तब हमारी कथा ही क्या है? यह सब अज्ञानका विलास है। यदि परमार्थसे विचारो तब यह तो तुम्हें ज्ञात है ही कि हमको छोड़कर शेष पदार्थ चाहे वह चेतन हों, चाहे अचेत हों, चाहे मिश्र हों; हमसे सब भिन्न हैं। जैसे आप यही तो कहते हैं—"यह मेरा बेटा है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पिता है, यह मेरी माँ है।" यह तो नहीं कहते—"मैं बेटा हूँ, मैं बाप हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं माँ हूँ।" इससे सिद्ध होगया कि आप उनसे भिन्न हैं। इसी प्रकार अपनेसे अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं यही व्यवस्था उनके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये।

अब रह गया निज शरीर, जिसके साथ आत्मा एक क्षेत्रावगाही हो रहा है सो यह भी भिन्न वस्तु है। जैसे देखिये—किसी ने किसीके साथ विसंवाद किया और विसंवादमें अपने मुखसे दूसरेको गाली दी और थप्पड़ भी मारदी। तब वह बोला—"भाई अब रहने दो, जितना हमारा अपराध था उसका दण्ड आपने दे दिया। मैं आपको इसका धन्यवाद देता हूँ। अब आगे आपका अपराध नहीं करूँगा। अब शान्त हो जाइये।" इस वाक्यको सुनकर गाली और थप्पड़ देनेवाला एकदम शान्त होगया और विचार करने लगा—"भाई सा०! आपने मेरा बहुत उपकार किया, मैंने बड़ी भारी अज्ञानतासे काम लिया कि आपको गाली दी और थप्पड़ भी मारी।" अब विचारिये गाली देनेवाला मुख है या आत्मा? मुख तो शब्दोच्चारणमें कारण हुआ क्रोधकी उत्पत्ति जिसमें हुई थी वही तो आत्मा है। इसी तरह थप्पड़ मारनेमें हाथ निमित्त हुआ, थप्पड़ मारने

का भाव जिसमें हुआ वही आत्मा है। यदि अपराधी मुँह और हाथ होता तब इनको दण्ड देना उचित था सो वे तो अपराधी हैं नहीं, अपराधी तो आत्मा है। यही तो आत्मा है जो इन कार्योंमें अन्तरङ्गसे कलुषित होता है।

यदि हम चाहें तो हर कार्यमें परसे भिन्न आत्माका अनुभव कर सकते हैं। इसके लिये बड़े-बडे शास्त्रों और समागमोंकी आवश्यकता नहीं। आत्मज्ञान तो चलते-फिरते खाते-पीते, पूजन स्वाध्याय करते समय सहज ही होजाता है किन्तु हम उस ओर दृष्टि नहीं देते। हमारी दृष्टि परकी ओर रहती है। जैसे किसीने किसीसे कहा—"कौआ आपका कान लेगया" तो यह सुनकर वह कौवेके पीछे तो दौड़ता है किन्तु अपने कानपर हाथ नहीं रखता। न कौआ कान लेगया और न आत्मा परमें है। अपनी ओर दृष्टि देनेसे अनायास आत्मज्ञान हो सकता है परन्तु हम अनादिसे परको आत्मीय माननेवाले उस तरफ लक्ष्य नहीं देते। यही कारण है कि दर-दर दीनकी तरह भटकते फिर रहे हैं। यह दीनता इसी समय मिट जावे यदि अपनी ओर लक्ष्य हो जावे।
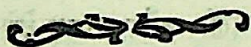
आत्माके तीन उपयोग

अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ।

संसारमें मनुष्य अनेक प्रकारके काम करते दिखाई देते हैं। उन कार्योंमें जो अशुभ कार्य होते हैं वे अशुभोपयोगके निमित्तसे होते हैं, जो शुभ कार्य होते हैं वे शुभोपयोगके निमित्तसे होते हैं और जो मोक्ष सुखसाधक कार्य होते हैं वे शुद्धोपयोगके निमित्तसे होते हैं। यद्यपि यह तीनों उपयोग एक ही आत्माके हैं परन्तु जिस तरहका निमित्त मिलता है उसी तरहका कार्य करनेके लिये आत्मा प्रेरित होता है।

शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों अशुद्ध हैं। शुभोपयोगसे स्वर्गादिक और अशुभोपयोगसे नरकादिक प्राप्त होते हैं, परन्तु हैं दोनों ही संसारके कारण। एक स्वर्णकी बेड़ी है तो दूसरी लोहेकी। दोनों हैं बेड़ियाँ ही। परन्तु इन दोनोंसे भिन्न जो तीसरी वस्तु है वह है शुद्धोपयोग, जिसके अन्दर न तो शुभ और अशुभ विकल्प है और न किसी प्रकारकी आकुलता है। वह तो एक निर्विकल्पभाव है। सम्यग्दृष्टि अशुभोपयोगसे सदा बचे रहनेकी आकांक्षा रखता है। यद्यपि शुभोपयोग, पूजा दानादि करता है परन्तु अन्तरङ्गसे इन्हें करना नहीं चाहता। यहाँ तक कि वह अन्तरङ्गसे भगवानसे भी स्नेह नहीं करता। स्नेहको बन्धनका कारण मानता है। वह सदा सोचता है—

१—आत्मा शरीरसे भिन्न है—

मनुष्यको एक शुद्ध चेतनाका ही आलंबन है। वह टङ्कोत्कीर्ण—टाङ्कीसे उत्कीर्ण फूलके समान एक शुद्ध भाव है। वह निर्विकार एवं निर्विकल्प एक शुद्ध ज्ञानधन है। उसमें किसी भी प्रकारकी संकरता नहीं। बाह्यमें अवश्य दोनों (पुद्गल और जीव) का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होरहा है पर किसीका एक प्रदेश भी किसीमें प्रविष्ट नहीं होता। जैसे चार तोला सोना है और उसमें चार तोले चाँदी मिला दी, इस तरह वह आठ तोलेकी चीज बन गई। अब देखो, बाह्यमें सोना और चाँदी बिल्कुल मिली हुई दीखती है, पर विचारो सोना अलग है और चाँदी अलग है। सोनेका परिणमन सोनेमें होरहा है और चाँदीका परिणमन चाँदीमें। सोनेका एक चावल चाँदीमें नहीं जाता और चाँदीका एक चावल सोनेमें नहीं आता। वैसे ही आत्मा अलग है और पुद्गल अलग है। आत्माका परिणमन आत्मामें हो रहा है और पुद्गलका परिणमन पुद्गलमें। आत्माका चतुष्टय जुदा है और पुद्गलका चतुष्टय जुदा है, आत्माकी चेतना पुद्गलमें नहीं जाती और पुद्गलकी जड़ता आत्मामें नहीं आती। पर व्यवहारमें देख लो एकसी दीखती है। और जब उस सोने चाँदीको तेजाबमें डाल दिया तो सोना सोना रह जाता है, चाँदी चाँदी रह जाती है। वैसे ही तत्त्वदृष्टिसे विचारो तो आत्मा आत्मा है और पुद्गल पुद्गल है। कोईका किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं। चेतनमें जड़का क्या काम ? अब देखिये शरीर पर कपड़ा पहिना तो क्या कपड़ा शरीरमें प्रवेश कर गया ? उस जीर्ण वस्त्रको उतारकर दूसरा नवीन वस्त्र पहिन लिया। वैसे ही आत्मा ८४ लाख योनियोंमें पर्यायमात्र बदल लेता है। कोई कहे कि इस तरह तो आत्मा त्रिकाल

शुद्ध हुआ। उसमें कुछ बिगाड़ भला होता नहीं, चाहे आप कुछ भी करो, पर ऐसा नहीं है। नय-प्रमाणसे पदार्थोंके स्वरूपको समझनेका यत्न करो। द्रव्य दृष्टिसे वह त्रिकालाबाधित शुद्ध है पर वर्तमान पर्याय उसकी अशुद्ध ही माननी पड़ेगी। अन्यथा संसार किसका ?

२—शुद्धोपयोगमें शुभोपयोग आवश्यक नहीं—

पूजा करते भगवान्से यही तो कहते हो ?

"तब पद मेरे हियमें, मम हिय तेरे पुनीत चरणोंमें।
तब लौं लीन रहे प्रभु, जबलौं प्राप्ति न मुक्ति पदकी हो ॥"

भगवन् ! तेरे चरण मेरे हृदयमें निवास करें और मेरा हृदय तेरे चरण-कमलमें, परन्तु कबतक ? जबतक निर्वाणकी प्राप्ति न हो। यदि आज ही निर्वाण हो तो उसकी सफल साधनाके लिये—

"शास्त्रोंका हो पठन, दर्शन, लाभ सत्सङ्गतिका।
सद्वृत्तोंका सुयश कह कर दोष ढाकूँ सभीका ॥
बोलूँ प्यारे वचन हितके आपका रूप ध्याऊँ।
सेऊँ तबलों चरण जिनके मोक्ष जबलों न पाऊँ ॥"

हे भगवान् ! जबतक मोक्षको प्राप्त न करूँ तबतक शास्त्रका अभ्यास, जिनेन्द्रदेवकी सेवा और अच्छी संगति मिले। सद्-वृत्ति है जिनकी ऐसे पुरुषोंका गुणगान करूँ, पराए दोषोंके कहनेमें मौन हो जाऊँ। सुन्दर हित मित वचन बोलूँ। पर वह कबतक ? जबतक मोक्ष न हो जाय। इससे मालूम पड़ता है कि उस शुद्धोपयोगमें शुभोपयोगकी भी आवश्यकता नहीं है। अरे, तभीतक सीढ़ी चढ़ू न, जबतक शिखर पर न पहुंचे। शिखरपर पहुँच गए तो फिर सीढ़ियोंकी क्या आवश्यकता।

३—अशुभोपयोग निवृत्तिके लिये शुभोपयोग आवश्यक है—

सम्यग्दृष्टिका लक्ष्य केवल शुद्धोपयोगमें ही रहता है। अशुभोपयोगकी निवृत्तिके लिये वह पूजा दानादिमें प्रवर्तन करता है। जबतक शुद्धोपयोगकी प्राप्ति नहीं हुई तबतक शुभोपयोग रूप ही प्रवर्तता है। यदि आज ही शुद्धोपयोगकी प्राप्ति हो जाय तो आज ही शुभोपयोग त्याग दे। यद्यपि शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों हेय हैं परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हम शुभोपयोग न करें। शुभोपयोग करो इसका कौन निषेध करता है ? शुभोपयोगको त्यागनेसे शुद्धोपयोग नहीं होता. किन्तु शुभोपयोगमें जो मोक्षमार्गकी कल्पना कर रक्खी है, उसके त्याग (और राग-द्वेषकी निवृत्ति) से शुद्धोपयोग होता है और वही परिणाम मोक्षमार्गका साधन है।

४—मोक्षसुख प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोग आवश्यक है—

अशुभोपयोग निवृत्तिके लिये शुभोपयोग आवश्यक बताया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि शुभोपयोगसे ही मोक्ष सुख भी प्राप्त हो जायगा।

शुभोपयोग द्वारा प्राप्त इन्द्रियाधीन सुख वास्तविक सुख नहीं है, परन्तु करे क्या, ऊँटको कड़ुआ नीम ही अच्छा लगता है, वह गन्नेको बुरा समझता है। शुभोपयोगको मोक्षका कारण मान बैठता है। मोक्ष सुखका कारण केवल शुद्धोपयोग ही है। शुभोपयोगमें रहकर ही यदि मुक्ति चाहो तो कदापि प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्ति प्राप्तिके लिए शुद्धोपयोगका आश्रय ग्रहण करना होगा। इसका दृष्टान्त ऐसा है, जैसे कोई मनुष्य तीर्थ-यात्राको गया। चलते चलते वृक्षकी छाया मिल गई। वहाँ उसने किञ्चित् विश्राम किया। वहाँसे चलकर वह अपने अभीष्ट

स्थानपर पहुंच गया। फिर वह कहता है कि मुझे छायाने यहाँ पहुँचा दिया। अरे छायाने यहाँ नहीं पहुंचाया, पहुँचाया तो उसकी चालने। छाया केवल निमित्तमात्र हुई। वैसे ही शुभोपयोगने मोक्ष नहीं पहुँचाया। पहुंचाया तो शुद्धोपयोगने, पर व्यवहारसे कहते हैं कि शुभोपयोगने मोक्ष पहुँचाया। पर तत्त्वदृष्टिसे विचारो तो शुभोपयोग संसार ही का कारण है, क्योंकि उसमें राग का अंश मिला हुआ है, इसीलिए सच्चा सुख प्राप्त नहीं करा पाता।

५—सम्यक्त्वीका लक्ष्य शुद्धोपयोग—

सम्यक्त्वी भगवानके दर्शन करता है पर उस मूर्तिमें भी वह अपने शुद्ध स्वरूपकी झलक पाता है। हम भावनाके दर्शन करते हैं तो हमें उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही तो रुचते हैं और है क्या? क्योंकि जो जैसा अर्थ चाहता है उसी अर्थीके पास जाता है। जो धन का अर्थी होगा वह धनकोंकी सेवा करेगा। वह हम सरीखों के पास क्यों आवेगा? और जो मोक्षार्थी होगा वह भगवानकी सेवा करेगा। हमें भगवानके दर्शन, ज्ञान और चारित्र रुचते हैं, तभी तो हम उनके पास जाते हैं।

कहनेका तत्पर्य यह है कि सम्यक्त्वीका लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग रहता है, लेकिन फिलहाल वह सुद्धोपयोग पर चढ़नेके लिए असमर्थ है, इसलिए शुभोपयोग रूप प्रवर्तता है, पर अन्तरंगमें जानता है कि वह भी मेरे शान्तिमार्गमें बाधा करनेवाला है। यदि शुभोपयोगसे स्वर्गादिककी प्राप्ति हो जाय तो इसमें उसके लक्ष्य का तो दोष नहीं है। देखिए, मुनि तपश्चरणादिक करते हैं जिससे उन्हें स्वर्गादिक मिल जाता है। पर तपका कार्य स्वर्गकी विभूति दिलाना

तो नहीं है। उसका काम तो मुक्ति लाभ कराना है। चूंकि उस तपसे वह मुनि शुद्धोपयोगकी भूमिको स्पर्श नहीं कर सका इसलिए शुभोपयोग द्वारा स्वर्गादिककी प्राप्ति हो गई। जैसे किसानका लक्ष्य तो बीज बोकर धान्य उत्पन्न करना है पर उसके घास फूसादिकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। एतावत् शुभोपयोग होनेसे स्वर्गादिक मिल जाता है। पर स्वर्गों में भी क्या है? तनिक वहाँ ज्यादा भोग है। कल्पवृक्षों की छाया है। यहाँ ईंट चूनेके मकान हैं वहाँ हीरे-कंचनके प्रासाद हैं और क्या? ज्यादासे ज्यादा वहां अप्सराओंके अलिंगनका सुख है, सो भी क्षणिक और अनन्त दुखदायी। लेकिन अनुपम. अलौकिक, अतीन्द्रिय सच्चा शाश्वत सुख तो सिवाय अपनी आत्माके और कहीं नहीं है यही निश्चय है। इसीकी प्राप्ति के लिए सम्यक्त्वीका लक्ष्य एकमात्र शुद्धोपयोग होता है।

६—अत्याशक्ति पापका कारण है पुण्य बन्ध नहीं—

कुछ लोग समझते हैं—"पुण्य-बध नरकका कारण है—क्योंकि पुण्यसे विषय सामग्री जुटती है और विषयोंके मिलनेसे भोगनेकी इच्छा होती है, भोगनेसे अशुभ कर्म-बन्ध पड़ता है और इस तरह नरक जाना पड़ता है। पर वस्तुतः यह बात नहीं. पुण्य नरकका कारण नहीं है। पुण्यका काम विषय सामग्री जुटा देना मात्र है परन्तु तुम्हारी पदार्थके भोगनेमें तो कोई आपत्ति नहीं पर उनमें लिप्त मत हो जाओ। अत्याशक्ति ही नरककी जननी है। विषयको अन्नको तरह सेवन करो। यदि अन्न ज्यादा खा लिया तो अजीर्ण हो जाता है उसी तरह विषयोंका अधिक सेवन करोगे तो मरो तपेदिकमें। बुलाओ डाक्टरको। देखो आचार शब्द है, उसमें 'अति' लगा दो तो 'अत्याचार' बन जाता है।

७—इसलिए मूर्छा छोड़ो—

यदि अत्याशक्ति या अत्याचारसे बचना चाहते हो तो तुम्हारी जिन पदार्थोंमें रुचि है, ग्रहण करते ही उन्हें छोड़ दो। क्योंकि मूर्छा ही का नाम परिग्रह है। तुम्हारी भोजनमें रुचि है तभी तो खाते हो। मांको बच्चेसे मूर्छा है इसलिए तो लालन पालन होता है। इस लंगोटीसे हमें मूर्छा है तभी तो रखे हैं। तुम्हें घर गृहस्थीसे मूर्छा है तभी तो फंसे हो। यदि मूर्छा नहीं है तो फिर हो जाओ मुनि। एक मुनि हैं, उन्हें मूर्छा नहीं है इसलिए लंगोटी संभालनेकी आवश्यकता नहीं है। संभालनेवाली चीज थी वह तो मिट गई। एक लंगोटी ऐसी है जो मोक्ष नहीं होने देती, सोलह स्वर्गसे आगे नहीं जाने देती।

अतः वह चीज जब तक बनी है तभी तक संसार है। जहां तक बने परपदार्थोंसे मूर्छा हटेगी उतनी ही स्वात्माकी ओर प्रवृत्ति होगी। लोग कहते हैं कि जितने धनाढ्य पुरुष हैं, उन्हें बड़ा सुख होगा। मैं तो कहूँगा कि उन्हें हमसे भी ज्यादा दुःख है। उन पर जिस परिग्रहका भूत सवार है उससे वे तीन कालमें भी सुखी नहीं हो सकते। मनुष्यके जितना जितना परिग्रह बढ़ता जायगा उनका उतना दुख भी दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता जायगा और जितना कम होगा उतना ही सुख झलकेगा। अतः यदि मोक्षकी ओर रुचि है, सुखकी कामना है तो परिग्रह कम करनेका प्रयत्न करो।

८—इच्छाओंका दमन करो—

परिग्रह तब तक नहीं घट सकता जब तक इच्छाओंका दमन न हो।

एक मनुष्यने भूखेको रोटी दान किया। नंगेको कपड़ा दिया,

निराश्रयोंको आश्रय दिया और उसे सुख हुआ। वह सुख उसे कहांसे हुआ ? सुख तो उसे अवश्य हुआ। उस सुखका वह अनुभव भी कर रहा है। तो वह सुख उसका अन्तरंगसे उमड़ा। उसने विना किसी स्वार्थके परोपकार बुद्धिसे ऐसा किया जिससे उसे इच्छाओं-कषायोंकी मंदता करनी पड़ी इसलिए उसे सुख हुआ। तो पता चला कि जब इच्छाओं-कषायोंका पूर्ण अभाव हो जाय और यदि उसे विशेष सुख मिले तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बड़ी बात है ? जितनी मनुष्यके पास इच्छाएं हैं उसके लिए उतने ही रोग हैं। एक इच्छाकी पूर्ति होगई तो वह रोग कुछ देरके लिए शान्त हो गया और उसने अपनेको सुखी मान लिया। पर परमार्थ दृष्टिसे विचारो ! क्या वह सुखी हो गया ? आज सुबह रोटी खाई शामको फिर खानेकी जरूरत पड़ गई। इससे मालूम होता है कि इच्छाओंमें सुख नहीं है। अपितु इच्छाओंमें ही दुख है। जितनी जिसके पास इच्छाएं हैं उतना ही उसे दुख है। जिसकी एक इच्छा कम हो गई वह सुखी है परन्तु जिसके एक मात्र लंगोटीकी इच्छा रह गई वह उससे भी ज्यादा सुखी है। और जिसके पास कुछ भी इच्छा न हो दिगम्बर हो जाय वह उससे ज्यादा सुखी है। बस, परिग्रह त्यागका मतलब ही होता है कि इच्छाओंको कम करना। संसारमें ही देखलो, राजाकी अपेक्षा एक सन्त ज्यादा सुखी है। अतः हमारी समझमें तो यही आता है कि जिसने अपनी इच्छाओंको वश कर लिया वही सुखी है।

मूर्च्छाका त्याग वा इच्छाओंके दमनके लिये केवल परिणाम पलटनेकी आवश्यकता है, क्योंकि उन्हींकी विचित्रता है। परन्तु मनुष्यके परिणामोंके पलटनेका कोई समय नियत नहीं, न मालूम किसके कब भाव पलट जायें, कोई नहीं कह सकता।

चक्रवर्ती छः खण्डका अधिपति था। पर जब विरक्त हुआ तो सारी विभूतियोंको लात मार दी कि फिर मुँह फेरकर नहीं देखा। परिणामोंमें जब विरक्तता समा जाती है तो दुनियाँकी ऐसी कोई शक्ति नहीं जो मनुष्यके हृदयको पलट दे—उसे विरक्त होनेसे रोक ले। इसीलिए कहा है—"सम्यक् परिणामोंकी सबलता मुक्ति रमासे मिलानेवाली दूती है।"

९—क्रोधादि कषाय रागादि विभावोंपर विजय करो—

मनुष्यके लिए एक शुद्धात्माका ही अवलम्बन है। उसीके लिए देखो यह सारा प्रयास है। और परिणामोंमें जितनी चञ्चलता होती है, वह सब मोहोदयकी कल्लोलमाला है। उसमें कोई काम क्रोधादि विकारी भाव नहीं। यदि क्रोध आत्माका होता तो फिर क्यों कहते कि हमसे गलती होगई, क्षमा करो। इससे मालूम होता है कि वह तुम्हारी आत्माका विभाव भाव है।

१०—चाण्डालका परिवार—

एक मेहतरानी किसी स्थानपर झाड़ू लगा रही थी। निकट ही एक साधु बैठा था। झाड़ू लगाते समय, कुछ धूलके कण उस साधुपर भी पड़े। वह तुरन्त ही क्रोधित होगया और बोला—"ऐ मेहतरानी! क्या करती है?"

वह बोली—"झाड़ू लगाती हूँ।"

साधुने उत्तेजित स्वरसे कहा—तुझे दिखता नहीं है?

मेहतरानीने ऐंठते हुए कहा—"मुझे तो दिखता है?"

साधु आपेसे बाहर हो उठा—"अरी बड़ी चाण्डालनी है?"

मेहतरानीने व्यङ्गमें कहा—"हाँ मेरा ही परिवार तेरे घरमें बैठा है?"

साधुने कहा—"क्या बकती है? मेरे घरमें तेरा परिवार है?"

मेहतरानीने गर्वसे कहा—"मैं जो कहती हूँ ठीक कहती हूँ।"
साधु हठपूर्वक पूछने लगा—कैसे ? "कहाँ है तेरा परिवार ?"
इतनेमें दस पाँच और आदमी इकट्ठे होगए। दोनोंमें खूब वाद विवाद हुआ। अन्तमें उससे मेहतरानीने कहा—"चांडाल क्रोध, राग, द्वेष, मोह, माया जो तुम्हारे घटमें बैठा है वह मेरा परिवार है। अन्तरात्माको टटोलो। कषाय जीत नहीं सकते, रोग छोड़ नहीं सकते, मायासे मुँह मोड़ नहीं सकते तो इस ढोंगो वेषको छोड़ो।"

वस्तुतः आज जिन्हें चाण्डाल कहा जाता है वे चांडाल नहीं। चांडालका परिवार तो यह क्रोधादि कषाय और रागादि विभाव है।

क्षमा कहीं शास्त्रोंमें नहीं रखी है। वह तो आत्माकी वस्तु है। और आत्माकी वस्तु आत्मामें ही मिल सकती है। केवल क्रोध छोड़नेकी आवश्यकता है। क्रोध छूटा कि शेष विभाव स्वयं छूट जावेंगे। चांडालिनीका परिवार अपने आप घर छोड़ना प्रारम्भ कर देंगे। जरासे प्रयत्नकी आवश्यकता रह जायगी।

आत्माको शुद्ध स्वभावमें लानेकी आवश्यकता नहीं है बल्कि क्रोधादि कषाय और राग द्वेषादि विभाव भावोंको मिटा दो आत्मा अपने आप स्वस्वभावमें आ जायगी।

इसप्रकार स्वात्माके शुद्ध स्वरूपकी भावना करता हुआ सम्यग्ज्ञानी आगामी कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता है। नये पूर्वबद्ध कर्म तो अपना रस देकर खिरेंगे ही उनको यों चुटकियोंमें भोग लेता है। इसतरह यह संसारी पथिक मुक्तिके पथपर निरन्तर अग्रसर होता हुआ अपनी मंजिलका मार्ग तय कर लेता है और सदाके लिए शाश्वत सुखमें मग्न होजाता है।

मेरी श्रद्धा

मेरी तो यह श्रद्धा हो गयी है कि इस संसारमें जितने भी प्राणी हैं और वे जो कुछ करते हैं आत्म शान्तिके लिये करते हैं। संसारमें स्त्री पुरुषका सबसे अधिक स्नेह देखा जाता है। पुरुष स्त्रीसे स्नेह करता है और स्त्री पुरुषसे स्नेह करती है परन्तु अन्तस्थ रहस्यका विचार करनेपर यथार्थ कारणका पता लग जाता है। स्त्रीकी कामेच्छा पुरुषके संसर्गसे शान्त होती है और पुरुषकी कामलिप्सा स्त्री द्वारा शान्त होती है। उसके लिये ही उन दोनोंमें परस्पर स्नेह रहता है अन्यथा उन दोनोंकी कामाग्नि शान्त होनेका और कोई उपाय नहीं है।

लोकमें प्रत्येक मनुष्यने प्रायः यह दृश्य देखा होगा कि जब बाप छोटे बालकको खिलाता है तब उसके मुखका चुम्बन करता है। बालकके कपोल अति कोमल होते हैं उनसे जब पिताकी दाढ़ी मूंछके बालोंका संसर्ग होता है तब पिता प्रसन्न होता है, हँसता है, बालकके मुखको बार-बार चुम्बन करता है तथा कहता है मैं बालकको रमा रहा हूँ। परन्तु विचारा बालक मुखको सकोड़ता है, उसके मुखके पंजेसे मुक्त होना चाहता है, वह कठोर स्पर्शसे दुखी हो जाता है पर अशक्ततावश वेदनासे उन्मुक्त होनेमें असमर्थ रहता है। लोग समझते हैं कि बाप बालकसे प्रेम कर रहा है। वस्तुतः बाप बालकसे प्रेम नहीं

करता किन्तु उसके अन्दर बालकके साथ क्रीड़ा करनेकी जो इच्छाजन्य वेदना उत्पन्न होती है उसके दूर करनेके लिये ही पिताका प्रयास है। लोकमें इसीको कहते हैं कि पिता पुत्रको खिला रहा है। यही व्यवस्था प्रत्येक कार्यमें मानना न्याय है। जब हम किसीको दुखी देखते हैं तब उनके दुःख हरणके अर्थ दान देते हैं और लोकमें यह प्रसिद्ध होता है कि अमुक व्यक्ति दरिद्र-दीनोंके ऊपर दया करता है। वह बड़ा महोपकारी है। वास्तवमें देखा जावे तो हम उसका उपकार नहीं करते किन्तु उस दीन-दरिद्रको देखकर जो करुणाकषाय उत्पन्न होती है उससे स्वयं दुःखित हो जाते हैं। उस दुःखके दूर करनेका उपाय यही है कि उसके दुःखका प्रतीकार करें। परमार्थसे देखा जाय तो अपने ही दुःखका प्रतीकार करते हैं। इसीको लौकिक जन 'दया' कहते हैं और शास्त्रोंमें इसे ही परदुःखप्रहाणेच्छा कहा है। वास्तवमें परदुःखप्रहाणेच्छासे हम स्वयं दुखी होजाते हैं। जबतक उसके दूर करनेकी इच्छा हृदयमें जागृत रहती है तबतक हमको चैन नहीं मिलता; अतः उस बेचैनीको दूर करनेके लिये ही हम प्रयास करते हैं। लोकमें व्यवहार होता है कि अमुक व्यक्ति बड़ा परोपकारी है परन्तु उसके परोपकारमें आत्मोपकार ही छिपा हुआ है। सर्वत्र यही प्रक्रिया लागू होती है। हम चाहे उसे अन्यथा समझें यह अन्य बात है परन्तु वस्तु मर्यादा यही है। जब मनुष्य तीव्र कषायसे दुखी होता है तब उस तीव्र कषायकी निवृत्तिके लिये नाना प्रकारके उपायोंका आश्रय लेता है।

यहाँ प्रक्रिया मन्दकषायके उदयमें होती है। तीव्र और मन्द कषायमें केवल इतना ही अन्तर है कि तीव्र कषायके आवेशमें हम पराया अनुपकार करके तीव्र कषाय जन्य वेदना दूर करनेका

प्रयत्न करते हैं। जैसे क्रोधके आवेशमें परको मारना ताड़ना इत्यादि क्रिया होती है। मन्द कषायमें परके उपकारादिकी भावना रहती है परन्तु दोनों जगह अभिप्राय केवल स्वीय कषाय जनित वेदनाके प्रतिकारका रहता है। संसारी मानवोंकी कथा तो दूर रही जो सम्यग्ज्ञानी अविरती मनुष्य हैं उनकी क्रिया परोपकारके लिये होती है। उनके अभिप्रायमें भी आत्मीय कषाय जनित पीड़ाकी निवृत्ति करना एक यही लक्ष्य रहता है। अविरती मनुष्योंकी कथाको छोड़ो, व्रती मनुष्योंके द्वारा जो परोपकार के कार्य किये जाते हैं उनका भी यही अभिप्राय रहता है कि किसी तरहसे कषाय जनित पीड़ाकी निवृत्ति हो। अथवा इनकी कथा छोड़ो महाव्रती भी कषाय जन्य पीड़ासे व्यथित होकर उसको दूर करनेके लिये अपने उपयोगको नाना प्रकारके शुभोपयोगमें लगाते है। अतः यह सिद्ध हुआ कि कोई भी जीव संसारमें परोपकार नहीं करता किन्तु मैंने परोपकार किया ऐसा व्यवहार मात्र होता है।

मोहके उदयमें यही होता है, मोहकी महिमा अपरम्पार हैं—देखिये, श्री पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं—

"यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानामि सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥"

तथा—

"न परैः प्रतिपाद्योऽहं न परान्प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥"

तात्पर्य यह है कि जिसे हम देखते हैं वह तो जानता नहीं और जो जाननेवाला है वह दृष्टिगोचर नहीं होता फिर किसके साथ बोलनेका व्यवहार करें? अर्थात् किसीके साथ बोलनेका व्यवहार नहीं करना चाहिये। अभिप्राय कितना स्वच्छ है

किसीसे बोलना नहीं चाहिये। ऐसा तो अन्य प्राणियोंके प्रति आचार्यका उपदेश है परन्तु चारित्र मोहोदयसे उत्पन्न हुई जो कषाय उसकी वेदनाको दूर करनेके लिये आचाय स्वयं बोलते हैं। इसका यह तात्पर्य है कि कषाय जनित पीड़ासे निवृत्तिके लिये आचार्यका प्रयास है।

राजवार्तिकमें श्री अकलङ्कदेवने उसकी भूमिका लिखते समय यही तो लिखा है—"नात्र शिष्याचार्यसम्बन्धो विवक्षितः किन्तु संसारसागरनिमग्नानेकप्राणिगणाभ्युजिहीर्षा प्रत्यागूर्णोऽन्तरेण मोक्षमार्गोपदेशं हितोपदेशो दुष्प्राप्य इत्यत आह "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति। अर्थात् श्री उमास्वामीको संसार दुःखसे पीड़ित प्राणिवर्गको देखकर हृदयमें उनके उद्धारकी इच्छा हुई और वही इच्छा सूत्रके रचनेमें कारणीभूत हुई। अभिप्राय यह है कि स्वामीका प्रयास इच्छाजनित आकुलताको दूर करना ही सूत्र निर्माण करनेमें मुख्य ध्येय था। अन्य प्राणीका उपकार हो जाय यह दूसरी बात है।

किसान खेती करता है—उसका लक्ष्य कुटुम्ब पालनार्थ धान्य उत्पत्ति करनेका रहता है। पशु-पक्षी सभी उससे उपकृत होते हैं परन्तु कृषकका अभिप्राय उनके पोषणका नहीं रहता। यदि हमारी सत्य श्रद्धा यह हो जावे तो आज ही हम कर्तृत्व बुद्धिके चक्रसे बच जावें। परमार्थ बुद्धिसे विचार करो तब कोई द्रव्य किसीका कुछ करता ही नहीं। निमित्त कर्ता हो परन्तु वह उपादान रूप तो तीन कालमें भी नहीं हो सकता।

यथा—

'जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु न संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकतो कह तं परिणामए दव्वं॥'

जो द्रव्य अपने निज द्रव्यमें अथवा गुणमें वर्तता है वह अन्य द्रव्य और उसके गुणरूप संक्रमण नहीं करता. पटलकर अन्यमें नहीं मिल जाता, फिर वह अन्य द्रव्य को स्वस्वरूप कैसे परिणमा सकता है ? अर्थात् प्रत्येक द्रव्यका जो परिणमन है उस परिणमनका वही द्रव्य उपादान कारण होता है। ऐसा सिद्धान्त होने पर भी मोहके उदयमें जीव परके उपकारकी चेष्टा करता है। यदि परमार्थसे विचार करें तो उस कार्यके अन्तर्गत अपनी कषायजन्य पीड़ाके दूर करने का अभिप्राय ही पाया जायेगा। इस विषयमें बहुत लिखनेकी आवश्यकता नहीं। सर्वसाधारणको यह अनुभूति है-"जो हम करते हैं उसके अन्तर्गत हमारी बलवती इच्छा ही कारण पड़ती है अतः हमको अन्तरङ्गसे यह भाव कर देना उचित है कि हम परोपकार करते हैं। केवल हमको जो कषाय उत्पन्न होती है उसकी पीड़ा सहनेको हम असमर्थ रहते हैं अतः उसका दूर करना हमारा लक्ष्य है। इस प्रकारको श्रद्धा करनेसे हम कर्तृत्व-बुद्धि से, जो कि संसार बंधनका कारण है-बच जावेंगे।"

धर्म

१

इस संसार में जितने धर्म देखे जाते हैं उन सबका मूल कारण आत्माकी विभाव परिणति ही है। क्योंकि जब आत्मामें मोहका अभाव हो जाता है तब इसके न तो अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धि होती है और न राग द्वेषकी ही उत्पत्ति होती है। जब अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धि होती है तब इसकी श्रद्धा मिथ्या रहती है और तब यह अनेक प्रकारके विकल्प कर जगत्-को अपनानेकी कल्पना करता है। यद्यपि कोई अपना नहीं है, क्योंकि सब पदार्थोंकी सत्ता पृथक् पृथक् है। परन्तु मिथ्या श्रद्धाके सहचारसे इसका ज्ञान विपर्यय हो रहा है। जैसे कामला रोगवाला शंखको पीला मानता है इसी प्रकार यह भी अन्य पदार्थों में निजत्वकी कल्पना करता है।

यदि यह संज्ञी हुआ और क्षयोपशममें ज्ञानकी विशेषता हुई तथा कषाय का मन्द उदय हुआ तो जानपनेकी विशेषतासे इसके ऐसी इच्छा होती है कि यह ठाठ कहाँसे आया? इसका मूल कारण क्या है? तब ऐसी कल्पना करता है कि संसारमें जो कार्य देखे जाते हैं उनका कोई न कोई बनानेवाला अवश्य है। वह सोचता है कि जैसे घट पट आदि पदार्थ बिना कुम्भकार या जुलाहाके नहीं बन सकते वैसे ही इतने बड़े जगत् का

भी कोई न कोई बनानेवाला अवश्य होना चाहिए। जब यह प्रश्न होता है कि वह बनानेवाला कौन है? तब ऐसी कल्पना करता है कि कोई ऐसा अलौकिक सर्वशक्तिमान् है जिसे हम आँखों से नहीं देख सकते। भारतवासियोंने उसका नाम ईश्वर रखा, अरबवालोंने अल्ला रखा विलायतवालोंने गॉड रखा और ईरानवालोंने खुदा नाम रख लिया। यद्यपि ऐसी कल्पना तो कर ली पर इसे माने कौन? तब कई पढ़े-लिखे लोगोंने पुस्तकों की रचना की। जो भारतवासी थे उन्होंने संस्कृत में रचना की और उसका नाम वेद रखा और कहा कि इसका रचयिता ईश्वर है। जिन्हें यह नहीं रुचा उन्होंने वेद को अपौरुषेय बतलाया और कहा कि इस ब्रह्माण्डको कौन बना सकता है? उसकी अनादिसे ऐसी ही रचना चली आई है। इस जगत्का भी कर्ता कोई नहीं। वेद अनादिनिधन है! इनमें जो यागादि कर्म बतलाये हैं वे ही प्राणियोंको स्वर्गादिके दाता हैं! वेदमें जो लिखा है उसीके अनुकूल सबको चलना चाहिए। इसीमें सबका कल्याण है। वेद विहित कर्मका आचरण करना ही धर्म है!

इस प्रकार यह जीव राग, द्वेष और मोहवश नाना प्रकार-की कल्पनाओंमें उलझा हुआ है और उनकी श्रद्धा कर तदनुकूल प्रवृत्ति करनेमें धर्म मानता है। पर वास्तवमें धम क्या है? यह प्रश्न विचारणीय है। तत्त्वतः देखा जाय तो जो धर्मी पदार्थके साथ अभेद सम्बन्धसे तीन काल रहे उसी का नाम धर्म है। वास्तवमें तो वह अनिर्वचनीय है परन्तु ऐसा भी नहीं कि पदार्थ सर्वथा अनिर्वचनीय है। यदि ऐसा मान लिया जावे तब संसार का आज जो व्यवहार है वह सभी लोप हो जावे, परन्तु ऐसा होता नहीं। वाच्यवाचक शब्दों द्वारा वस्तु का व्यवहार लोक-में होता है। जैसे घट शब्द कहनेसे लोकमें घट रूप अर्थका

बोध होता ही है। यद्यपि शब्द पर्याय अन्य है घट पर्याय अन्य है। घट शब्दका प्रत्यक्ष कर्ण इन्द्रियसे होता है और घटात्मक जो पृथ्वीकी पर्याय है उसका प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रियसे होता है। अस्तु यहाँ पर जो धर्मके स्वरूप पर विचार हो रहा है वह क्या है? मेरी समझमें तो यह आता है कि—"धर्म नामक पदार्थ या जिस शब्दसे कहिए वह जो धर्मी नामक वस्तु है उससे अभिन्न है। अर्थात् धर्म अपने धर्मीसे तीन कालमें भिन्न नहीं हो सकता।" जैसे अग्निमें उष्ण धर्म है वह कभी भी अग्निसे पृथक् नहीं हो सकता। यदि उष्णता अग्निसे पृथक् हो जावे तो वह अग्नि ही न रह जावे। इसी तरह धर्म तीन कालमें अपने धर्मीसे भिन्न नहीं हो सकता। जैसे आत्माका धर्म जीवत्व है उसका अस्तित्व तीनों कालोंमें आत्माके साथ रहता है, उसीके द्वारा जीव पदार्थकी सत्ता है। उसके बिना जीवका अस्तित्व ही नहीं। यद्यपि "अस्तित्व गुणके बिना किसी पदार्थका ज्ञानमें भान ही नहीं होता" यह बात सर्वसम्मत है परन्तु अस्तित्व गुण साधारण है, सभी पदार्थोंमें पाया जाता है। उससे सामान्य बोध होता है। जीव अजीवकी विशेष व्यवस्था नहीं बन सकती। अतः जीव अजीव की विशेष व्यवस्थाके लिए असाधारण धर्मकी आवश्यकता है। तब जीव नामक जो पदार्थ है उसमें जीवत्व नामक एक ऐसा असाधारण धर्म है जिसके द्वारा उसे इन अजीव पदार्थोंसे भिन्न कर सकते हैं और जीवत्व नामक जो गुण या धर्म है वह जीव की जितनी भी अवस्थाएँ हैं सभीमें पाया जाता है। चाहे जीव एकेन्द्रिय हो, चाहे विकलत्रय हो, चाहे असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो, चाहे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो, चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे देशव्रती हो, चाहे महाव्रती हो, चाहे

केवली हो, चाहे देव हो, चाहे सिद्ध हो सभी पर्यायोंमें पाया जाता है।

यह धर्म जीवको अजीवों से भिन्न करानेमें साधक है, अनादिनिधन है, इसके बलसे ही जीवकी सत्ता है, किन्तु इसको जानकर हमें यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि सिद्ध-में भी जीवत्व है, हममें भी जीवत्व है अतः हम तुच्छ क्यों? जैसे सिद्ध भगवान सर्व मान्य हैं उसी तरह हमें भी सर्वमान्य होना चाहिए।

२

धर्म आत्माकी वस्तु है, आत्मासे ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। लोग व्यर्थ ही उसे इधर उधर खोजते फिरते हैं। संसारमें जितने प्राणी हैं वे सब धर्मसे ही सुखी हो सकते हैं। मोह, राग, द्वेषसे रहित आत्माकी परिणतिको ही धर्म कहते हैं। जिन्हें इस वस्तुका स्वाद नहीं आया वे अन्य वस्तुओंको धर्म मानते फिरते हैं।

यह जीव अनादि कालसे विषय कषायके कार्यों में तन्मय हो रहा है। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है कि 'सुदपरि-चिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा' अर्थात् काम भोगकी कथा सभी लोगोंके श्रुत परिचित तथा अनुभूत है, परन्तु जिस कथासे इस जीवका कल्याण होता है उस ओर इसकी रुचि ही नहीं है। धर्म वही है जो जीवको संसारके दुःखसे हलका कर उत्तम सुखमें पहुँचा दे। ऐसा धर्म आत्माकी शुद्ध परिणति ही हो सकता है।

अग्निके सम्बन्धसे पानी उष्ण हो जाता है। परन्तु उष्ण होना उसका स्वभाव नहीं है। शीतलता ही उसका स्वभाव है।

यही कारण है कि शीतलता प्राप्त करनेका प्रयास नहीं करना पड़ता है। जो जिसका स्वभाव होता है वह तो उसके पास रहता ही है। अग्निका सम्बन्ध दूर कर दिया जाय तो पानी अपने आप शीतल हो जाता है। इसी प्रकार आत्मासे राग, द्वेष, मोहको दूर कर दिया जाय तो आत्मा अपने आप धर्म रूप हो जाय।

एक कविने कहा है कि—

'तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि।
अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषयमेव रमणीयः।'

अर्थात् जिसने कभी घी नहीं देखा उसे तिल्लीका तेल ही मीठा लगता है, इसी प्रकार जिसने वीतराग सुखका अनुभव नहीं किया उसे विषय-सुख ही अच्छा लगता है। संसारकी क्या विचित्र दशा है कि लोग धर्मकी इस सीधी सी व्याख्या को नहीं समझते।

मैं गणेशीलाल (मुरार) के बगीचेमें ठहरा। वहाँ एक मेहतर आता था। वह एक दिन बोला कि महाराज हमारी जातिमें भोजन होनेवाला है, उसमें लोग व्यर्थ ही ४-६ सुअरके बच्चोंका वध कर देते हैं। मैंने उससे कहा कि भाई मेरे पास और तो कुछ है नहीं, यह एक चद्दर है इसे तुम अपने चौधरीको भेंट देकर कहना कि जातिमें ऐसा प्रचार करो जिससे यह हिंसा बन्द हो जावे। वह गया और दूसरे दिन बोला कि महाराज आपकी कृपासे हमारी जातिमें भोजके समय हिंसा बन्द हो गई है। मुझे सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। जिन लोगोंको आप अछूत समझते हैं आखिर वे भी तो मानव हैं, उनकी आत्मा भी यदि निर्मल हो जाय तो कौन रोक सकता है? वास्तवमें धर्म किसी वर्ण या जातिका नहीं है। उसे तो जो भी धारण करले, उसीका है।

विचार कर देखो तो संसारमें आत्माको सुख देनेवाली कोई वस्तु नहीं है। सुख यदि हो सकता है तो आत्माकी निर्मलतासे ही।

एक आदमी एक बार परदेश जा रहा था। जाते समय उसकी स्त्रीने उसे इस विचारसे एक छोटी सी मूर्ति दी कि कहीं परदेशमें पापनिमग्न न हो जावे। उसने कहा कि देखो इसकी पूजा किये बिना भोजन नहीं करना और हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और लोभ आदि पापोंका त्याग किये बिना पूजा नहीं करना। वह स्त्रीकी बात मानता था। अतः पूजा करना स्वीकार कर मूर्तिको साथ ले गया। एक दिन पूजाके लिये उसकी मूर्तिं पर अक्षत चढ़ाये कुछ देर बाद चूहेने आकर उस मूर्तिको लुड़का दिया और उसपरके अक्षत खा लिये। यह देखकर उसके मनमें आया कि इस मूर्तिसे बलवान् तो चूहा है, इसीकी पूजा करनी चाहिए। अब वह चूहाकी पूजा करने लगा। एक दिन एक बिलाव आया तो चूहा डर कर भाग गया। यह देख उसने सोचा कि बिलाव बलवान् है, अतः इसीकी पूजा करनी चाहिए। क्या था अब वह बिलावको पूजने लगा, एक दिन एक कुत्ता आया जिसे देखकर बिलाव भयभीत हो गया, अब वह कुत्तेकी पूजा करने लगा। और कुत्तेको लेकर घर पहुँचा।

एक दिन उसकी स्त्री रोटी बना रही थी, वह कुत्ता लपककर चौकेमें घुस गया। स्त्रीने उसके एक डंडा मारा जिससे वह भों भों करके भाग गया। उसने सोचा-अरे, कुत्तेसे तो यह स्त्री ही बड़ी है। अब वह उस स्त्रीको पूजने लगा—उसकी धोती धोता, उसका साज शृंगारादिक करता। एक दिन उसकी स्त्री खाना बनाते समय शाकमें नमक डालना भूल गई। जब वह आदमी खानेको बैठा तो उसने कहा 'आज शाकमें नमक क्यों नहीं डाला ?' वह

बोली 'मैं भूल गई।' उसने कहा—क्यों भूल गई और एक थप्पड़ मारा। वह स्त्री रोने लगी। उसने सोचा अरे, मैं ही तो बड़ा हूँ, यह स्त्री तो मुझसे भी दबक गई। आखिर उसे अपनी भूलका ज्ञान हो गया। वास्तवमें जिसने अपनेको पहिचान लिया, उसके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ क्या चीज है? हम दूसरोंको बड़ा बनाते हैं कि अमुक बड़े हैं, तमुक बड़े हैं, पर मूरख अपनी ओर दृष्टिपात नहीं करता। अरे तुझसे तो बड़ा कोई नहीं है। बड़ा बननेके लिये बड़े कार्य कर। वास्तवमें अपनेको लघु मानना तो महती अज्ञानता है कि हम क्या हैं? किस खेतकी मूली हैं? यह तो महान् आत्माको पतित बनाना है। उसके साथ अन्याय करना है। अरे, तुझमें तो अनन्तज्ञान की शक्ति तिरोभूत है। अपनेको मान तो सही कि मुझमें परमात्मा होनेकी शक्ति विद्यमान है। आत्मा निर्मल होनेसे मोक्षमार्गकी साधक है और आत्मा ही मलिन होनेसे संसारकी साधक है। अतः जहाँ तक बने आत्माकी मलिनताको दूर करनेका प्रयास करना हमारा कर्तव्य है।

जड़वाद की उपासना

राजा भोजका उपाख्यान इस बातका द्योतक है कि वह ज्ञानके प्रभावसे स्वयं रक्षित रहे तथा उनका विरोधी जो मुञ्ज था वह भी उनका हितैषी बन गया और भोजको राज्यका अधिपति बनाकर आप संसारसे विरक्त हो गया। इसी तरह हम लोगोंको उचित है कि संसारको अनित्य जान अपना वैभव पुत्रादिकोंको देकर मोक्षमार्गमें लगना चाहिए। जो गृहस्थी छोड़नेमें असमर्थ हैं उन्हें चाहिये कि अपनी सन्ततिको सुशिक्षित बनानेका प्रयत्न करें और जो विशेष धन सम्पन्न हैं उन्हें चाहिये कि वे दूसरोंके बालकोंको सुशिक्षित बनानेमें अपने द्रव्यका सदुपयोग करें।

"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

"यह मेरा है, यह पराया है" ऐसी गणना करना ओछे चित्तवाले मनुष्योंका काम है। किन्तु जिनका चरित उदार है वे पृथिवीमात्रको अपना कुटुम्ब मानते हैं!" वास्तवमें ऐसे उदारचरितवाले ही प्रशस्त हैं परन्तु इस मोहमय जगत् में बहुत प्राणी तो मोह मदिरामें इतने मग्न हैं कि मोक्षमार्गकी ओर उनका जरा भी लक्ष्य नहीं। यही कारण है कि वे दूसरों के बालकोंकी बात तो जाने दीजिये अपने ही बालकोंको मनुष्य बनानेकी चेष्टा नहीं करते। वास्तवमें वह मनुष्य

मनुष्य नहीं जो अपने बालकोंको मनुष्य बनानेकी चेष्टा नहीं करता। जिस धनका धनी बालकको बनाना चाहते हो यदि पहले उसे इस योग्य न बनाया गया कि वह धनका उपयोग कैसे करे तो इससे क्या लाभ? जैसे कल्पना करो कि कोई आदमी अन्नादि द्रव्योंके स्वादका भोक्ता बनना चाहे परन्तु मलेरिया ज्वरके निवारणार्थ कोई प्रयत्न न करे तो क्या वह उस अन्नके स्वादको पा सकता है? कभी नहीं। इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये।

आज कल लोग ज्ञानका प्रभाव और महत्त्व बहुत ही कम समझते हैं इसीलिये जड़वादको माननेवाले हैं, जड़ ही से प्रेम है। बालकोंसे जो प्रेम है वह केवल उनके शरीरसे प्रेम है अतः नाना प्रकारके आभूषणोंसे उन्हें सजाते हैं, नाना भोजन देकर उन्हें पुष्ट करते हैं परन्तु न उन बालकोंकी आत्मासे प्रेम है। न उसे सद्गुणोंसे सजाते हैं और न ज्ञानका भोजन देकर उसे पुष्ट ही करना चहते हैं। इसी प्रकार स्त्रीके शरीरसे ही प्रेम है अतः निरन्तर उसके शरीरकी रक्षाके लिये प्रयत्न करते हैं। यदि स्त्री बीमार हो जावे तो वैद्य या डाक्टरों को सैकड़ों रुपये देकर उसे निरोग करानेकी चेष्टा करते हैं परन्तु अज्ञान रोगसे ग्रस्त उसकी आत्माकी चिकित्सामें कभी एक पैसा भी व्यय नहीं करना चाहते। सोचनेकी बात है कि जिस तरह शरीर पोषणके लिये हम अपने द्रव्यका व्यय करते हैं वैसा आत्मपोषणके लिये करें तो शारीरिक रोगों और आपत्तियों के बन्धन की बात तो दूर रही सांसारिक रोग और आपत्तियोंके बन्धन सदाके लिये टूट जावें।

वस्त्राभरण और खेल कूदके सामानकी बात छोड़िये; एक बालकके खान-पानमें ही केवल १) दिनसे कम व्यय नहीं

होता। इस हिसावसे एक वर्षमें ३६५) हुए और ५ वर्षमें १८२५) हुए। यदि एक ग्राममें ४० ही वालक होंगे तो उनका व्यय ७३०००) हुआ। परन्तु यदि उनके आदर्श जीवन निर्माण के लिये, उन्हें शिक्षित बनानेके लिये उस ग्राममें या न सही ग्राम, प्रान्तमें भी एक शिक्षालय खोलनेकी अपील की जावे तो बड़ी कठिनतासे ५०००) भी मिलना अति कठिन है। इसका कारण हम लोग केवल जड़की उपासना करनेवाले हैं अतः शरीरसे ही प्रेम है आत्मासे नहीं। व्यक्तिगत अपनी बात तो जाने दीजिये मन्दिरमें जाकर भी जड़वादकी ही उपासना करते हैं। मूर्तिको चाकचिक्य रखना जानते हैं परन्तु जिसकी वह मूर्ति है उसकी आज्ञाओंपर चलना नहीं जानते। मूर्तिकी सौम्यतासे आत्माकी वीतरागताका अनुभव कर हमें उचित तो यह था कि आत्मामें कलुषित परिणामोंके अभावसे ही शान्तिका उदय होता है और उन्हीं आत्माओंके वाह्य शरीरका ऐसा सौम्य आकार हो जाता है अतः उनकी आज्ञाओंपर चलकर अन्तर और बाहर सौम्य बननेका प्रयत्न करते परन्तु इस ओर दृष्टि ही नहीं देते। इसका कारण यही है कि हम अपने चौबीसों घण्टे जड़वादकी उपासनामें व्यय करते हैं। दिनभर अपने व्यापारादि कार्यों में इधर-उधरके लोगोंकी वंचना करते हैं, थोड़ा समय निकाल कर यद्वा तद्वा अपनी शक्तिके अनुकूल जड़ भोजनकर तृप्ति कर लेते हैं, कुछ अवकाश मिला तो बालकोंके साथ अपना मन बहलाव कर लेते हैं। कुछ अधिक सम्पन्न हुए तो मोटरों की फक फक द्वारा किसी बागमें जाकर नेत्रोंसे उसकी शोभा निरखकर, नाकसे सुगन्ध लेकर और जीभसे फलादि चखकर अपनेको धन्य मान लेते हैं। रात्रिके समय सिनेमा आदि

का प्रदर्शन कर अपने कुटुम्बको कुमार्गमें लगाकर प्रसन्न हो जाते हैं। अपनी स्त्रीके साथ नाना प्रकारको मिथ्या गल्प कर भाँडों जैसी लीलाकर रात्रि व्यतीत करते हैं। इस प्रकार आजन्म इसी चक्रमें फँसे हुए जालमें फँसी मकड़ीकी तरह सांसारिक जालमें अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं।
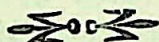
स्थितीकरण अङ्ग

आजकलके समयमें स्थितीकरण अङ्गकी विशेषता चली गई। वास्तवमें स्थितीकरण तो उसे कहते हैं—

उम्मग्गं गच्छत्तं सगं पि मग्गं ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्माइट्ठी मुणेयव्वो॥

उन्मार्गमें जाते हुए अपने आत्माको सन्मार्गमें जो स्थापन करता है उस स्थित करनेवाले जीवको सम्यग्दृष्टि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्योंके पूर्व विपाकसे नाना आपत्तियाँ आती हैं उस समय अच्छे अच्छे मनुष्य धैर्यका परित्याग कर देते हैं तथा उनकी श्रद्धामें भी अन्तर पड़ने लगता है। यह असंभव नहीं, अनादि कालसे आत्माका संसर्ग पर पदार्थोंके साथ एकमेक हो रहा है अन्यथा ऐसा न होता तब आहारादि विषयक इच्छा ही नहीं होती। देखो सम्यग्दर्शन होनेके बाद ज्ञान तो सम्यक् हो गया, आत्मासे विपरीताभिनिवेश निकल गया, जिस जिस रूपमें पदार्थोंकी स्थिति है उन्हें उसी उसी रूपमें मानता है। आत्माको आत्मत्व धर्मद्वारा और शरीरको शरीरत्व धर्मद्वारा ही बोधका विषय करता है। "शरीराद् जीवो भिन्नः" शरीरसे आत्मा भिन्न है और आत्मासे शरीर भिन्न है ऐसा दृढ़ निश्चय है। तथा यह भी दृढ़ निश्चय है कि आत्मा

अमूर्तिक ज्ञानादि गुणोंका पिंड है, आत्मामें जो रागादिक हैं वे आत्माके विभाव भाव हैं,इनके द्वारा आत्मा निज स्वरूपसे च्युत है इनसे आत्माको बन्ध होता है। ये भाव आत्माको दुःखदायी हैं, पदार्थोंका परिणमन आत्मीय चतुष्टयके द्वारा हो रहा है कोई किसीके परिणमनके अस्तित्वको अन्यथा नहीं कर सकता। अथवा जिसमें जो परिणमनकी शक्ति नहीं उसमें वह परिणमन करनेकी कोई शक्ति नहीं जो करा सके। फिर भी चारित्रमोहके उदयकी बलवत्ता देखिये कि सम्यग्दर्शनके द्वारा यथार्थ निर्णय होनेपर भी जीव संसारको सुधारना चाहता है, विवाहादि कार्य कर गृहस्थ बनता है, बालकादि उत्पन्न कर हर्ष मानता है, शत्रुओंके साथ विरोधी हिंसा कर उन्हें पराजित करता है या स्वयं पराजित होता है। जगत भरकी सम्पदाका संग्रह करता है और सम्यग्दर्शनके बलसे श्रद्धा इतनी निर्मल है कि इस जगतमें मेरा परमाणुमात्र भी नहीं तथा मन्द कषायोदय हुआ तो देशव्रतको अङ्गीकार करता है। उसके ग्यारह भेद होते हैं, अन्तके भेदमें एक लँगोटीमात्र परिग्रह रह जाता है। उसको पर जानता हुआ भी छोड़नेमें असमर्थ है। यह क्या मामला ? चारित्रमोहकी ही महिमा है। पूर्व मोहकी अपेक्षा विशेष मोह मन्द हुआ तब वह लँगोटी मात्र परिग्रह त्याग देता है, नग्न दैगम्बरी दीक्षा धारण करता है, सभी परिग्रहको त्याग देता है तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं रखता। फिर जो मोह उदयमें है उसकी महिमा देखो कि जीवोंकी रक्षाके लिये पीछी और शौचके लिए कमण्डलु तथा ज्ञानाभ्यासके लिए पुस्तक परिग्रहको रखता भी है। आत्मा द्रव्यापेक्षया अजर अमर है फिर भी पर्यायकी स्थिरता के लिए भोजनादि ग्रहण करता ही है। यद्यपि यह निश्चय है

कि कोई किसीका उपकार नहीं करता फिर भी हजारों शिष्यों को दीक्षा, शिक्षा देते ही हैं। स्वयं कहते हैं—

"यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥"

तथा उपदेश देते हैं—

"यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥"

"जो जाननेवाला है वह तो दिखता नहीं और जो दिखता है वह जाननेवाला नहीं तब किससे वाग्व्यवहार करूँ। अर्थात् किसीसे वचन व्यवहार नहीं करना" यह तो शिष्योंको पाठ पढ़ाते हैं और आप स्वयं इसी व्यवहारको कर रहे हैं।

तथा श्री आचार्यवर्योंको यह निश्चय है कि सर्व पदार्थ स्वतःसिद्ध अनादिनिधन धारावाही प्रवाहसे चले आ रहे हैं। तथा चले जावेंगे फिर भी मोहमें भावना यह हो रही है—

"सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव॥"

"संसारके सभी प्राणियोंसे मेरा मैत्रीभाव हो, अपनेसे अधिक गुणवानोंको देखकर आनन्द हो, दुःखियोंके प्रति दया और अपने प्रतिकूल चलनेवालोंके प्रति माध्यस्थ भाव हो।"

इससे यह सिद्धान्त निकला कि सम्यग्दर्शनके होनेसे यथार्थ ज्ञान हो गया है फिर भी चारित्रमोहके उदयमें क्या क्या व्यापार करता है सो किसीसे अज्ञात नहीं। यह तो मोह

की परिपाटी है यह परिपाटी यहीं पूर्ण नहीं होती। इसके सद्भावमें जिन कर्मोंको अर्जन करता है इनके अभावमें वे कर्म भी उदयमें आकर अपना कार्य कराते ही हैं चाहे वह आत्मा का कुछ अन्यथा न कर सकें परन्तु प्रदेश परिस्पन्दन तो करा ही देते हैं। जैसे मोहके अभाव होनेसे क्षीण मोह हो गया और अन्तमुहूर्तमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश होकर अनन्त चतुष्टयका स्वामी भी हो गया, परन्तु फिर भी अनेक देशोंमें भ्रमण करता है और जीवोंके हितार्थ अनेक बार दिव्योपदेश भी करता है। जब यह व्यवस्था है तब यदि कोई व्यक्ति कर्मोदयसे धीरतासे च्युत हो जावे तो क्या आश्चर्य है? इसलिये धर्मात्माओंका प्रथम कर्तव्य होना चाहिये कि स्थितीकरण अङ्गको अपनावें। बड़े-बड़े कर्मके चक्रमें आ जाते हैं तब यदि यह क्षुद्र जीव आ जावे तब आश्चर्यकी कौन-सी बात?

श्री रामचन्द्रजी बलभद्र होते हुए भी सीताके अपहरण होने पर इतने व्याकुल हुए कि वृक्षोंसे पूछते हैं क्या आप लोगोंने देखा है हमारी सीता कहाँ गई? कौन ले गया? पर वस्तु ही तो थी यदि चली गई तो रामचन्द्रजी महाराजकी कौनसी क्षति हुई। तथा लक्ष्मणका अन्त हो गया तब उन्हें लिये लिये छह मास तक दर दर भ्रमण करते फिरे! इसी तरह यदि वर्तमान में किसीके स्त्री का वियोग हो जावे या पुत्रादि का वियोग हो जावे और वह उसके दुःख से यदि दुखी हो जावे तब क्या वह सम्यग्दर्शनसे च्युत हो गया? अथवा कल्पना करो च्युत भी हो जावे तब उसे फिर उसी पद में स्थितीकरण करो। कर्म के विपाक में क्या-क्या नहीं होता?

आपने पद्मपुराणमें पढ़ा होगा कि विभीषणने जब निमित्त ज्ञानियोंसे यह सुना कि रावणकी मृत्यु सीताके निमित्तसे

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा लक्ष्मणसे होगी, तब एकदम दुखी हो गया और विचार करता है कि "न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी" न रहेंगे दशरथ और न रहेंगे जनक तब कहाँसे होगी सीता ? और कहाँसे होंगे रामचन्द्र ? ऐसा विचारकर दोनोंको मारनेका संकल्प कर लिया। यहाँकी वार्ता श्रवणकर नारदजीने एकदम अयोध्या और मिथिलापुरीमें जाकर दोनों राजाओंको यह समाचार सुना दिया। मन्त्रियोंने दोनोंको गुप्त स्थानमें भेज दिया और उनके सदृश दो लाखके पुतले बनवाकर रख दिये। विभीषण दोनोंका शिरच्छेद कराकर आनन्दसे लङ्का जाता है और विचार करता है कि मैंने महान् अनर्थ किया पश्चात् फिर ज्योंका त्यों धर्मात्मा बन जाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जो आत्मा कर्मोदयमें बड़े-बड़े अनर्थ कर डालता है वही आत्मा समय पाकर धर्मात्मा हो जाता है। अतः यदि कोई जीव कर्मके विपाकमें धर्मसे शिथिल होनेके सम्मुख हो या शिथिल हो जाय तब धर्मात्मा पुरुषका काम है कि उसका स्थितीकरण करे। गल्पवाद मात्रसे स्थितीकरण नहीं होता उसके लिए मन, बचन, काय तथा धनादि सामग्रीसे उसकी रक्षा करना चाहिये। हम लोग व्याख्यानोंमें संसार भरकी बात कह जाते हैं किन्तु उपयोगमें रत्ती भर भी नहीं लाते। इसपर "क्या कहें पंचम काल है, धर्मात्माओंकी संख्या घट गई, कोई उपाय वृद्धिका नहीं" इत्यादि कथाकर सन्तोष कर लेना कायरों का काम है। यदि आप चाहो तो आज ही संसारमें धर्मका प्रचार हो सकता है। पहिले तो हमें स्वयं धर्मात्मा बनना चाहिये पश्चात् यथाशक्ति उसका प्रचार करना चाहिये। यदि हमारे घरमें ५) प्रति दिन खर्चमें निर्वाह होता है तो उसमेंसे आठ आने अपने जो गरीब पड़ोसी हैं उनके लिए व्यय करना

चाहिये। केवल वाचनिक सहानुभूतिसे स्थितीकरण नहीं होता और कहीं वाचनिक और कहीं कायिक सहानुभूति भी स्थितीकरण करनेमें सहायक हो सकती है। परन्तु सवत्र नहीं। यथायोग्य सहानुभूतिसे कार्य चलेगा। महापुरुष वही है जो समयके अनुरूप कार्य करे। आगममें तो यहाँतक लिखा है—

"जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति॥"

अर्थात् अन्तरात्मा अपने आत्म तत्त्वके यथार्थ स्वरूपको जानता हुआ भी तथा शरीरादि पर पदार्थोंसे अपनेको भिन्न अनुभव करता हुआ भी पूर्व बहिरात्मावस्थामें "शरीर आत्मा है" इस संस्कारके द्वारा फिर भी भ्रान्तिको प्राप्त हो जाता है। अनादि कालसे अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धि थी। दैव बलसे जब इसे अन्तरात्माका वोध हो गया पश्चात् वही वासना जो अनादि कालसे थी उसके संस्कार बलसे फिर भी भ्रान्तिको प्राप्त हो जाता है अतः उसको फिर भी इस ओर लगानेका प्रयत्न करना उचित है। आचार्य उसे उपदेश देते हैं—

"अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क रुष्यामि क तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यहम्॥"

जिस कालमें यह अपने पदसे विचलित हो जावे उस समय अन्तरात्मा यह विचार करता है कि "यह दृश्यमान पदार्थ इन्द्रिय गोचर हो रहा है वह अचेतन है और जो चेतन पदार्थ है वह दृश्यमान नहीं है अर्थात् अदृश्य है। मैं किसमें रोष करूँ और किसमें सन्तोष करूँ। मध्यस्थ होना ही मुझे श्रेयस्कर है।" जो रोष तोषको जाननेवाला है वह तो दर्शनका विषय ही नहीं और जो दर्शनका विषय है वह रोष तोषको

जानता नहीं अतः रोष तोष करना व्यर्थ है। जब बड़े-बड़े आचार्य महाराजोंने विचलित आत्माओंको अपने दिव्योपदेशों द्वारा मोक्ष-मार्गमें स्थितकर उनका उपकार किया तब हम लोगोंको भी उचित है कि वर्तमानमें अपने सजातीय संज्ञी मनुष्योंको सुमार्गमें लाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस अङ्ग की व्यापकता संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मात्र तक जानना चाहिये। केवल जो हमारी जातिके हैं या जो धर्मके पालनेवाले हैं, वहीं तक इसकी सीमा नहीं। जो कोई भी अन्याय मार्गमें जाता हो उसे उस मार्गसे रोककर आत्म-धर्मपर लाना चाहिये, क्योंकि धर्म किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, जो भी आत्मा विभाव परिणामों को त्याग दे और आत्माका जो निरपेक्ष स्वाभाविक परिणमन है उसे जानकर तद्रूप हो जावे वही इस धर्मका पात्र है। आजकल बहुतसे सङ्कीर्ण हृदय इस व्यापक धर्मको व्याप्य बनाने की चेष्टा करते हैं, यद्यपि उनके प्रयत्नसे ऐसा हो नहीं सकता परन्तु अल्पज्ञ लोग उसे उन्हींका धर्म मानने लगते हैं, अतः इस आत्म धर्मको जो व्यापक है, हमारा धर्म है, ऐसा रूप नहीं देना चाहिये। क्योंकि यह तो प्राणीमात्रका धर्म है तब प्रत्येक आत्मा इस धर्मका अधिकारी है।

एक आँखों देखी—

मैं जब बनारसमें अध्ययन करता था तब भेलूपुरामें रहता था। वहाँ पर जो मन्दिरका माली था उसे भगत-भगतके नामसे पुकारते थे। वह जातका कोरी था। परन्तु हृदयका बहुत ही स्वच्छ था, दया तो उसके हृदयमें गङ्गाके प्रवाहकी तरह बहती थी। मन्दिरमें जब साफ करनेको जाता था, सर्व प्रथम श्री जिनेन्द्रदेवके दर्शन करता था और यह प्रार्थना

करता था—"हे भगवन्! मुझे ऐसी सुमति दो कि मेरे स्वप्नमें भी पर अपकारके परिणाम न हों तथा निरन्तर दयाके भाव रहें। और कुछ नहीं चाहता।" यही उसका प्रतिदिनका कार्य था।

एक दिनकी बात है कि चार आदमी (जिनमें ३ ब्राह्मण और १ नाई था) मन्दिरमें आये। धर्मशालामें ठहर गये, भगतजीसे बोले—"भगतजी! हम बहुत भूखे हैं तुम हमको रोटी दो।" वह बोला—"हम जातिके कोरी हैं, हमारी रोटी आप कैसे खाओगे?" वह बोले—"आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति" आपत्तिकालमें लोक मर्यादा नहीं देखी जाती। हमारे तो प्राण जारहे हैं तुम धर्म-कर्मकी बात कर रहे हो!" यह कहना सर्वथा अनुचित है, यदि हमारे प्राण बच गये तब हम फिर प्रायश्चित्तादि कर धर्म-कर्मकी चर्चा करने लगेंगे। अब विशेष वात करनेकी आवश्यकता नहीं। इस वर्ष दुर्भिक्ष पड़ गया, हमारे यहाँ कुछ अन्न नहीं हुआ। इससे हम लोगोंने कुटुम्ब त्यागकर परदेश जानेका निश्चय कर लिया। चार दिनके भूखे हैं या तो रोटी दो या मना करो कि जाओ यहाँ रोटी नहीं तो अन्यत्र जाकर भीख माँगकर अपने प्राण बचायेंगे।" भगतने कहा—"महाराज! यह आधा सेर गुड़ है आप लोग पानी पीवें। मैं बाजार जाकर आटा लाता हूँ।" वे लोग कुएँपर पानी पीने लगे। भगतने अपनी स्त्रीसे कहा—"आगी तैयार करो मैं बाजारसे आटा लाता हूँ।" उसने आगी तैयार की, भगत तीन सेर आटा और बैंगन लाये, उन लोगोंने आनन्दसे रोटी खाई और भगतजीसे कहा कि तुमने हमारा महान् उपकार किया। पश्चात् उन चारों आदमियोंको काम मिल गया। एक माहके बाद वह अपने-अपने

घर चले गये और भगतसे यह व्रत ले गये कि हम लोग निर-न्तर आजीवन परोपकार करेंगे। कहनेका तात्पर्य यह कि भगतने उन चार मनुष्योंका स्थितीकरण किया।

एक आप बीती—

यह तो मनुष्योंकी बात है, अब एक कथा आप बीती सुनाता हूँ और वह है हिंसक जन्तुकी, जिसकी रक्षा बाईजीने की। कथा इसप्रकार है—

"सागरमें हम कटरा धर्मशालामें रहते थे, उसमें एक बिल्लीने प्रसव किया। दैवात् वह मर गई और उसके बच्चे भी मर गये। एक बालक बच गया, परन्तु माँके मरनेसे और दुग्धादिके न मिलनेसे दुर्बल होगया। मैं बाईजीके पास आया और एक पीतलके वर्तनमें दूध लाकर उस बिल्लीके बच्चेके सामने रख दिया और वह दूध पीकर बोलने लगा। बाईजी भी आगई। हमसे कहने लगीं—"बेटा! क्या करते हो?" मैंने कहा—"बाईजी! इसकी माँ मर गई। यह तड़पता था। मुझे उसकी यह दशा देखकर दया आगई। अतः आपसे दूध लाकर उसको पिला दिया, क्या बेजा बात हुई?" बाईजी बोलीं—"ठीक है परन्तु यह हिंसक जन्तु है, कभी तुम इसी पर रुष्ट हो जाओगे। संसार है, हम और तुम किस-किसकी रक्षा करेंगे? अपने योग्य काम करना चाहिये।" मैंने कहा—"जो हो हम तो इसे दूध पिलावेंगे।" मैंने उसे एक माह तक दूध पिलाया। एक दिनकी बात है कि एक छोटा चूहा उस बच्चेके सामने आगया। उसने दूधको छोड़ झट उसे मुखसे पकड़ लिया। इस क्रियाको देखकर मैं उसे थप्पड़ मारनेकी चेष्टा करने लगा। बाईजीने मेरा हाथ पकड़ लिया और मेरे गालपर

एक थप्पड़ मारा तथा बोलीं—"बेटा ! यह क्या करता है ? उसका कोई अपराध नहीं। वह तो स्वभावसे हिंसक है, उसका मुख्यतया मांस ही आहार है, तू क्यों दुःखी होता है ? तूने विवेकशून्य काम किया, उसका पश्चात्ताप करके प्रायश्चित्त करना चाहिये न कि पापके भागी बनना चाहिये। मनुष्यको उचित है कि अपने पदके विरुद्ध कदापि कोई कार्य न करे। यही कारण है कि दयालु आदमी हिंसक जन्तुओंको नहीं पालते। अस्तु, भविष्यमें ऐसा न करना। अथवा इसका यह अर्थ नहीं कि हिंसक जीवोंपर दया ही न करना। जिस दिन वह बच्चा मर रहा था उस दिन तूने जो उसे दूध दिया, कोई बुरा काम नहीं किया परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके पालनेका एक व्यसन बना लो। लोग औषधालय खोलते हैं, उसमें यह नियम नहीं होता कि कसाईको दवा नहीं देना चाहिये, देनेवालेका अभिप्राय प्राणियोंका रोग चला जाय, यही रहता है। रोग जानेके बाद वह क्या करेंगे, इस ओर दृष्टि नहीं जाती।"

यह तो बाईजीका उपदेश था। अन्तमें वह बिल्लीका बालक उस दिनसे जहाँ मेरेको देखता था, भाग जाता था। और जब मैं भोजन करके अपने स्थानपर चला जाता था तब वह बाईजीके पास आकर बैठ जाता था और म्याऊँ-म्याऊँ करने लगता था। बाईजी उसे दूधमें रोटी भिगोकर एक स्थानपर रख देतीं थीं। वह बच्चा खाकर चला जाता था। पश्चात् फिर दूसरे दिन भोजनके समय आकर बाईजीसे रोटी लेकर खाता और चला जाता। जब बाईजी सागरसे बरुआसागर चली जाती थीं तब एक दिन पहलेसे वह भोजन नहीं करता था तथा जिस दिन बाईजी रेल पर

जाती थीं तब बाईजीका ताँगा जबतक न चले तबतक खड़ा रहता था और जब ताँगा चलने लगे तब वह फिर लौट आता था, पर हमारे पास कभी भी नहीं आता था। जब बाईजी बरुआसागरसे आजातीं तब बाईजीके पास आजाता था। एक दिन वह दूध रोटी नहीं खाने लगा। बाईजीने बहुत कहा, नहीं खाया। दो दिन कुछ नहीं खाया। बाईजी उसे णमोकार मन्त्र सुनाने लगीं। प्रतिदिन णमोकार मन्त्र सुनकर नीचे चला जाता था। तीसरे दिन उसने णमोकार मन्त्र सुनते-सुनते प्राण छोड़ दिये। मरकर कहाँ गया, हम नहीं जानते परन्तु इतना जानते हैं कि बाईजीको वह अपना रक्षक समझता था, क्योंकि बाईजीने उसकी रक्षा की थी। हमारी थप्पड़से हमें रक्षक नहीं मानता था। कहनेका तात्पर्य यह है कि पशु भी अपना स्थिती-करण करनेवालेको समझते हैं, अतः पशुओंमें जब यह ज्ञान है तब मनुष्यका तो कहना ही क्या है। इसलिये मानवोंका स्थितीकरण सम्यग्दर्शनका एक प्रमुख अङ्ग है।

भगवान् महावीर

समय—

विहार प्रान्तके कुन्दनपुर नृपति सिद्धार्थकी आँखोंका तारा, त्रिशलाका दुलारा बालक महावीर, कौन जानता था मूकोंका संरक्षक, विश्वका कल्याण पथदर्शक बनेगा ?

ईसवी सन्के ५९८ वर्ष पूर्व जब भगवान् श्री पार्श्वनाथके निर्वाण पश्चात् कोई धर्म प्रवर्तक न रहा, स्वार्थी जन अपनी स्वार्थ साधनाके लिये अपनी ओर, अपने धर्मकी ओर दूसरों को आकर्षित करनेके लिए यज्ञ बलि वेदियोंमें जीवोंको जला देना भी धर्म बताने लगे, अश्वमेध, नरमेध जैसे हिंसात्मक कार्योंको भी स्वर्ग और मोक्षका सीधा मार्ग कहकर जीवोंको भुलावेमें डालने लगे, संसार श्मशान प्रतीत होने लगा, एक रक्षककी ओर जनता आशा भरी दृष्टि लिए देखने लगी, यही वह समय था जब भगवान् महावीरने भारत वसुन्धराको अपने जन्मसे सुशोभित किया था।

बाल जीवन—

सर्वत्र आनन्द छागया, राज परिवार एक कुल दीपक और विश्व एक अलौकिक दिव्य ज्योति प्राप्तकर अपने आपको धन्य समझने लगा। बालक महावीर दोयज चन्द्रके समान बढ़ते

हुए दुःखातुर संसारको त्राण देनेके लिए विद्याभ्यास और अनेक कलाओंके पारगामी एवं कुशल संरक्षकके रूपमें दुनियाके सामने आये। अवस्थाके साथ उनके दया दाक्षिण्यादि गुण भी युवावस्थाको प्राप्त हो रहे थे। परन्तु अपनी सुन्दरता, युवावस्था, विद्या और कलाओंका उन्हें कभी अभिमान नहीं हुआ!

श्री वीर प्रभुने बाल्यावस्थासे लेकर ३० वर्ष घर ही में बिताये और उन वर्षोंको अविरत अवस्था हीमें व्यय किया। श्री वीर प्रभु बाल-ब्रह्मचारी थे अतः सबसे कठिन व्रत जो ब्रह्मचर्य है उन्होंने अविरतावस्थामें ही पालन किया। क्योंकि संसारका मूल कारण स्त्री विषयक राग ही है। इस राग पर विजय पाना उत्कृष्ट आत्माका ही काम है। वास्तवमें वीर प्रभुने इस व्रतका पालन कर संसारको दिखा दिया—"यदि कल्याण करना इष्ट है तब इस व्रतको पालो। इस व्रतको पालनेसे शेष इन्द्रियोंके विषयोंमें स्वयमेव अनुराग कम हो जाता है।"

आदर्श ब्रह्मचारी—

वीर प्रभुने अपने बाल-जीवनसे हमको यह शिक्षा दी कि—"यदि अपना कल्याण चाहते हो तो अपनी आत्माको पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे और ज्ञान परिणतिको पर पदार्थोंमें उपयोगसे रक्षित रखो।" बाल्यावस्थासे ही वीर प्रभु संसारके विषयोंसे विरक्त थे क्योंकि सबसे प्रबल संसारमें स्त्री विषयक राग है अतः उस रागके बस होकर यह आत्मा अन्धा हो जाता है। जब पुंवेदका उदय होता है तब यह जीव स्त्री सेवन की इच्छा करता है। प्रभुने अपने पितासे कह दिया—"मैं इस

संसारके कारण विषय सेवनमें नहीं पड़ना चाहता।" पिताने कहा—"अभी तुम्हारी युवावस्था है अतः दैगम्बरी दीक्षा अभी तुम्हारे योग्य नहीं। अभी तो सांसारिक कार्य करो पश्चात् श्री आदिनाथ स्वामीकी तरह विरक्त हो जाना।" श्री वीर प्रभुने उत्तर दिया—"पहलेसे कीचड़ लगाया जावे, पश्चात् जलसे उसे धोया जावे यह मैं उचित नहीं समझता। विषयोंसे कभी आत्म तृप्ति नहीं होती। यह विषय तो खाज खुजानेके सदृश हैं। प्रथम तो यह सिद्धान्त है कि पर पदार्थका परिणमन पर-में हो रहा है, हमारा परिणमन हममें हो रहा है। उसे हम अपनी इच्छाके अनुकूल परिणमन नहीं करा सकते। इसलिये उससे सम्बन्ध करना योग्य नहीं है। जो पदार्थ हमसे पृथक् हैं उन्हें अपनाना महान् अन्याय है। अतः जो परकी कन्या हमसे पृथक् है उसे मैं अपना बनाऊँ यह उचित नहीं। प्रथम तो हमारा आपका भी कोई सम्बन्ध नहीं। आपकी जो आत्मा है वह भिन्न है, मेरी आत्मा भिन्न है। इसमें यही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आप कहते हैं विवाह करो, मैं कहता हूँ वह सर्वथा अनुचित है। यह विरुद्ध परिणमन ही हमारे और आपके बीच महान् अन्तर दिखा रहा है। अतः विवाहकी इस कथाको त्यागो। आत्म कल्याणके इच्छुक मनुष्यको चाहिये कि वह अपना जीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक व्यतीत करे। और उस जीवनका सदुपयोग ज्ञानाभ्यासमें करे। क्योंकि उस ब्रह्मचर्य व्रतके पालनेसे हमारी आत्मा रागपरिणति—जो अनन्त संसारमें रुलाती है, उससे बच जाती है। यह तो अपनी दया हुई और उस राग परिणतिसे जो अन्य स्त्रीके साथ सहवास होता है वह भी जब हमारी राग परिणतिमें फँस जाती है तब उस स्त्रीका जीव भी अपनेको इस राग द्वारा अनन्त संसारमें

फँसा लेता है इसलिए दूसरेके फँसानेमें भी हम ही कारण होते हैं। इस प्रकार दो जीव इस राग व्यालके लक्ष्य हो जाते हैं। दोनोंका घात हो जाता है अतः जिसने इस ब्रह्मचर्य व्रतको पाला उसने दो जीवोंको संसार बन्धनसे बचा लिया और यदि आदर्श उपस्थित किया तो अनेकोंको बचा लिया।"

वैराग्यकी ओर---

कुमार महावीरकी अवस्था ३० वर्षकी थी। जब माता-पिताने पुनः पुनः विवाहका आग्रह किया, राज्याभार ग्रहण करनेका अभिप्राय व्यक्त किया तब उन्होंने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—"यह संसार बन्धनका मुख्य कारण है, इसको मैं अत्यन्त हेय समझता हूँ। जब मैंने इसे हेय माना तब यह राज्य सम्पदा भी मेरे लिये किस कामकी? अब मैं दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करूँगा। जब मैं रागको ही हेय समझता हूँ तब ये जो रागके कारण हैं वे पदार्थ तो सदा हेय ही हैं। वास्तवमें अन्य पदार्थ न तो हेय हैं और न उपादेय हैं क्योंकि वे तो पर वस्तु हैं न वह हमारे हित कर्ता हैं, न वह हमारे अहित कर्ता ही हैं। हमारी रागद्वेष परिणति जो है उसमें हित कर्ता तथा अहित कर्ता प्रतीत होते हैं। वास्तवमें हमारे साथ जो अनादि कालसे रागद्वेषका सम्बन्ध हो रहा है वही दुखदाई है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है, देखना-जानना है, उसमें जो रागद्वेष मोहकी कलुषता है वही संसारकी जननी है। आज हमारे यह निश्चय सफल हुआ कि इन पर पदार्थोंके निमित्तसे रागद्वेष होता है। उस रागद्वेषके निमित्तको ही त्यागना चाहिए। निश्चय सफल हुआ इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शनके सहकारसे ज्ञान तो सम्यक् था ही और बाह्य

पदार्थोंसे उदासीनता भी थी परन्तु चारित्रमोहके उदयसे उन पदार्थोंको त्यागनेमें असमर्थ थे परन्तु आज उन अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान कषायके अभावमें वे पदार्थ स्वयं छूट गये। छूटे तो पहले ही थे क्योंकि भिन्न सत्तावाले थे केवल चारित्र मोहके उदयमें सम्यग्ज्ञानी होकर भी उनको छोड़नेमें असमर्थ थे। यद्यपि सम्यग्ज्ञानी होनेसे भिन्न समझता था। आज पितासे कह दिया—"महाराज ! इस संसारका एक अणु मात्र भी पर द्रव्य मेरा नहीं"—क्योंकि—

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥"

अर्थात् मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शनमय हूं सदा अरूपी हूँ। इस संसारमें परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। मेरे ज्ञानमें पर पदार्थ दर्पणकी तरह बिम्ब रूपसे प्रतिभासित हो रहे हैं, यह ज्ञानकी स्वच्छता है। अर्थात् ज्ञानकी स्वच्छताका उदय है इससे ज्ञेयका अंश मुझमें नहीं आता—यह दृढ़ निश्चय है। जैसे दर्पण जो रूपी पदार्थ है, उसकी स्वच्छता स्वपराव-भासिनी है। जिस दर्पणके समीपभागमें अग्नि रक्खी है उस दर्पणमें अग्निके निमित्तको पाकर उसकी स्वच्छता-में अग्नि प्रतिबिम्बित हो जाती है। परन्तु क्या दर्पणमें अग्नि है ? नहीं, जब दर्पणमें अग्नि नहीं तब अग्निकी ज्वाला और उष्णता भी दर्पणमें नहीं। तब यह मानना पड़ेगा कि अग्निकी ज्वाला और उष्णता तो अग्निमें ही हैं, दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब दिख रहा है वह दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। इसी तरह ज्ञानमें जो ये बाह्य पदार्थ भासमान हो रहे हैं वे बाह्य पदार्थ नहीं। बाह्य पदार्थकी सत्ता तो बाह्य पदार्थोंमें

। ज्ञानमें जो भासमान हो रहा है वह ज्ञानका ही परिणमन हो रहा है।"

साधना के पथ पर—

पश्चात् श्री वीर प्रभुने संसारसे विरक्त हो दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। सभी प्रकारके बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर दिया। बालोंको घासफूसकी तरह निर्ममताके साथ उखाड़ फेंका। ग्रीष्मकी लोल-लपटें, मूसलाधार वर्षा और शिशिरका झंझावात सहन कर प्रकृति पर विजय प्राप्त की, और अनेक उपसर्गोंको जीतकर अपने आप पर विजय प्राप्त की। उन्होंने बताया—"वास्तवमें यह परिग्रह नहीं, मूर्च्छाके निमित्त होनेसे इन्हें उपचारसे परिग्रह कहते हैं। क्योंकि धन-धान्य आदि पदार्थ पर वस्तु हैं। कभी आत्माके साथ इनका तादात्म्य हो सकता है, इन्हें अपना मानता है, यह मानना परिग्रह है। उसमें ये निमित पड़ते हैं इससे इन्हें निमित्त कारणकी अपेक्षा परिग्रह कहा है, परमार्थसे तो क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद, और मिथ्यात्व ये आत्माके चतुर्दश अन्तरङ्ग परिग्रह हैं। इनमें मिथ्यात्व भाव तो आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका विकार है जो दर्शनमोहनीय कर्मके विपाकसे होता है। शेष जो क्रोधादि तेरह प्रकारके भाव हैं वे भाव चारित्रमोहनीय कर्मके विपाकसे होते हैं। इन भावोंके होनेसे आत्मामें अनात्मीय पदार्थमें आत्मीय बुद्धि होती है अर्थात् जब आत्मामें मिथ्यात्व भावका उदय होता है उस कालमें इसका ज्ञान विपर्यय हो जाता है। यद्यपि ज्ञानका काम जानना है वह तो विकृत नहीं होता अर्थात् जैसे कामला रोगवाला नेत्रसे देखता

तो है ही परन्तु शुक्ल वस्तुको पीला देखेगा। जैसे शंख शुक्ल वर्ण है वह शंख ही देखेगा परन्तु पीत वर्ण ही देखेगा। एवं मिथ्यादर्शनके सहवाससे ज्ञानका जानना नहीं मिटेगा परन्तु विपरीतता आ जावेगी। जैसे मिथ्यादृष्टि जीव शरीरको आत्मा रूपसे देखेगा अर्थात् शरीरमें शरीरत्व धर्म है पर यह अज्ञानी (मिथ्याज्ञानी) जीव उसमें आत्मत्व धर्मका भान करेगा। परमार्थसे शरीर आत्मा नहीं होगा और न तीन काल में आत्मा हो सकता है, क्योंकि वह जड़ पदार्थ है उसमें चेतना नहीं परन्तु मिथ्यात्वके उदयसे "शरीरमें आत्मा है" यह बोध हो ही जाता है। तब इसका ज्ञान मिथ्या कहलाता है। इसका कारण बाह्य प्रमेय है। बाह्य प्रमेय वैसा नहीं जैसा इसके ज्ञानमें आ रहा है। तब यह सिद्ध हुआ कि बाह्य प्रमेय की अपेक्षासे यह मिथ्या ज्ञान है। अन्तरङ्ग प्रमेयकी अपेक्षा तो विषय बाधित न होनेसे उस कालमें उसे मिथ्या नहीं कह सकते। अतएव न्यायमें विकल्पसिद्ध जहाँ पर होता है वहाँ पर सत्ता या असत्ता ही साध्य होता है। अनादिकालसे यह जीव इसी चक्करमें फँसा हुआ अपने निज स्वरूपसे बहिष्कृत हो रहा है। इसका कारण यही मिथ्याभाव है। क्योंकि मिथ्या दृष्टिके ज्ञानमें "शरीर ही आत्मा है" ऐसा प्रतिभास हो रहा है। उस ज्ञानके अनुकूल वह अपनी प्रवृत्ति कर रहा है। जब शरीरको आत्मा मान लिया तब जो शरीरके उत्पादक हैं उन्हें अपने माता-पिता और जो शरीरसे उत्पन्न हैं उनमें अपने पुत्र पुत्री तथा जो शरीरसे रमण करनेवाली है उसे स्त्री मानने लगता है। तथा जो शरीरके पोषक धनादिक हैं उन्हें अपनी सम्पत्ति मानने लगता है, उसीमें राग परणति कर उसीके सञ्चय करनेका उपाय करता है। इसमें जो बाधक कारण होते

हैं उनमें प्रतिकूल राग द्वेष द्वारा उनके पृथक् करनेकी चेष्टा करता है। मूल जड़ यही मिथ्यात्व है जो शेष तेरह प्रकारके परिग्रहकी रक्षा करता है। इन्हीं चतुर्दश प्रकारके परीग्रहसे ही तुमको संसारकी विचित्र लीला दिख रही है यदि यह न हो तो यह सभी लीला एक समय में विलीन हो जावे।"

दिव्योपदेश—

दैगम्बरी दीक्षाको अवलम्बन कर बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण कर केवलज्ञानके पात्र हुए। केवलज्ञानके बाद भगवान्ने दुःखातुर संसारको दिव्योपदेश दिया—

"संसारमें दो जातिके पदार्थ हैं—१ चेतन, २ अचेतन। अचेतनके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। चार पदार्थोंको छोड़कर जीव और पुद्गल यह दो पदार्थ प्रायः सबके ज्ञानमें आ रहे हैं। जीव नामक जो पदार्थ है वह प्रायः सभीके प्रत्यक्ष है, स्वानुभव गम्य है। सुख दुःखका जो प्रत्यक्ष होता है वह जिसे होता है वही आत्मा है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, यह प्रतीति जिसे होती है वही आत्मा है और जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन्द्रियके द्वारा जाना जाता है वह रूपादि गुणवाला है—उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं। इन दोनों द्रव्योंकी परस्परमें जो व्यवस्था होती है उसीका नाम संसार है। इसी संसारमें यह जीव चतुर्गति सम्बन्धी दुखोंको भोगता हुआ काल व्यतीत करता है। परमार्थसे जीव द्रव्य स्वतन्त्र है और पुद्गल स्वतन्त्र है—दोनोंकी परिणति भी स्वतन्त्र है। परन्तु यह जीव अज्ञानवश अनादि कालसे पुद्गलको अपना मान अनन्त संसारका पात्र हो रहा है। आत्मामें देखने जाननेकी शक्ति है परन्तु यह जीव उस शक्ति

का यथार्थ उपयोग नहीं करता अर्थात् पुद्गलको अपना मानता है, अनात्मीय शरीरको आत्मा मानकर उसकी रक्षाके लिये जो जो यत्न किया करता है वे यत्न प्रायः संसारी जीवोंके अनुभवगम्य होते हैं। इसलिये परमार्थसे देखा जाय तो कोई किसीका नहीं। इससे ममता त्यागो। ममताका त्याग तभी होगा जब इसे पहले अनात्मीय जानोगे। जब इसे पर समझोगे तब स्वयमेव इससे ममता छूट जायगी। इससे ममता छोड़ना ही संसार दुःखके नाशका मूल कारण है। परन्तु इसे अनात्मीय समझना ही कठिन है। कहनेमें तो इतना सरल है कि "आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, शरीर रूप रस गन्ध स्पर्शवाला है। जब आत्माका शरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है तब शरीरमें कोई चेष्टा नहीं होती" परन्तु भीतर बोध हो जाना कठिन है। अतः सर्व प्रथम अनात्मीय पदार्थों से अपनेको भिन्न जाननेके लिये तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना चाहिए। आत्मज्ञान हुए बिना मोक्षका पथिक होना कठिन है, कठिन क्या असम्भव भी है। अतः अपने स्वरूपको पहिचानो। तथा अपने स्वरूपको जानकर उसमें स्थिर होओ। यही संसारसे पार होनेका मार्ग है।

"सबसे उत्तम कार्य दया है। जो मानव अपनी दया नहीं करता वह परकी भी दया नहीं कर सकता। परमार्थ दृष्टि से जो मनुष्य अपनी दया करता है वही परकी दया कर सकता है।

"इसी तरह तुम्हारी जो यह कल्पना है कि हमने उसको सुखी कर दिया, दुखी कर दिया, इनको बँधाता हूँ, इनको छुड़ाता हूँ, वह सब मिथ्या है। क्योंकि यह भावका व्यापार परमें नहीं होता। जैसे—आकाशके फूल नहीं होते वैसे ही

तुम्हारी कल्पना मिथ्या है। सिद्धान्त तो यह है कि अध्यवसानके निमित्तसे बँधते हैं और जो मोक्षमार्गमें स्थित हैं वह छूटते हैं तुमने क्या किया ? यथा तुमने क्या यह अध्यवसान किया कि इसको बन्धनमें डालूँ और इसको बन्धनसे छुड़ा दूँ ? नहीं अपितु यहाँ पर—"एनं बन्धयामि" इस क्रियाका विषय तो "इस जीवको बन्धनमें डालूँ" और "एनं मोचयामि" इसका विषय–"इस जीवको बन्धनसे मुक्त करा दूँ" यह है। और उन जीवोंने यह भाव नहीं किये तब वह जीव न तो बँधे और न छूटे और तुमने वह अध्यवसान नहीं किया अपितु उन जीवोंमें एकने सराग परिणाम किये और एकने वीतराग परिणाम किये तो एक तो बन्ध अवस्थाको प्राप्त हुआ और एक छूट गया। अतः यह सिद्ध हुआ कि परमें अकिंचित्कर होनेसे यह अध्यवसान भाव स्वार्थक्रियाकारी नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि हम अन्य पदार्थका न तो बुरा कर सकते हैं और न भला कर सकते हैं। हमारी अनादि कालसे जो यह बुद्धि है कि "वह हमारा भला करता है, वह बुरा करता है, हम पराया भला करते हैं, हम पराया बुरा करते हैं, स्त्री पुत्रादि नरक ले जानेवाले हैं, भगवान स्वर्ग मोक्ष देनेवाले हैं।" यह सब विकल्प छोड़ो। अपना जो शुभ परिणाम होगा वही स्वर्ग ले जानेवाला है और जो अपना अशुभ परिणाम होगा वही नरकादि गतियोंमें ले जानेवाला है। परिणाममें वह पदार्थ विषय पड़ जावे यह अन्य बात है। जैसे ज्ञानमें ज्ञेय आया इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञेयने ज्ञान उत्पन्न कर दिया। ज्ञान ज्ञेयका जो सम्बन्ध है उसे कौन रोक सकता है ? तात्पर्य यह कि पर पदार्थके प्रति राग द्वेष करनेका जो मिथ्या अभिप्राय हो रहा है उसे त्यागो; अनायास निज मार्गका लाभ हो

जावेगा। त्यागना क्या अपने हाथकी बात है? नहीं, अपने ही परिणामोंसे सभी कार्य होते हैं।

"जब यह जीव स्वकीय भावके प्रति पक्षीभूत रागादि अध्यवसायके द्वारा मोहित होता हुआ सम्पूर्ण पर द्रव्योंको आत्मामें नियोग करता है तब उदयागत नरकगति आदि कर्मके वश, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, पाप, पुण्य जो कर्म-जनित भाव हैं उन रूप अपनी आत्माको करता है। अर्थात् निर्विकार जो परमात्म तत्त्व है उसके ज्ञानसे भ्रष्ट होता हुआ "मैं नारकी हूँ, मैं देव हूँ" इत्यादि रूप कर उदयमें आये हुए कर्मजनित विभाव परिणामोंकी आत्मामें योजना करता है। इसी तरह धर्माधर्मास्तिभाव जीव, अजीव, लोक, अलोक ज्ञेय पदार्थोंको अध्यवसानके द्वारा उनकी परिच्छित्ति विकल्प रूप आत्माको व्यपदेश करता है।

"जैसे घटाकार ज्ञानको घट ऐसा व्यपदेश करते हैं वैसे ही धर्मास्तिकाय विषयक ज्ञानको भी धर्मास्तिकाय कहना असंगत नहीं। यहाँ पर ज्ञानको घट कहना यह उपचार है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जब यह आत्मा पर पदार्थोंको अपना लेता है तब यदि आत्म-स्वरूपको निज मान ले तब इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? स्फटिकमणि स्वच्छ होता है और स्वयं लालिमा आदि रूप परिणमन नहीं करता किन्तु जब उसे रक्त स्वरूप परिणत जपापुष्पका सम्बन्ध हो जाता है तब वह उसके निमित्तसे लालमादि रंग रूप परिणत हो जाता है। एतावता उसका लालिमादि रूप स्वभाव नहीं हो जाता। निमित्तके अभावमें स्वयं सहजरूप हो जाता है। इसी तरह आत्मा स्वभावसे रागादि रूप नहीं है परन्तु रागादि कर्मकी प्रकृति जब उदयमें आती है उस कालमें उसके निमित्तको

पाकर यह रागादि रूप परिणमनको प्राप्त हो जाता है। इसका स्वभाव भी रागादि नहीं है क्योंकि नैमित्तिक भाव है परन्तु फिर भी इसमें होता है। जब निमित्त नहीं होता तब परिणमन नहीं करता। यहाँ पर आत्मा, चेतन पदार्थ है यह निमित्तको दूर करने की चेष्टा नहीं करता, किन्तु आत्मामें जो रागादिक हैं उन्हींको दूर करनेका उद्योग करता है और यह कर भी सकता है क्योंकि यह सिद्धान्त है—"अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कुछ नहीं कर सकता। अपनेमें जो रागादिक हैं वे अपने ही अस्तित्वमें हैं, आप ही उसका उपादान कारण है। जिस दिन चाहेगा उसी दिनसे उनका ह्रास होने लगेगा!" उन रागादिकका मूल कारण मिथ्यात्व है जो सभी कर्मोंको स्थिति अनुभाग देता है। उसके अभावमें शेष कर्म रहते हैं। परन्तु उनको बल देनेवाला मिथ्यात्व जानेसे वह सेनापति विहीनकी तरह हो जाते हैं। यद्यपि सेनामें स्वयं शक्ति है, परन्तु वह शक्ति उत्साहहीन होनेसे शूरकी शूरताकी तरह अप्रयोजक होती रहती है। इसी तरह मोहादिक कर्मके बिना शेष सात कर्म अपने कर्योंमें सेनापति जो मोह था उसका अभाव हो गया उस कर्मका नाश करनेवाला यही जीव है जो पहले स्वयं चतुर्गति भवावर्तमें गोता लगाता था आज स्वयं अपनी शक्तिका विकास कर अनन्त सुखामृतका पात्र हो जाता है। जब ऐसी वस्तु मर्यादा है तब आप भी जीव हैं यदि चाहें तो इस संसारका नाश कर अनन्त सुखके पात्र हो सकते हैं।"

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शनका अर्थ आत्मलब्धि है। आत्माके स्वरूपका ठीक-ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। आत्मलब्धि के सामने सब सुख धूल है। सम्यग्दर्शन आत्माका महान् गुण है। इसीसे आचार्योंने सबसे पहले उपदेश दिया—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र मोक्षका मार्ग है।" आचार्यकी करुणा बुद्धि तो देखो, मोक्ष तब हो जब कि पहले बन्ध हो। यहाँ पहले बन्धका मार्ग बतलाना था फिर मोक्ष का, परन्तु उन्होंने मोक्ष-मार्गका पहले वर्णन इसीलिये किया है कि ये प्राणी अनादि कालसे बन्धजनित दुःखका अनुभव करते-करते घबड़ा गये हैं, अतः पहले उन्हें मोक्षका मार्ग बतलाना चाहिये। जैसे कोई कारागारमें पड़कर दुखी होता है, वह यह नहीं जानना चाहता कि मैं कारागारमें क्यों पड़ा? वह तो यह जानना चाहता है कि मैं इस कारागारसे कैसे छूटूँ? यही सोचकर आचार्यने पहले मोक्षका मार्ग बतलाया है।

सम्यग्दर्शनके रहनेसे विवेक-शक्ति सदा जागृत रहती है, वह विपत्तिमें पड़ने पर भी कभी न्यायको नहीं छोड़ता। रामचन्द्रजी सीताको छुड़ानेके लिये लङ्का गये थे। लङ्काके चारों ओर उनका कटक पड़ा था। हनुमान आदिने रामचन्द्र

जीको खबर दी कि रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है, यदि उसे विद्या सिद्ध हो गई तो फिर वह अजेय हो जायगा। आज्ञा दीजिये जिससे कि हम लोग उसकी विद्याकी सिद्धिमें विघ्न डालें।

रामचन्द्रजीने कहा—"हम क्षत्रिय हैं, कोई धर्म करे और हम उसमें विघ्न डालें, यह हमारा कर्तव्य नहीं है।"

हनुमानने कहा—"सीता फिर दुर्लभ हो जायँगी।"

रामचन्द्रजीने जोरदार शब्दोंमें उत्तर दिया—"एक सीता नहीं दशों सीताएँ दुर्लभ हो जायें, पर मैं अन्याय करनेकी आज्ञा नहीं दे सकता।"

रामचन्द्रजीमें इतना विवेक था, उसका कारण उनका विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन था।

सीताको तीर्थ-यात्राके बहाने कृतान्तवक्र सेनापति जङ्गलमें छोड़ने गया, उसका हृदय वैसा करना चाहता था क्या ? नहीं; वह स्वामीकी आज्ञा परतन्त्रतासे गया था। उस समय कृतान्तवक्रको अपनी पराधीनता काफी खली थी। जब वह निर्दोष सीताको जङ्गलमें छोड़ अपने अपराधकी क्षमा माँग वापस आने लगता है तब सीताजी उससे कहती हैं—"सेनापति ! मेरा एक सन्देश उनसे कह देना। वह यह कि जिस प्रकार लोकापवादके भयसे आपने मुझे त्यागा, इस प्रकार लोकापवादके भयसे धर्मको न छोड़ देना।"

उस निराश्रित अपमानित दशामें भी उन्हें इतना विवेक बना रहा। इसका कारण क्या था ? उनका सम्यग्दर्शन। आज कलकी स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनाती और अपने समानताके अधिकार बतलाती। इतना ही नहीं, सीताजी जब नारदजीके आयोजन द्वारा व कुशलके साथ अयोध्या

वापस आते हैं, एक वीरतापूर्ण युद्धके बाद पिता-पुत्रका मिलाप होता है, सीताजी लज्जासे भरी हुई राजदरबारमें पहुंचती हैं, उन्हें देखकर रामचन्द्रजी कह उठते हैं—"तुम विना शपथ दिये, विना परीक्षा दिये यहाँ कहाँ ?"

सीताने विवेक और धैर्यके साथ उत्तर दिया—"मैं समझी थी कि आपका हृदय कोमल है पर क्या कहूँ ? आप मेरी जिस प्रकार चाहें शपथ लें।"

रामचन्द्रजीने कहा—"अग्निमें कूदकर अपनी सचाईको परीक्षा दो।"

बड़े भारी जलते हुए अग्निकुण्डमें सीताजी कूदनेको तैयार हुईं। रामचन्द्रजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं कि सीता जल न जाय।"

लक्ष्मणजीने कुछ रोषपूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया—"यह आज्ञा देते समय नहीं सोचा ? वह सती हैं, निर्दोष हैं, आज आप उनके अखण्ड शीलकी महिमा देखिये।"

उसी समय दो देव केवलीकी वन्दनासे लौट रहे थे, उनका ध्यान सीताजीका उपसर्ग दूर करनेकी ओर गया। सीताजी अग्निकुण्डमें कूद पड़ीं, कूदते ही सारा अग्निकुण्ड जलकुण्ड बन गया ! लहलहाता कोमल कमल सीताजीके लिये सिंहासन बन गया। पुष्पवृष्टिके साथ "जय सीते ! जय सीते !" के नादसे आकाश गूँज उठा ! उपस्थित प्रजाजनके साथ राजा रामके भी हाथ स्वयं जुड़ गये, आँखोंसे आनन्दके अश्रु बरस उठे, गद्गद् कण्ठसे एकाएक कह उठे—"धर्मकी सदा विजय होती है, शील व्रतकी महिमा अपार है।"

रामचन्द्रजी के अविचारित वचन सुनकर सीताजी को संसारसे वैराग्य हो चुका था, पर "निःशल्यो व्रती" व्रती

को निःशल्य होना चाहिये। इसलिये उन्होंने दीक्षा लेनेसे पहले परीक्षा देना आवश्यक समझा था। परीक्षामें वह पास हो गईं।

रामचन्द्रजी ने उनसे कहा—"देवि! घर चलो, अब तक हमारा स्नेह हृदयमें था पर लोक-लाजके कारण आँखोंमें आ गया है।"

सीताजी ने नीरस स्वरमें कहा—"नाथ! यह संसार दुःखरूपी वृक्षकी जड़ है, अब मैं इसमें न रहूँगी। सच्चा सुख इसके त्यागमें ही है।"

रामचन्द्रजीने बहुत कुछ कहा—"यदि मैं अपराधी हूं तो लक्ष्मणकी ओर देखो, यदि यह भी अपराधी है तो अपने बच्चों लव-कुशकी ओर देखो और एक बार पुनः घरमें प्रवेश करो।" पर सीताजी अपनी दृढ़तासे च्युत नहीं हुईं। उन्होंने उसी समय केश उखाड़ कर रामचन्द्रजीके सामने फेंक दिये और जङ्गलमें जाकर आर्या हो गईं। यह सब काम सम्यग्दर्शनका है, यदि उन्हें अपने आत्म-बल पर विश्वास न होता तो वह क्या यह सब कार्य कर सकती थीं? कदापि नहीं!

अब रामचन्द्रजी का विवेक देखिये जो रामचन्द्र सीताके पीछे पागल हो रहे थे, वृक्षोंसे पूछते थे कि क्या तुमने मेरी सीता देखी है? वही जब तपश्चर्यामें लीन थे सीताके जीव प्रतीन्द्रने कितने उसपर्ग किए पर वह अपने ध्यानसे विचलित नहीं हुये। शुक्ल ध्यान धारण कर केवली अवस्थाको प्राप्त हुए।

सम्यग्दर्शनसे आत्मामें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट होते हैं जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं। यदि आपमें यह गुण प्रकट हुये हैं तो समझ लो कि

हम सम्यग्दृष्टि हैं। कोई क्या बतलायगा कि तुम सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि। अप्रत्याख्यानावरण कषायका संस्कार छह माहसे ज्यादा नहीं चलता। यदि आपके किसीसे लड़ाई होने पर छह माहके बाद तक बदला लेनेकी भावना रहती है तो समझ लो अभी हम मिथ्यादृष्टि हैं। कषायके असंख्यात लोक प्रमाण स्थान हैं उनमें मनका स्वरूप यों ही शिथिल हो जाना प्रशम गुण है। मिथ्यादृष्टि अवस्थाके समय इस जीवकी विषय कषायमें जैसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है वैसी सम्यग्दर्शन होने पर नहीं होती। यह दूसरी बात है कि चारित्रमोहके उदयसे वह उसे छोड़ नहीं सकता हो पर प्रवृत्तिमें शैथिल्य अवश्य आ जाता है।

प्रशमका एक अर्थ यह भी है जो पूर्वकी अपेक्षा अधिक ग्राह्य है—"सद्यः कृतापराधी जीवों पर भी रोष उत्पन्न नहीं होना" प्रशम कहलाता है। बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रामचन्द्रजी ने रावण पर जो रोष नहीं किया था वह इसका उत्तम उदाहरण है।

प्रशम गुण तब तक नहीं हो सकता जब तक अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी क्रोध विद्यमान है। उसके छूटते ही प्रशम गुण प्रकट हो जाता है। क्रोध ही क्या अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी मान माया लोभ—सभी कषाय प्रशम गुणके घातक हैं।

संसार और संसारके कारणोंसे भीत होना ही संवेग है। जिसके संवेग गुण प्रकट हो जाता है वह सदा आत्मामें विकारके कारणभूत पदार्थोंसे जुदा होनेके लिये छटपटाता रहता है।

सब जीवोंमें मैत्री भावका होना ही अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि जीव सब जीवोंको समान शक्तिका धारी अनुभव करता

है। वह जानता है कि संसारमें जीवकी जो विविध अवस्थाएं हो रही हैं उनका कारण कर्म है, इसलिये वह किसीको नीचा-ऊँचा नहीं मानता वह सबमें समभाव धारण करता है।

संसार, संसारके कारण, आत्मा और परमात्मा आदिमें आस्तिक्य भावका होना ही आस्तिक्य गुण है। यह गुण भी सम्यग्दृष्टिके ही प्रकट होता है, इसके बिना पूर्ण स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके लिये उद्योग कर सकना असम्भव है।

ये ऐसे गुण हैं जो सम्यग्दर्शनके सहचारी हैं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषायके अभावमें होते हैं।

मोह महाविष

१ मोह मदारी--

मनुष्यका मोह बड़ा प्रबल होता है। यह सारा संसार मोहका ठाट है। यदि मोह न होय तो आया करो आस्रव, वह कभी भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता। जिनेन्द्र भगवान् जब १३ वें गुणस्थान (सयोगकेवली) में चारों घातिया कर्मोंका नाशकर चुकते हैं तब वहाँ योग रह जाता है और योगसे कर्मोंका आस्रव होता है परन्तु मोहनीय कर्मका अभाव होनेसे वे कभी भी बँधते नहीं, क्योंकि आस्रवको आश्रय देनेवाला जो मोह कर्म था उसका वे भगवान् सर्वथा नाश कर चुके हैं। अरे, यदि गारा नहीं, तो ईंटोंको चुनते चले जाओ, कभी भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होंगी। इसको दृष्टान्तपूर्वक यों समझना चाहिए कि जैसे कीचड़ मिश्रित पानी है, उसमें कतक फल डाल दिया तो गंदला पानी नीचे बैठ गया और ऊपर स्वच्छ जल हो गया। उसे नितराकर भाजनान्तर अर्थात् स्फटिकमणिके वर्तनमें रखनेसे गँदलापन तो नहीं होगा, किन्तु उसमें जो कम्पन होगा अर्थात् लहरें उठेंगी वह शुद्ध ही तो होगीं, सो योग हुआ करो। योग-शक्ति उतनी घातक नहीं, वह केवल परिस्पन्द करती है। यदि मोहकी कलुषता चली जाय, तब वह स्वच्छतामें उपद्रव नहीं कर सकती, और उस वन्धको जिसमें स्थिति और अनुभाग होता

है नहीं कर सकती, इसलिए अबन्ध है। और वस्तु-स्थिति भी ऐसी ही है कि जिस समय आत्माके अन्तरंगसे मोह-रूप पिशाच निकल जाता है, तो और शेष अघातिया कर्म जली जेवरीवत् रह जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि इन सब कर्मोंमें जबरदस्त कर्म मोहनीय ही है। यही कम मनुष्योंको नाना नाच नचाता है।

२—मोह मदिरा—

एक कोरी था। वह मदिरामें मस्त हुआ कहीं चला जा रहा था। उधरसे हाथीपर बैठा हुआ राजा आ रहा था। कोरीने कहा 'अबे, हाथी बेचता है।' राजा बड़ा क्रोधित हुआ और मन्त्रीसे झल्लाकर कहा 'यह क्या बकता है?' मन्त्री तुरन्त समझ गया और विनयपूर्वक बोला महाराज! यह नहीं बोलता। इस समय मदिरा बोलती है, और जैसे तैसे समझा बुझाकर राजाको महलोंमें ले गया। दूसरे दिन सभामें कोरीको बुलाकर राजाने पूछा—"क्यों? हाथी लेता है।" उसने कहा—"अन्न-दाता मैंने कब कहा था? आप राजा हो और मैं एक गरीब आदमी हूँ। आजीविकाका निर्वाह ही तो कठिनतासे कर पाता हूँ। मैं क्या आपका हाथी खरीद सकता हूँ? आप न्यायप्रिय हो, मेरा न्याय करो!" राजाने मन्त्रीकी ओर देखा। मन्त्री बोला—'महाराज? मैंने तो पहिले ही कहा था कि यह नहीं बोलता इस समय मदिरा बोलती है।' राजा बड़ा आश्चर्य चकित हुआ। वैसे ही हम भी मोहरूपी मदिरा पीकर मतवाले हुए झूम रहे हैं।

३—मोहकी दीवालपर मनोरथका महल—

हम नाना प्रकारके मनोरथ करते हैं। अरे, उनमेंसे एक मनोरथ मुक्तिका भी सही। वास्तवमें हमारे सब मनोरथ

बालूके मकान (बच्चोंके घरघूले) ढह जाते हैं, यह सब मोहोदयकी विचित्रता है।

दीवाल गिरीकी महल भी गया, मोह गला कि मनोरथ भी समाप्त हो गया। हम रात्रि दिन पापाचार करते हैं और भगवानसे प्रार्थना करते हैं कि भगवान हमारे पाप क्षमा करो। पाप करो तुम भगवान क्षमा करें–यह भी कहींका न्याय है? कोई पाप करे और कोई क्षमा करे। उसका फल उसहीको भुगतना पड़ेगा। भगवान तुम्हें कोई मुक्ति नहीं पहुंचा देंगे। मुक्ति जाओगे तुम अपने पुरुषार्थ द्वारा। यदि विचार किया जाय तो मनुष्य स्वयं ही कल्याण कर सकता है।

एक पुरुष था। उसकी स्त्रीका अकस्मात् देहान्त होगया। वह बड़ा दुखी हुआ। एक आदमीने उससे कहा अरे, 'बहुतोंकी स्त्रियां मरती हैं, तू इतना बेचैन क्यों होता है? वह बोला तुम समझते नहीं हो। उसमें मेरी शुभ बुद्धि लगी है इसलिए मैं दुखी हूँ। दुनियाँकी स्त्रियाँ मरती हैं तो उनसे मेरी मुहब्बत नहीं,– इसहीमें मेरा ममत्व था। उसी समय दूसरा बोला 'अरे' तुझमें जब अहंबुद्धि है तभी तो ममबुद्धि करता है। यदि तेरेमें अहंबुद्धि न हो तो ममबुद्धि किससे करे? अहंबुद्धि और ममबुद्धिको मिटाओ, पर अहंबुद्धि और ममबुद्धि जिसमें होती है, उसे तो जानो। देखो लोकमें वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है जो अपना नाम, अपने गांवका नाम, अपने व्यवसायका नाम न जानता हो उसी तरह परमार्थसे वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आपको न जानता हो। इसलिए अपनेको जानो। तुम हो जभी तो सारा संसार है। आंख मीचलो तो कुछ नहीं। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पड़ा रह जाता है और फिर पञ्चेन्द्रियां अपने अपने विषयोंमें क्यों नहीं प्रवर्तती? इससे

मालूम पड़ता है कि उस आत्मामें एक चेतनाका ही चमत्कार है। उस चेतनाको जाने बिना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ हैं।

मोहमें ही इन सबको हम अपना मानते हैं। एक आदमीने अपनी स्त्रीसे कहा कि अच्छा बढ़िया भोजन बनाओ हम अभी खानेको आते हैं, जरा बजार हो आएँ। मार्गमें चले तो वहां मुनिराजका समागम होगया। उपदेश पाते ही वह भी मुनि हो गया। और वही मुनि बनकर आहारके वास्ते वहां आगए। तो देखो उस समय कैसा अभिप्राय था, अब कैसे भाव होगए। चक्रवर्तीको ही देखो। वह छः खंडको मोहमें ही तो पकड़े है। जब वैराग्यका उदय होता है तब सारी विभूतिको छोड़ वनवासी बन जाता है। देखो उस इच्छाको ही तो वह मिटा देता है कि 'इदम् मम' यह मेरी है। इच्छा मिट गई, अब छः खंडको बताओ कौन संभाले? जब ममत्व ही न रहा तब उसका क्या करे? इच्छाको घटाना ही सर्वस्व है। दान भी यदि इच्छा करके दिया तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज ही नहीं है। तुम कदाचित् यह जानते हो कि यदि हम दान न देवें तो उसे कौन दे? अरे उसके अनुकूलता होगी तो दूसरा दान दे देगा फिर ममत्व बुद्धि रखके क्यों दान देता है? वास्तवमें कोई किसीकी वस्तु नहीं है। व्यर्थ ही अभिमान करता है। अभिमानको मिटा करके अपनी चीज मानना महाबुद्धिमत्ता है। कौन बुद्धिमान दूसरेकी चीजको अपनी मानकर कब तक सुखी रह सकता है? जो चीज तुम्हारी है उसीमें सुख मानो।

उस केवलज्ञानीकी इतनी बड़ी महिमा है कि जिसमें तीनों लोकोंकी चराचर वस्तुएँ भासमान होने लगती हैं। हाथीके पैरमें बताओ किसका पैर नहीं समाता—ऊँटका घोड़ेका सभीका पैर समा जाता है। अतः उस ज्ञानकी बड़ी शक्ति है। और वह ज्ञान

तभी पैदा होता है जब हम अपनेको जानें। परपदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अपनेमें संयोजित करें। देखो समुद्रसे मानसून उठते हैं और बादल बनकर पानीके रूपमें बरस पड़ते हैं। पानीका यह स्वभाव होता है कि वह नीचेकी ओर ढलता है। पानी जब बरसता है तब देखो रावी, चिनाव, झेलम, सतलज होता हुआ फिर उसी समुद्रमें जा गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोहमें जो यत्र तत्र चतुर्दिक भ्रमण कर रहा था, ज्योंही मोह मिटा त्यों ही वही आत्मा अपनेमें सिकुड़कर अपनेमें ही समा जाता हैं। यों ही केवलज्ञान होता है। ज्ञानको सब पर पदार्थोंसे हटाकर अपनेमें ही संयोजित कर दिया—बस केवलज्ञान हो गया। और क्या है ?

महापराक्रमी मोह—

मोहमें मनुष्य पागल हो जाता है। इसके नशेमें यह जीव क्या क्या उपहासास्पद कार्य नहीं करता ? देखिए, जब आदिनाथ भगवान्ने ८३ लाख पूर्व गृहस्थीमें रहकर बिता दिए तब इन्द्रने विचार किया कि किसी प्रकार प्रभुको भोगोंसे विरक्त करना चाहिए जिससे अनेक भव्य प्राणियोंका कल्याण हो। इस कारण उसने एक नीलाञ्जना अप्सरा—जिसकी आयु बहुत ही अल्प थी—सभामें नृत्य करनेके वास्ते खड़ी करदी। ज्योंही वह अप्सरा नृत्य करते करते विलय गई त्योंही इन्द्रने तुरन्त उसी वेश-भूषाकी दूसरी अप्सरा खड़ी करदी ताकि प्रभुके भोगोंमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे। परन्तु भगवान् तीन ज्ञान संयुक्त तुरन्त उस दृश्यको ताड़ गए और मनमें उसी अवसर पर वैराग्यका चिन्तवन करने लगे "धिक्कार है इस दुःखमय संसारको, जिसमें रहकर मनुष्य भोगोंमें बेसुध होकर किस प्रकार

अपनी स्वल्प आयु व्यर्थ व्यतीत कर देता है।" इतना चिन्तवन करता था कि उसी समय लौकान्तिक देव (वैराग्यमें सने हुए जीव) आए और प्रभुके वैराग्यकी दृढ़ताके हेतु स्तुति करते हुए बोले-हे प्रभो! धन्य हैं आपको, आपने यह अच्छा विचार किया। आप जयवंत होओ। हे त्रिलोकीनाथ! आप चारित्रमोहके उपशमसे वैराग्यरूप भए हो। आप धन्य हो।" इस प्रकार स्तवन कर वे लौकान्तिक देव तो अपने स्थानको चले जाते हैं, परन्तु मोही इन्द्र फिर प्रभुको आभूषण पहिनाने लगता है और पालकी सजाने लगता है। अरे, जब विरक्त करवानेका ही उसका विचार था तो फिर आभूषणोंके पहिनानेकी क्या आवश्यकता थी। विरक्त भी करवाता जारहा है और आभूषण भी पहिनाता जा रहा है। यह भी क्या न्याय है? पर मोही जीव बताओ और क्या करे। मोहमें तो मोहकीसी बातें सूझती हैं उसमें ऐसा ही होता है।

संसार चक्रचालक मोह—

वास्तवमें यदि देखा जाय तो विदित हो जायगा कि जगतका चक्र केवल एक मोहके द्वारा घूम रहा है। यदि मोह क्षीण हो जाय तो आज ही जगतका अन्त आ जाय। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे रेहटकी चक्की। एक आठ पहियोंकी चक्की होती है। उसको खींचनेवाले दो बैल होते हैं और उनको चलानेवाला मनुष्य होता है। उसी तरह मनुष्य है मोह और वे दोनों बैल हैं राग-द्वेष। उनसे यह अष्ट-कर्मोंका संसार बना है जिससे चतुर्गति रूप संसारमें यह प्राणी भटकता है।

मनुष्य शेख-चिल्लीसी नाना प्रकारकी कल्पनाएँ किया करता है। यह सब मोहके उदयकी बलवत्ता है। जहाँ मोह नहीं

है वहां एक भी मनोरथ नहीं रह जाता। अतः 'मोहकी कथा अकथनीय और शक्ति अजेय है।

मोहका प्रपञ्च ही अखिल संसार है। आप देखिए, आदिनाथ स्वामीके दो ही तो स्त्रियाँ थीं नन्दा और सुनन्दा। उन दोनोंको त्यागकर वनमें भागना पड़ा। क्या घरमें नहीं रह सकते थे। अरे, क्या घरमें कल्याण नहीं कर सकते थे? नहीं। स्त्रियोंका जो निमित्त था। कल्याण कैसे कर लेते, मोहकी सत्ता जो विद्यमान है। वह तो चुलबुली मचाए दे रहा है। कहता है--"जाओ वनमें, छः महीनेका मौन धारण करो, एक शब्द नहीं बोल सकते!" और छः महीनेका अन्तराय हुआ यह सब क्या मोहकी महिमा नहीं है! अच्छा वहाँ घरमें तो दो ही स्त्रियाँ छोड़ीं और समवशरणमें हजारों लाखों स्त्रियाँ बैठी हैं, तब वहाँ से नहीं भागे? क्यों? इसका कारण यही कि यहाँ मोह नहीं था। और वहाँ मोह था, तो जाओ वनमें धरो छः महीनेका योग। अतः मोहकी विलक्षण महिमा है।

मोहसे ही संसारका चक्र चल रहा है। यह कर्म ही मनुष्योंपर सर्वत्र अपना रौब गालिब किए हुए है। इसके नशेमें मनुष्य क्या २ वेढव कार्य नहीं करता। यहाँ तक कि प्राणान्त तक कर लेता है। जब स्वर्गमें इन्द्र अपनी सभामें देवोंसे यह कह रहा था कि इस समय भरतक्षेत्रमें राम और लक्ष्मणके समान स्नेह और किसीका नहीं। उसी समय एक देव उनकी परीक्षाके हेतु अयोध्यामें आया। वहाँ उसने ऐसी विक्रिया व्याप्त की, कि नगर का सारा जनसमूह शोकाकुल दिखाई पड़ने लगा। नर-नारियोंका करुणा क्रन्दन नगरके प्रशान्त वातावरणको अशान्त करता हुआ आकाशमें प्रतिध्वनित होने लगा! प्रतीत होता था श्री रामचन्द्रजीका देहावसान हो गया! जब यह भनक

लक्ष्मणजीके कर्णपुटमें पड़ी तो अचानक लक्ष्मणके मुखसे "हा राम !" भी पूर्ण नहीं निकला कि उनका प्राणान्त हो गया ! यह सब मोहकी विलक्षण महिमा ही है। यह ऐसा है, वैसा नहीं है, यह ऐसा पीछे है, वैसा पीछे नहीं था, ऐसा आगे है, वैसा आगे नहीं होगा, मोहमें ही करता है। यही मनुष्यका भयंकर शत्रु है। मोक्षमार्गसे विपरीत परिणमन कराता है। अतः यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो भूरिशः विकल्पजालोंको त्यागो। मोहको जैसे बने कम करनेका उद्यम करो। यदि पञ्चेन्द्रियके विषयोंके सेवनमें मोह कम होता है तो वह भी उपादेय है और यदि पूजा दानादि करनेमें मोह बढ़ता है तो वह भी उस दृष्टिसे हेय है। दुनियाँ मोह करे करने दो तुम कभी इसमें मत फँसो, कोई भी तुम्हें मोहमें न फँसा सके। सीताजीके जीवने सोलहवें स्वर्ग से आकर श्रीरामचन्द्रजीको कितना लुभाया पर वह मोहको नाशकर मोक्षको गए।

मोह-विषकी औषधि—

अतः इससे भिन्न अपनी ज्ञान स्वरूपी आत्माको जानो। 'तुष मास भिन्न' इतनेसे मुनिको आत्मा और अनात्माका भेद मालूम पड़ गया, देखलो केवली हो गये। द्वादशांगका तो यही सार है कि अपने स्वरूपको पहिचानो और उसमें अपनेको ऐसे रमालो जैसे नमककी डली पानी में घुल-मिल जाती है। उपयोगमें दत्तचित्त हो जाओ—यहाँ तक कि अपने तन-मनकी भी सुध-बुध न रहे। क्योंकि उपयोगका ही सारा खेल है। अपने उपयोगको कहीं न कहीं स्थिर रखना चाहिये। जिस मनुष्यका उपयोग डांवाडोल रहता है वह कदापि मोक्षमार्गमें प्रवर्तन नहीं कर सकता। एक मनुष्यने दूसरेसे कहा कि मेरा धर्ममें

मन नहीं लगता। तब दूसरेने पूछा कि तेरा मन कहाँ और किसमें लगता है ? वह बोला मेरा मन खानेमें अधिक लगता है। तो दूसरा कहता है—अरे कहीं पर लगता तो है। मैं कहता हूँ कि मनुष्यका आर्त-रौद्र परिणामोंमें ही मन लगा रहे। कहीं लगा तो रहता है। अरे, जिसका आर्त परिणामोंमें मन लगता है वही किसी दिन धर्ममें भी मन लगा सकता है। उपयोगका पलटना मात्र ही तो है। जैसा उपयोग अन्य कार्योंमें लगता है वैसा यदि आत्मा में लग जाय तो कल्याण होनेमें विलम्ब न लगे।

मोहजयी-महाविजयी—

वह अच्छा है यह जघन्य है, अमुक स्थान इसके उपयोगी है, अमुक अनुपयोगी है, कुटुम्ब बाधक है साधुवर्ग साधक है यह सर्व मोहोदयकी कल्लोलमाला है। मोहोदयमें जो कल्पनाएँ न हों, वे थोड़ी हैं। देखो, जब स्त्री पुरुषका विवाह होता है तब वह पुरुष स्त्रीसे कहता है कि मैं तुम्हारा जन्म पर्यन्त निर्वाह करूंगा, और वह स्त्री भी पुरुषसे कहती है कि मैं भी तुम्हारी जन्मपर्यन्त परिचर्या करूंगी। इस तरह जब विवाह हो जाता है तो घर छोड़कर विरक्त हो जाते हैं। स्त्री विरक्त हुई तो आर्यिका हो जाती है और पुरुषको विरक्तता हुई तो मुनि हो जाता है। तो अब बतलाइए कि वे विवाहके समय जो एक दूसरेसे वचनबद्ध हुए थे उसका निर्वाह कहां रहा ? इससे सिद्ध हुआ कि यह सब मोहनीय कर्मका प्रबल उदय था। जब तक वह कर्मोदय है तभी तक सारा परिवार और संसार है। जहाँ इस कर्मका शमन हुआ तो वही परिवार फिर बुरा लगने लगता है। जब सीताजीका लोकापवाद हुआ और रामने सीतासे अग्नि-परीक्षा

देनेको कहा और सीता अपने पतिकी आज्ञा शिरोधार्य कर जब अग्निकुण्डसे निष्कलंक हो, देवोंद्वारा अर्चित होती हैं तब सीताको संसार, शरीर और भोगोंसे अत्यन्त विरक्तता आजाती है। उस समय राम आकर कहते हैं कि हे सीते! तुम निरपराध हो, धन्य हो, देवों द्वारा पूजनीय हो। आज मेरे हृदयके आंसू नेत्रोंमें छलक आए हैं। प्रासादोंको चलकर पवित्र करो। अथवा अपने लक्ष्मणकी ओर दृष्टिपात करो। अथवा हनुमान पर करुणा करो जिसने संकटके समय सहायता पहुंचाई। अथवा अपने पुत्र लवांकुशकी ओर तो देखो। तब सीताजी कहती हैं "नाथ! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं? आप तो स्वयं ज्ञानी हैं। संसारसे आप विरक्त होते नहीं, और मेरे विरक्त होनेमें बाधा करते हैं! क्या विवेक चला गया?" मोहकी विडम्बनाको तो जरा अवलोकन कीजिए। एक दिन था जब सीता रावणके यहां रामके दर्शनार्थ खाना-पीना विसर्जन कर देती थी। आंसुओंसे सदा मुँह धोये रहती थी। रामके विवेक में विश्वास रखती थी। वही सीता रामसे कहती है "क्या विवेक चला गया?" कैसी विचित्र मोह माया है? राम जैसे महापुरुष भी इसके फन्देसे न बच सके! जब सीताजी हरी गईं तो पुरुषोत्तम रामजी उसके विरहमें इतने व्याकुल रहे, कि वृक्षोंसे पूछते हैं 'अरे तुमने कहीं हमारी सीता देखी है?' यही नहीं बल्कि वही पुरुषोत्तम रामजी श्रीलक्ष्मणके मृत शरीरको ६ मास लेकर सामान्य मनुष्योंकी तरह भ्रमण करते रहे। क्या यह मोहका जादू नहीं है? वाहरे मोह राजा! तूने सचमुच जगतको अपने वशवर्ती कर लिया। तेरा प्रभाव अचिन्त्य है। तेरी लीला भी अपरम्पार है। कोई भी तीन लोकमें ऐसा स्थान नहीं, जहां तूने अपनी विजय-पताका न फहराई हो। जब महारानी सीता और राम जैसे राजा महा-

पुरुषोंकी यह गति हुई तब अन्य रंक पुरुषोंकी क्या कथा ? धन्य है तू और तेरी विचित्र लीला ।

जिसने मोहपर विजय पाई वही सच्चा विजयी है, उसीकी डगमगाती जर्जर जीवन नैया संसार सागर पार होनेके सन्मुख है ।

सम्यग्दृष्टि

जिसको हेयोपादेयका ज्ञान होगया वही सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टिको आत्मा और अनात्मा का भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है। वह सकल बाह्य पदार्थोंको हेय जानने लगता है। पर पदार्थोंसे उसकी मूर्छा बिलकुल हट जाती है। यद्यपि वह विषयादिमें प्रवर्तन करता है परन्तु वेदनाका इलाज समझ कर। क्या करे, जो पूर्वबद्ध कर्म हैं उनको तो भोगना ही पड़ता है। हाँ, नवीन कर्मका बन्ध उस चालको उसके नहीं बंधता। हमको चाहिये कि हमने अज्ञानावस्थामें जो कर्म उपार्जन किये हैं, उनको हटानेका प्रयत्न न करें, बल्कि आगामी नूतन कर्मका बन्ध न होने दें। अरे जन्मान्तरमें जो कर्मोपार्जन किये गए हैं वे तो भोगने ही पड़ेंगे। चाहे रो करके भोगो, चाहे हँस करके। फल तो भोगना ही पड़ेगा, यह निश्चित है। यदि 'हाय हाय' करके भइया रोगकी शान्ति हो जाय तो उसे भी कर लो, परन्तु ऐसा नहीं होता। हाय हायकी जगह भगवान् भगवान् कहे और उस वेदनाको शान्तिसे सहन करले और ऐसा प्रयत्न करे जिससे आगे वैसा बन्ध न हो। हाय हाय करके होगा क्या? हम आपसे पूछते हैं इससे उल्टा कर्म बन्ध होगा। सो ऐसा हुआ जैसे किसी मनुष्यको ५००) रु० मय व्याजके देना था सो तो दे दिया ६००) रु० और कर्जा सिर

पर ले लिया। जैसा दिया वैसा न दिया। हमको पिछले कर्मोंकी चिन्ता न करनी चाहिये, बल्कि आगामी कर्मका संवर करे। अरे, जिसको शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना है वह नवीन शत्रुओंका आक्रमण रोक देवे और जो शत्रु गढ़में हैं वे तो चाहे जब जीते जा सकते हैं। इनकी चिन्ता न करे। चिन्ता करे तो आगामी नवीन बंधकी, जिससे फिर बन्धनमें न पड़े, और जो पिछले कर्म हैं वे तो रस देकर खिरेंगे ही, उनको शान्ति पूर्वक सहन करले। आगामी कर्म-बन्ध हुआ नहीं, पिछले कर्म रस देकर खिर गये। आगामी कर्जा लिया नहीं पिछला कर्जा अदा किया, चलो छुट्टी पाई। आगे आनेवाले कर्मोंके संवर करनेका यही तात्पर्य है।

सम्यग्दृष्टिका आत्मपरिणाम—

वेदकभाव—वेदनेवाला भाव और वेद्यभाव—जिसको वेदे इन दोनोंमें काल भेद है। जब वेदकभाव होता है तब वेद्य भाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता। क्योंकि जब वेदकभाव आता है तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है तब वेदकभाव किसको वेदे? और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है तब वेदक भावके बिना वेद्यको कौन वेदे? इसलिए ज्ञानी जन दोनोंको विनाशीक जान आप जाननेवाला ज्ञाता ही रहता है। अतः सम्यक्त्वीके कोई चालका बंध ही नहीं होता।

भोगों से अरुचि—

भोगोंमें मग्न होनेके अलावा और कुछ दिखता ही नहीं है। भोग भोगना ही मानों अपना लक्ष्य बना लिया है। हम समझते

हैं कि हम मोक्षमार्गमें लग रहे हैं पर यह मालूम ही नहीं कि नरक जानेकी नसैनी बना रहे हैं।

स्वास्थ्य वही, जो कभी क्षीण न हो। क्षीणताको प्राप्त हो वह स्वास्थ्य किस कामका? और स्वार्थी पुरुषोंके भोग भी विषम एवं क्षणभंगुर हैं। जब तक भोग भोगते हैं तब तक उसे सुख नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह सुख भी आतापका उपजानेवाला है; उसमें तृष्णारूपी रोग लगा हुआ है। अतः भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं मिल सकती। भोगोंसे तृप्ति चाहना ऐसा ही है जैसे अग्निको घीसे बुझाना। मनुष्य भोगोंमें मस्त हो जाता है और उसके लिये क्या २ अनर्थ नहीं करता। सम्यग्दृष्टिमें विवेक है वह भोगोंसे उदास रहता है—उनमें सुख नहीं मानता। वह स्वर्गादिककी विभूति प्राप्त करता है और नाना प्रकारकी विषय-सामग्री भी। पर अन्तमें देवोंकी सभामें यही कहता है कि कब मैं मनुष्ययोनि पाऊँ? कब भोगोंसे उदास होऊँ? और नाना प्रकारके तपश्चरोंका आचरण कर मोक्ष रमणी वरूँ? उसके ऐसी ही भावना निरन्तर बनी रहती है। और बताओ जिसकी ऐसी भावना निरन्तर बनी रहती है क्या उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती? अवश्यमेव होती है। इसमें सन्देह-को कोई स्थान ही नहीं।

हर्ष-विषादसे निवृत्ति—

अब कहते हैं कि जब सम्यग्दृष्टिको पर-पदार्थोंसे अरुचि हो जाती है तब घरमें क्यों रहता है? और कार्य क्यों करता है? इसका उत्तर यह है कि वह करना कुछ नहीं चाहता पर क्या करे, जो पूर्वबद्ध कर्म हैं उनके उदयसे करना पड़ता है। वह चाहता अवश्य है कि मैं किसी कार्यका कर्ता न बनूँ। उसकी पर पदार्थों-

से स्वामित्व बुद्धि हट जाती है पर जो अज्ञानावस्थामें पूर्वोपार्जित कर्म हैं उनके उदयसे लाचारीवश होकर घर-गृहस्थीमें रहकर उपेक्षा बुद्धिसे करना पड़ता है। वह अपनी आत्माका अनाद्यनन्त अचल स्वरूप देखकर तो प्रसन्न होता है, उसके अपार खुशी होती है, पर अज्ञानावस्थामें जो जन्मार्जित कर्म है उसका फल तो भोगना ही पड़ता है। वह बहुत चाहता है कि मुझे कुछ नहीं करना पड़े। मैं कब इस उपद्रवसे मुक्त हो जाऊँ? पर करना पड़ता है, चाहता नहीं है। उस समय उसकी दशा मरे हुए व्यक्तिके समान हो जाती हैं। उसको चाहे जितना साज शृंगार करो पर उसे कोई प्रयोजन नहीं। इसी भाँति सम्यक्त्वीको चाहे जितनी सुख दुखकी सामग्री प्राप्त हो जाय पर उसे कोई हर्ष विषाद नहीं।

भोगेच्छा से मुक्ति—

भोग तीन तरहका होता है—अतीत, अनागत और वर्तमान। सम्यग्दृष्टिके इन तीनोंमेंसे किसीकी भी इच्छा नहीं होती। अतीतमें जो भोग भोग लिया उसकी तो वह इच्छा ही नहीं करता। वह तो भोग ही चुका। अनागतमें वह वांछा नहीं करता कि अब आगे भोग भोगूँगा और प्रत्युत्पन्न कहिए वर्तमान में उन भोगोंको भोगनेमें कोई रागबुद्धि नहीं है। अतः इन तीनों कालोंमें पदार्थोंके भोगनेकी उसके सब प्रकारसे लालसा मिट जाती है। अतीतमें भोग चुका, अनागतमें वांछा नहीं और वर्तमानमें राग नहीं तो बतलाओ उसके बन्ध हो तो कहाँसे हो। क्या सम्यग्दृष्टि भोग नहीं भोगता? क्या उसके राग नहीं होता? राग करना पड़ता है पर राग करना नहीं चाहता। उसकी रागमें उपादेय बुद्धि मिट जाती है। वह रागको सर्वथा

हेय ही जानता है। पर क्या करे, प्रतिपक्षी कषाय जो चारित्र-मोह बैठा है उसका क्या करे? उसको उदासीनतासे सहन कर लेता है। उदयमें आओ और फल देकर खिर जाओ। फल देना बन्धका कारण नहीं है। अब क्या करे जो पूर्व-बद्ध कर्म है उसका तो फल उदयमें आएगा ही परन्तु उसमें राग द्वेष नहीं। यदि फल ही बन्धका कारण होता तो कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इससे मालूम हुआ कि राग द्वेष और मोह बन्धका कारण है।

कषाय और रागादिक में अरुचिवृत्ति—

योग और कषाय ये दो ही तो चीजें हैं उनमें योग बन्धका कारण नहीं कहा, बन्धका कारण बतलाया है कषाय। कषायसे अनुरंजित प्राणी ही बन्धको प्राप्त होता है। देखिए १३ वें गुणस्थानमें केवलीके योग होते हैं हुआ करो परन्तु वहाँ कषाय नहीं है इसलिए अबन्ध है। अब देखो, ईंट पर ईंट धरकर मकान तो बना लो जब तक उसमें चूना न हो। आटेमें पानी मत डालो देखें कैसे रोटी हो जायगी? अग्नि पर पानीसे भरी हुई बटलोई रक्खी है और खलबल खलबल भी हो रही है पर इससे क्या होता है—जबतक उसमें चावल न हों। एवं बाह्यमें समवसरण आदि विभूति है पर अन्तरंगमें कषाय नहीं है—तो बताओ कैसे बन्ध होगा? इससे मालूम पड़ा कि कषाय ही बन्धको करानेवाली है। सम्यग्दृष्टिको कषायोंसे अरुचि हो जाती है इसीलिए उसका रागरस वर्जनशील स्वभाववाला हो जाता है। सम्यक्त्वीको रागादिकोंसे अत्यन्त अरुचि हो जाती है। वह किसी पर-पदार्थकी इच्छा ही नहीं करता। इच्छा करे तो होता क्या है? वह अपनी चीज हो तब न। अपनी चीज

हो तो उसको इच्छा करे। इच्छाको ही वह परिग्रह मानता है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों को तो जुदा समझता ही है पर अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक हैं उनको भी वह हेय ही जानता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि वास्तवमें एक टंकोत्कीर्ण अपनी शुद्धात्माको ही अपनाता है। वह किन्हीं पर-पदार्थों पर दृष्टिपात नहीं करता, क्योंकि जिसके पास सूर्यका उजाला है, उसे दीपककी क्या आवश्यकता? उसकी केवल एक शुद्ध-दृष्टि ही रहती है। और संसारमें ही देखो—पाप-पुण्य, धर्म अधर्म और खान-पानके सिवाय है क्या? इसके अतिरिक्त और कुछ है तो बताओ। सब कुछ इसीमें गर्भित है।

सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों को तो जुदा समझता ही है पर अन्तरङ्ग परिग्रह जो रागादिक हैं उनको भी वह हेय जानता है। क्योंकि बाह्य वस्तुको अपना माननेका कारण अन्तरङ्गके परिणाम ही तो हैं। यदि अन्तरङ्गसे छोड़ दो तो वह तो छूटी ही है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता, वह उसके मूल कारणको देखता है। इसीलिये उसकी परणति निराली ही रहती है।

सम्यक्त्वी की श्रद्धा—

सूर्य पूर्वसे पश्चिममें भी उदित होने लगे परन्तु मनुष्यको अपनी श्रद्धा पर अटल रहना चाहिये। लोकापवादके कारण जब कृतान्तवक्र श्रीरामकी आज्ञासे सीता महारानीको वनमें ले गया, जहाँ नाना प्रकारके सिंह, चीते और व्याघ्र अपना मुँह बाए फिर रहे थे। सीता ऐसे भयंकर वनको देखकर सहम गई और बोली—"मुझे यहाँ क्यों लाए?"

कृतान्तवक्र कहते हैं—"महारानीजी! जब आपका लोका-

पवाद हुआ, तब रामने आपको वनमें त्यागनेका निश्चय कर लिया और मुझे यहाँ भेज दिया।"

उसी समय सीताजी कहती हैं "जाओ, रामसे जाकर कह देना कि जिस लोकापवादसे तुमने मुझे त्याग दिया, कहीं उसी लोकापवादके कारण तुम अपने धर्म श्रद्धानसे विचलित मत हो जाना !"

इसे कहते हैं श्रद्धान। सीताको अपना आत्मविश्वास था। शुद्धोपयोग प्राप्तिके लिये इसका बड़ा महत्त्व है। जब वह जान जाता है कि मोक्षका मार्ग यही है तब उसकी गाड़ी लाइन पर आ जाती है।

जिन लोगोंके पास सम्यक्त्व श्रद्धाका यह मंत्र नहीं प्राय वही लोग सोचते हैं—"क्या करें ? मोक्षमार्ग तलवारकी धार है मुनिव्रत पालना बड़ा कठिन है। परीषह सहना उससे कठिन है। तिलको ताड़ तो पहिले ही बना देते हैं, मोक्ष मन्दिरमें प्रवेश हो तो कैसे ? उस तरफ दृष्टिपात तो करें, उसके सन्मुख तो हों, फिर तो वहाँ तक पहुंचनेमें कोई संशय नहीं है कभी न कभी पहुंच ही जावेंगे। परन्तु उस तरफ दृष्टि हो तभी।

सम्यग्दृष्टिकी उस तरफ उत्कट अभिलाषा रहती है। उसकी श्रद्धा पूर्णरूपेण मोक्षके सन्मुख हो जाती है। रहा चारित्रमोह सो वह क्रमशः धीरे धीरे गल जाता है। वह उतना घातक नहीं जितना दर्शनमोह। जब फोड़ेमेंसे कीलो निकल गई तो घाव धीरे धीरे भर ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यको सर्व प्रथम अपनी श्रद्धाको सुधारनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

सम्यक्त्वी की प्रवृत्ति—

सम्यग्दृष्टि पिछले कर्मों की चिन्ता नहीं करता बल्कि आगामी

जो कर्म बँधनेवाले हैं उनका संवर करता है जिससे उसके उस चालका बन्ध नहीं होता। रहे पिछले कर्म सो उनको ऐसे भोग लेता है जैसे कोई रोगी अपनी वेदनाको दूर करनेके लिये कड़वी औषधिका सेवन करता है। तब विचारे रोगीको कड़वी औषधिसे प्रेम है या रोग निवृत्तिसे। ठीक यही हाल सम्यग्दृष्टिका चारित्रमोहके उदयसे होता है। वह अशुभोपयोगको तो हेय समझता ही है और शुभोपयोग-पूजा दानादि में प्रवृत्ति करता है उसको भी वह मोक्ष मार्गमें बाधक जानता है। वह विषयादिमें भी प्रवर्तन करता है १२ अन्तरङ्गसे यही चाहता है कि कब इस उपद्रवसे छुट्टी मिले? जेलखानेमें जेलर हन्टर लिए खड़ा रहता है, कैदी को सड़ाक सड़ाक मारता भी है और आज्ञा देता है कि 'चलो चक्की पीसो, बोझा उठाओ' आदि। तब वह कैदी लाचार हो उसी माफिक कार्य करता है पन्तु विचारो अन्तरंगसे यही चाहता है कि हे भगवन्! कब इस जेलखानेसे निकल जाऊँ। पर क्या करे, परवश दुःख भोगना पड़ता है। यही हाल सम्यग्दृष्टिका होता है। वह चरित्रमोहकी जोरावरीवश अशक्य हुआ गृहस्थीमें अवश्य रहता है पर जलसे भिन्न कमलकी तरह। यह सब अन्तरंगके अभिप्रायकी बात है। अभिप्राय निर्मल होना चाहिए। कोई भी कार्य करते समय अपने अभिप्रायको देखे कि उस समय कैसा अभिप्राय है? यदि वह अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात नहीं करता तो वह मनुष्य नहीं, पशु है। सबसे पहले अपने अभिप्रायको निर्मल बनाए। अभिप्रायोंके निर्मल बनानेमें ही अपना पुरुषार्थ लगा देवे। जिन जीवोंके निरन्तर निर्मल परिणाम रहते हैं वे नियमसे सद्गतिके पात्र होते हैं। हाँ तो सम्यग्दृष्टिके परिणाम निरन्तर निर्मल होते जाते हैं। वह कभी अन्यायमें प्रवृत्ति नहीं करता। अच्छा बताओ, जिसकी उपर्युक्त

जैसी भावना है वह काहेको अन्याय करेगा। अरे, जिसने रागको हेय जान लिया वह क्या रागके लिये अन्याय करेगा? जो विषयोंके त्यागनेका इच्छुक है वह क्या विषयोंके लिये दूसरोंकी गांठ काटेगा? कदापि नहीं। वह गृहस्थीमें उदासीनतासे रहता हुआ जब चारित्रमोह गल जाता है तब तुरन्त ही व्रतको धारण कर लेता है। भरत जी घर ही में वैरागी थे। उनको अन्तर्मुहूर्तमें ही केवलज्ञान प्राप्त होगया। इसका कारण यही कि इतनी विभूति होते हुए भी वह अलिप्त थे। किसी पदार्थ में उनकी आसक्ति नहीं थी। पर देखो भगवान्को वह यश प्राप्त नहीं। क्या वह वैरागी नहीं थे? अस्तु सम्यग्दृष्टिकी महिमा ही विलक्षण है, उसकी परिणति वही जानें, अज्ञानियोंको उसका भेद मालूम ही नहीं होता।

शुद्ध दृष्टि अपनी होनी चाहिए। बाह्य नाना प्रकारके आडम्बर किया करो, कुछ नहीं होता। गधोके सौ बच्चे होते हुए भी भार ढोती रहती है और सिंहनीके एक बच्चा होता हुआ भी निर्भय सोती रहती है।

एक मनुष्य था। वह हीरोंकी खानमें काम करता था। वह आदमी था तो लखपती, पर परिस्थितिवश गरीब हो गया था। एक दिन खदान में काम करते करते कुछ नहीं मिला, एक छोटी शिला मिल गई। वह उसे ले कर घर आया। उसकी स्त्री उस पर मसाला पीस लिया करती थी। एक दिन एक जौहरीको उसने निमंत्रण दिया। वह आया और शिलाको देखकर बोला तुम इसके सौ रुपये ले लो। वह आदमी अपनी स्त्रीसे पूछने गया। स्त्री बोली अरे बेच कर क्या करोगे? मसाला पीसनेके काम आ जाती है। वह सौ रुपये देता था अब बोला यह लो मुझसे १०००) रु० के गहने। इसे बेच डालो। वह आदमी जौहरीके पास आकर बोला स्त्री नहीं बेचने देती। मैं क्या करूँ। तब जौहरीने

कहा यह लो २०००) रु० अच्छा ३०००) रु० ले लो। वह समझ गया और उसने नहीं दी। उसने उसी समय सिलावटको बुलाकर उसके दो टुकड़े करवाये। टुकड़े करवाते ही हीरे निकल पड़े। मालामाल हो गया। तो देखो यह आत्मा कर्मोंके आवरण से ढका पड़ा है। वह हीरेकी ज्योति के समान है। जब वह निरावरण हो जाता है तो अपना पूर्ण प्रकाश विकीर्ण करता है। हीरेकी ज्योति भी उसके सामने कुछ नहीं। उस आत्माका केवल ज्ञायक स्वभाव ही है। सम्यग्दृष्टि उसी ज्ञायक स्वभावका अपना कर कर्मों के ठाटको कटाक्से उड़ाकर परात्मस्थिति तक क्रमशः पहुँच जाता है और सुखार्णवमें डूबा हुआ भी अघाता नहीं।

अब कहते हैं कि एक टंकोत्कीर्ण शुद्ध आत्मा ही पद है। इसके बिना और सब अपद हैं। वह शुद्ध आत्मा कैसा है? ज्ञानमय एवं परमानन्द स्वरूप है। ज्ञानके द्वारा ही संसारका व्यवहार होता है। ज्ञान न हो तो देख लो कुछ नहीं। यह वस्तु त्यागने योग्य है और यह ग्रहण करने योग्य है—इसकी व्यवस्था करानेवाला कौन है? एक ज्ञान ही तो है।

वास्तवमें अपना स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है। केवल देखना एवं जानना मात्र है। यदि देखने मात्र ही से पाप होता है तो मैं कहूँगा कि परमात्मा सबसे बड़ा पापी है, क्योंकि वह तो चराचर वस्तुओंको युगपत् देखता और जानता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि देखना और जानना पाप नहीं, पाप तो अन्तरंगका विकार है। यदि स्त्रीके रूपको देख लिया तो कोई हर्ज नहीं पर उसको देखकर राग करना यही पाप है। जो यह पर्देकी प्रथा चली, इसका मूल कारण यही कि लोगोंके हृदयमें विकार पैदा हो जाता था। इन लम्बे-लम्बे घूंघटोंमें क्या रक्खा है? आत्माका स्वरूप ही ज्ञाता दृष्टा है। नेत्र इन्द्रियका काम ही पदार्थों को

दिखाना है। दर्शक बनकर द्रष्टा बने रहो तो कुछ विशेष हानि नहीं किन्तु यदि उनमें मनोनीति कल्पना करना, राग करना तभी फंसना है। रागसे ही बन्ध है। परमात्माका नाम जपे जाओ "ॐ नमः वीतरागाय।" इससे क्या होता है। कोरा जाप मात्र जपने से उद्धार नहीं होता। उद्धार तो होता है परमात्माने जो कार्य किए—रागको छोड़ा—संसारको त्यागा, तुम भी वैसा ही करो। सीधी सादी सी बात है। दो पहलवान हैं। एकको तेलका मर्दन है दूसरेको नहीं। जब वे दोनों अखाड़ेमें लड़े तो एकको मिट्टी चिपक गई, दूसरेको नहीं। अतः रागकी चिकनाहट ही बन्ध करानेवाली है। देखो दो परमाणु मिले, एक स्कन्ध हो गया। अकेला परमाणु कभी नहीं बंधता। आत्माका ज्ञान गुण बन्धका कारण नहीं। बन्धका कारण उसमें रागादिककी चिकनाहट है।

संसारके सब पदार्थ जुदे जुदे हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थसे बंधता नहीं है। इस शरीरको ही देखो! कितने स्कन्धोंका बना हुआ है? जब स्कंध जुदे जुदे परमाणु मात्र रह जांय तो सब स्वतन्त्र हैं, अनादिनिधन हैं। केवल अपने माननेमें ही भूल पड़ी हुई है। उस भूलको मिटा दो, चलो छुट्टी पाई। और क्या धरा है? ज्ञानका काम तो केवल पदार्थोंको जतानामात्र है। यदि उस ज्ञानमें इष्टानिष्ट कल्पना करो, तो बताओ किसका दोष है? शरीरको आत्मा जान लो किसका दोष है? पर शरीर कभी आत्मा होता नहीं। जैसे बहुत दूर सीप पड़ी है और तुम उसे चांदी मान लो तो क्या सीप चांदी हो जायगी? वैसे ही शरीर कभी आत्मा होता नहीं। अपने विकल्प किया करो। क्या होता है? पदार्थ तो जैसेका तैसा ही है। लेकिन माननेमें ही गलती है कि 'इदं मम' यह मेरी है। उस

भूलको मिटा दो शरीरको शरीर और आत्माको आत्मा जानो यही तो भेद विज्ञान है। और क्या है ? बताओ।

अतः उस ज्ञायकस्वभावको वेदन करो। सोना जड़ है वह अपने स्वरूपको नहीं जानता। लेकिन आत्मा शुद्ध चैतन्य धातु-मय पिंड है, वह उसको जानता है। उस ज्ञायक स्वभावमयी आत्मामें जैसे जैसे विशेष ज्ञान हुआ वह उसके लिए साधक है या बाधक ? देखिए जैसे सूर्य मेघ-पटलोंसे आच्छादित था। मेघ-पटल जैसे जैसे दूर हुए वैसे वैसे उसकी ज्योति प्रगट होती गई। अब बताओ वह ज्योति जितनी प्रगट हुई वह उसके लिए साधक है या बाधक ? दरिद्रीके पास पांच रुपये आये वह उसके लिए साधक है या बाधक ? हम आपसे पूछते हैं। अरे, साधक ही है। वैसे ही इस आत्माके जैसे जैसे ज्ञानावरण हटे, मति श्रुतादि विशेष ज्ञान प्रकट हुए, वह उसके लिए साधक हो है। अतः ज्ञानार्जनका निरन्तर प्रयास करता रहे।

मनुष्योंको पदार्थोंके हटानेका प्रयत्न न करना चाहिये बल्कि उनमें राग द्वेषादिके जो विकल्प उठते हैं, उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करे। मान लिया, स्त्री खराब होती है ? नहीं हटी तो बेचैनी बढ़े। परन्तु उसे हटा सकना कठिन है ! अतः स्त्रीको नहीं हटा सकते तो मत हटाओ उसके प्रति जो तुम्हारी राग बुद्धि लगी है उसे हटानेका प्रयत्न करो। यदि राग बुद्धि हट गई तो फिर स्त्रीको हटानेमें कोई बड़ी बात नहीं है। पदार्थ किसीका बुरा भला नहीं करते। बुरा भलापन केवल हमारे अन्तरंग परिणामों पर निर्भर है। कोई पदार्थ अपने अनुकूल हुआ उससे राग कर लिया और यदि प्रतिकूल हुआ उससे द्वेष। किसीने अपना कहना मान लिया तो वाह वा, बड़ा अच्छा है और कदाचित् नहीं माना तो बड़ा बुरा है। दृष्टिसे विचारो

तो वह मनुष्य न तो बुरा है और न तो भला। वह तो केवल निमित्तमात्र है। निमित्त कभी अच्छे बुरे होते नहीं। यह तो उस मनुष्यके आत्माकी दुर्बलता है जो अच्छे बुरेकी कल्पना करता है। कोई कहता है—"स्त्री मुझे नहीं छोड़ती, पुत्र मुझे नहीं छोड़ता, क्या करूँ धन नहीं छोड़ने देता।" अरे मूर्ख, यों क्यों नहीं कहता कि मेरे हृदयमें राग है वह नहीं छोड़ने देता ? यदि इस रागको अपने हृदयसे निकाल दे तो देखें कौन तुझे नहीं छोड़ने देता ? कौन तुझे विरक्त होनेसे रोकता है ? अपने दोषको नहीं देखता। मैं रोगी हूँ ऐसा अनुभव नहीं करता। यदि ऐसा ही हो जाय तो संसारसे पार होनेमें क्या देर लगे ? यह पहले ही कह चुके हैं कि पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें हैं। कोई पदार्थ किसी पदार्थके आधीन नहीं, केवल मोही जीव ही सशंक हुआ उनमें इष्टानिष्टकी कल्पना कर अपने स्वरूपसे च्युत हो निरन्तर बँधता रहता है। अतः हमारी समझमें तो शान्तिका वैभव रागादिकोंके अभावमें ही है।

निर्भयता—

संसारमें सात भय होते हैं उनमेंसे सम्यग्दृष्टिको किसी प्रकारका भय नहीं।

१ लोकभय—

सम्यग्दृष्टिको इस लोकका भय नही होता। वह अपनी आत्माके चेतनालोकमें रहता है। और लोक क्या कहलाता है ? जो नेत्रोंसे सबको दीख रहा है। उसे इस लोकसे कोई मतलब नहीं रहता। वह तो अपने चेतना लोकमें ही रमण करता है। इस लोकमें भी भईया ! तभी भय होता है जब हम किसीकी चीज चुराएँ। परमार्थदृष्टिसे हम सब चोर हैं जो पर द्रव्योंको अपनाए हुए हैं। उन्हें अपना मान बैठते हैं। सम्यग्दृष्टि परमाणु

मात्रको अपना नहीं समझता। इसलिए उसे किसी भी प्रकार इस लोकका भय नहीं।

२ परलोकभय--

उसे स्वर्ग नरकका भय नहीं। वह तो अपने कर्तव्यपथ पर आरूढ है। उसे कोई भी उस मार्गसे च्युत नहीं कर सकता। वह तो नित्यानन्दमयी अपनी ज्ञानात्माका ही अवलोकन करता है। यदि सम्यक्त्वके पहले नरकायुका बन्ध कर लिया हो तो नरककी वेदना भी सहन कर लेता है। वह अपने स्वरूपको समझ गया है। अतः उसे परलोकका भी भय नहीं होता।

३ वेदनाभय--

वह अपनी भेद विज्ञानकी शक्तिसे शरीरको जुदा समझता है और वेदनाको समतासे भोग लेता है। जानता है कि आत्मामें तो कोई वेदना है ही नहीं इसलिए खेद-खिन्न नहीं होता। इस प्रकार उसे वेदनाका भय नहीं होता।

४ अरक्षाभय--

वह किसीको भी अपनी रक्षाके योग्य नहीं समझता। अरे इस आत्माकी रक्षा कौन करे! आत्माकी रक्षा आत्मा ही स्वयं कर सकता है। वह जानता है कि गढ़, कोट, किले आदि कोई भी यहाँ तक कि तीनों लोकोंमें भी इस आत्माका कोई शरण स्थान नहीं। गुफा, मसान, शैल, कोटरमें वह निशंक रहता है। शेर, चीते, व्याघ्रों आदिका भी वह भय नहीं करता। आत्माकी परपदार्थोंसे रक्षा हो ही नहीं सकती। अतः उसे अरक्षा भय भी नहीं।

५ अगुप्तिभय--

व्यवहारमें माल असबाबके लुट जानेका भय रहता है तो

सम्यक्त्वी निश्चयसे विचार करता है कि मेरा ज्ञान धन कोई चुरा नहीं सकता। मैं तो एक अखण्ड ज्ञानका पिण्ड हूं। जैसे नमक खारेका पिण्ड है। खारेके सिवाय उसमें और चमत्कार ही क्या है ? यह चेतना हर समयमें मौजूद बनी रहती है। ऐसा ज्ञानी अपनी ज्ञानात्माके ज्ञानमें ही चिन्तवन करता रहता है।

६ आकस्मिकभय—

वह किसी भी आकस्मिक विपत्तिका भय नहीं करता। भय तो तब करे जब भयकी आशंका हो। उसका आत्मा निरन्तर निर्भय रहता है। अतः उसे आकस्मिक भय भी नहीं होता।

७ मरणभय—

मरण क्या है ? दस प्राणोंका वियोग हो जाना ही तो मरण है। पाँच इन्द्रिय तीन बल, एक आयु और एक श्वासोच्छ्वास इनका वियोग होते ही मरण होता है। परन्तु वह अनाद्यनन्त, नित्योद्योत, और ज्ञानस्वरूपी अपनेको चिन्तवन करता है। एक चेतना ही उसका प्राण है। तीन कालमें उसका वियोग नहीं होता। अतः चेतनामयी ज्ञानात्माके ध्यानसे उसे मरणका भी भय नहीं होता। इसप्रकार सात भयोंमेंसे वह किसीप्रकारका भय नही करता। अतः सम्यग्दृष्टि पूर्णतया निर्भय है।

अङ्गपरिपूर्णता—

अब सम्यक्त्वके अष्ट अङ्गोंका वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि सम्यक्त्वीके ये अङ्ग भी पूर्णतया होते हैं।

१ निःशंकित अङ्ग—

उसे किसी प्रकारकी शंका नहीं होती। वह निधड़क होकर अपने ज्ञानमें ही रमण करता है। सुकौशल स्वामीको व्याघ्र भक्षण करता रहा, पर वह निशंक होकर अन्तमुहूर्तमें

केवलज्ञानी बने। शंकाको तो उसके पास स्थान ही नहीं रहता। उसे आत्माका स्वरूप भासमान होजाता है। अतः निःशंकित है।

२ निकांक्षित अङ्ग—

आकांक्षा करे तो क्या भोगोंकी, जिसको वर्तमानमें ही दुखदायी समझ रहा है। वह क्या लक्ष्मीकी चाहना करेगा? अरे, क्या लक्ष्मी कहीं भी स्थिर होकर रही है? तुम देख लो जिस जीवके अनुकूल निमित्त हुए उसीके पास दौड़ी चली गई। अतः ज्ञानी पुरुष तो इसको स्वप्नमें भी नहीं चाहते। वे तो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रमयी आत्माका ही सेवन करते हैं।

३ निर्विचिकित्सा अङ्ग—

सम्यग्दृष्टिको ग्लानि तो होती ही नहीं। अरे, वह क्या मलसे ग्लानि करे? मल तो प्रत्येक शरीरमें भरा पड़ा है। तनिक शरीरको काटो तो सिवाय मलके कुछ नहीं। वह किस पदार्थसे ग्लानि करे। सब परमाणु स्वतन्त्र हैं। मुनि भी देखो, किसी मुनिको वमन करते देखकर ग्लानि नहीं करते और अपने दोनों हाथ पसार देते हैं। अतः सम्यग्दृष्टि इस निर्विचिकित्सा अंगका भी पूर्णतया पालन करता है।

४ अमूढदृष्टि अङ्ग—

मूढ़दृष्टि तो तभी है जब पदार्थोंके स्वरूपको कोई न समझे—अनात्मामें आत्मबुद्धि रक्खे—पर सम्यक्त्वीके यह अङ्ग भी पूर्णतया पलता है उसकी अनात्मबुद्धि नहीं होती; क्योंकि उसे भेद-विज्ञान प्रकट हो गया है।

५ उपगूहन अङ्ग—

सम्यग्दृष्टि अपने दोषोंको नहीं छिपाता। अमोघवर्ष राजाने लिखा है कि प्रच्छन्न (गुप्त) पाप ही सबसे बड़ा दोष है जिससे वह निरन्तर सशंकित बना रहता है। प्रच्छन्न पाप बड़ा दुखदाई

होता है। जो पाप किए हैं उन्हें सामने प्रकट कर देने पर उतना दुख नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अपने दोषोंको एक एक करके निकाल फेंकता है और एक निर्दोष आत्माको ही ध्याता है।

६ स्थितीकरण अङ्ग—

जब अपने ऊपर कोई विपत्ति आजाय अथवा आधि-व्याधि हो जाय और रत्नत्रयसे अपने परिणाम चलायमान हुए मालूम पड़ें, तब अपने स्वरूपका चिन्तवन कर ले और पुनः अपनेको उसमें स्थित करे। व्यवहारमें परको चिगतेसे संभाले। इस अङ्गको भी सम्यक्त्वी विस्मरण नहीं करता।

७ वात्सल्य अङ्ग—

गौ और वत्सका वात्सल्य प्रसिद्ध है। ऐसा ही वात्सल्य अपने भाईयोंसे करे। सच्चा वात्सल्य तो अपनी आत्माका ही है। सम्यक्त्वी समस्त प्राणियोंसे मैत्रीभाव रखता है। उसके सदा जीव-मात्रके रक्षाके भाव होते हैं। एक जगह लिखा है:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह वस्तु पराई है अथवा निजकी है ऐसी गणना क्षुद्र चितवालोंके होती है। जिनका चरित्र उदार है उनके तो पृथ्वी ही कुटुम्ब है।' सम्यग्दृष्टि भगवानकी प्रतिमाके दर्शन करता है पर उसमें भी वह अपने स्वरूपकी ही झलक देखता है। जैसा उनका स्वरूप चतुष्टय है वैसा मेरा भी है। वह अपने आत्मासे अगाढ वात्सल्य रखता है।

८ प्रभावना अङ्ग—

सच्ची प्रभावना तो वह अपनी आत्माकी ही करता है पर व्यवहारमें रथ निकालना, उपवास करना आदि द्वारा प्रभावना

करता है। हम दूसरोंको धर्मात्मा बनानेका उपदेश करते हैं पर स्वयं धर्मात्मा बननेकी कोशिश नहीं करते। यह हमारी कितनी भूल है? अरे, पहले अपनेको धर्मात्मा बनाओ। दूसरे की चिन्ता मत करो। वह तो स्वयं अपने आप हो जायगा। ऐसी प्रभावना करो जिससे दूसरे कहने लगें कि ये सच्चे धर्मात्मा हैं। भगवानको ही देखो! उन्होंने पहले अपनेको बनाया दूसरेको बनानेकी परवाह उन्होंने कभी नहीं की।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि उक्त अष्ट अङ्गोंका पूर्णतया पालन करता हुआ अपनी आत्माकी निरन्तर विशुद्धि करता रहता है। अतः सम्यग्दृष्टि बनो। समताको लानेका प्रयत्न करो। समता और तामस ये दो ही तो शब्द हैं। चाहे समताको अपना लो या चाहे तामसको। समतामें सुख है तो तामसमें दुख है। समता यदि आजायगी तो तुम्हारी आत्मामें भी शान्ति प्राप्त होगी। सन्देह मत करो।

मिथ्यादृष्टि—

जो आत्मा और अनात्माके भेदको नहीं जानता वह मिथ्यात्वी है।

वास्तवमें देखो तो यह मिथ्यात्व ही जीव का भयंकर शत्रु है। यही चतुर्गतिमें रुलानेका कारण है। दो मनुष्य हैं। पहिलेको पूर्वकी ओर जाना है, और दूसरेको पश्चिमकी ओर। जब वे दोनों एक स्थान पर आए तो पहलेको दिग्भ्रम हो गया और दूसरेको लकवा लग गया। पहलेवालेको जहाँ पूर्व की ओर जाना चाहिए था किन्तु दिग्भ्रम होनेसे वह पश्चिमकी ओर जाने लगा। वह तो समझता है कि मैं पूर्व की ओर जा रहा हूँ पर वास्तवमें वह उस दिशासे उतना ही दूर होता जा रहा है। और दूसरें लकबेवालेको हालांकी पश्चिमकी ओर जानेमें उतनी दिक्कत

नहीं है; क्योंकि उसे तो दिशाका परिज्ञान है। वह धीरे-धीरे अभीष्ट स्थान पर पहुँच ही जायगा। परन्तु पहलेवालेको तो हो गया है दिग्भ्रम। अतः ज्यों ज्यों वह जाता है त्यों त्यों उसके लिए वह स्थान दूर होता जाता है। उसी तरह यह मोह मिथ्यात्व मोक्षमार्गसे दूर ला पटकता है। शेष तीन घातिया कर्म तो जीव के उतने घातक नहीं। वे तो इस मोहके नाश हो जानेसे शनैः शनैः क्षयको प्राप्त हो जाते हैं पर बलवान है तो यह मोह-मिथ्यात्व, जिसके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप विपरीत भासता है। जैसे किसीको कामला रोग हो जाय तो उसे अपने चारों ओर पीला ही पीला दिखाई देता है। शंख यद्यपि श्वेत है परन्तु उसे पीला ही दिखाई देता है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी कषायका उदय होने से पदाथ दूसरे रूप में दिख-लाई देता है।

मिथ्यादृष्टि शरीरके मरणमें अपना मरण शरीरके जन्ममें अपना जन्म और शरीरकी स्थितिमें अपनी स्थिति मान लेता है। कदाचित् गुरुका उपदेश भी मिल जाय तो उसे विपरीत भासता है। इन्द्रियोंके सुखमें ही अपना सच्चा सुख समझता है। पुण्य भी करता है तो अगामी भोगोंकी वांछासे। संसारमें वह पूर्ण आसक्त रहता है और इसीलिए बहिरात्मा कहलाता है?

अतः मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई अहितकर नहीं। इसके समान कोई बड़ा पाप नहीं। यही तो कर्मरूपा जलके आनेका सबसे बड़ा छिद्र है जो नावको संसाररूपी नदीमें डुबोता है। इसीके ही प्रसादसे कर्तृत्व बुद्धि होती है। इसलिए यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो इस महान् अनर्थकारी विपरीत बुद्धिको त्यागो। पदार्थोंका यथावत् श्रद्धान करो। देहमें आपा मानना ही देह धारण करनेका बीज है।

सम्यक्त्वी मिथ्यात्वीमें अन्तर–

(क) लक्ष्यकी अपेक्षा––

सम्यक्त्वी का लक्ष्य केवल शुद्धोपयोगमें ही रहता है वह बाह्यमें वैसा ही प्रवर्तन करता है जैसा मिथ्यादृष्टि परन्तु दोनोंके अन्तरङ्ग अभिप्राय प्रकाश और तमके समान सर्वथा भिन्न हैं।

मिथ्यादृष्टि भी वही भोग भोगता है और सम्यक्त्वी भी। बाह्यमें देखो तो दोनोंकी क्रियाएँ समान हैं परन्तु मिथ्यात्वी रागमें मस्त हो झूम जाता है और सम्यक्त्वी उसी रागको हेय जानता है। यही कारण है कि मिथ्यादृष्टिके भोग बन्धनके कारण हैं और सम्यक्त्वीके निर्जराके लिये हैं।

(ख) निर्मल अभिप्रायकी अपेक्षा––

सम्यक्त्वी बाह्यमें मिथ्यादृष्टि जैसा प्रवर्तन करता हुआ भी श्रद्धामें रागद्वेषादिके महत्त्वका अभाव होनेसे अबन्ध है, और मिथ्यादृष्टि रागद्वेषादिके स्वामित्वके सद्भावसे निरन्तर बँधता ही रहता है, क्यों कि आन्तरिक अभिप्रायकी निर्मलतामें दोनोंके जमीन आकाशसा अन्तर है।

(ग) दृष्टिकी अपेक्षा––

सम्यक्त्वीकी अन्तरंग दृष्टि होती है तो मिथ्यात्वीकी बहिर्दृष्टि। सम्यक्त्वी संसारमें रहता है पर मिथ्यात्वीके हृदयमें संसार रहता है। जलके ऊपर जबतक नाव है तब तो कोई विशेष हानि नहीं; पर जब नावके अन्दर जल बढ़ जाता है तो वह डूब जाती है। एक रईस है तो दूसरा सईस। रईसके लिए बग्गी होती है तो बग्गीके लिए सईस। मिथ्यात्वी शरीरके लिये होता है तो सम्यक्त्वीके लिए शरीर। दोनों बहिरे होते हैं, वह उसकी बात नहीं सुनता और वह उसकी नहीं सुनता। वैसे ही मिथ्यात्वी

सम्यक्त्वीकी बात नहीं समझता और सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी की। वह अपने स्वरूपमें मग्न है और वह अपने रंगमें मस्त है।

(घ) भेद-विज्ञानकी अपेक्षा–

देखिए जो आत्मा और अनात्माके भेदको नहीं जानता वह आगममें पापी ही बतलाया है। द्रव्यलिंगी मुनिको ही देखो वह बाह्यमें सब प्रकारकी क्रिया कर रहा है। अट्ठाईस मूल गुणों को भी पाल रहा है। बड़े बड़े राजे-महाराजे नमस्कार कर रहे हैं। कषाय इतनी मंद है कि घानीमें भी पेल दो तो त्राहि न करे। पर क्या है? इतना होते हुए भी यदि आत्मा और अनात्माका भेद नहीं मालूम हुआ तो वह पापी ही है। अवश्य मुनि है पर अन्तरङ्गकी अपेक्षासे मिथ्यात्वी ही है। उसकी गति नवग्रैवेयिकके आगे नहीं। ग्रैवेयिकसे च्युत हुआ और फिर वहीं पहुंचा; फिर आया फिर गया। इस तरह उसकी गति होती रहती है।

द्रव्यलिंगी चढ़ता उतरता रहता है पर भावलिंगी एक दो भवमें ही मोक्ष चला जाता है। तो कहनेका प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्वी उस अनादिकालीन ग्रन्थी को–जो आत्मा और अनात्माके बीच पड़ी हुई थी अपनी प्रज्ञारूपी छैनी से छेद डालता है। वह सबको अपनेसे जुदा समझता हुआ अन्तरङ्गमें विचार करता है "मैं एकमात्र सहजशुद्ध ज्ञान और आनन्द स्वभाव हूँ। एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।" उसकी गति ऐसी ही होजाती है जैसे जहाजका पक्षी—उड़कर जाय तो बताओ कहाँ जाय। इस ही को एकत्व एवं अद्वैत कहते हैं। 'संसारमें यावत् जितने पदार्थ हैं वह अपने स्वभावसे भिन्न हैं।' ऐसा चिन्तवन करना यही तो अन्यत्व भावना है। अतः सम्यक्त्वी अपनी दृष्टिको पूर्णरूपेण स्वात्मा पर ही केन्द्रित कर देता है।

(ङ) सहनशीलताकी अपेक्षा—

देखिए मुनि जब दिगम्बर हो जाते हैं तो हमको ऐसा लगता है कि कैसे परीषह सहन करते होंगे ? पर हम रागी और वे वैरागी। उनसे हमारी क्या समता ? उनके सुखको हम रागी जीव नहीं पा सकते सुकुमालस्वामीको ही देखिए। स्यालिनीने उनका उदर विदारण करके अपने क्रोधकी पराकाष्ठाका परिचय दिया; किन्तु वे स्वामी उस भयंकर उपसर्गसे विचलित न होकर उपशमश्रेणीद्वारा सर्वार्थसिद्धिके पात्र हुए। तो देखो यह सब अन्तरङ्गकी बात है। लोग कहते हैं कि भरतजी घर ही में वैरागी थे। अरे, वह घरमें वैरागी थे तो तुम्हें क्या मिल गया ? उनको शान्ति मिली तो क्या तुम्हें मिल गई ? उनने लड्डू खाये तो क्या तुम्हारा पेट भर गया? अरे,यों नहीं 'हम भी घर में वैरागी' ऐसी रटना लगाओ। यदि तुम घरमें वैरागी बनकर रहोगे तो तुम्हें शान्ति मिलेगी। उनकी रटना लगाए रहे तो बताओ तुमने क्या तत्त्व निकाला ? तत्त्व तो तभी है जब तुम वैसे बनोगे। ज्ञानार्णवमें लिखा है कि सम्यग्दृष्टि दो तीन ही हैं। तो दूसरा कहता है कि अरे, दो तीन तो बहुत कह दिए यदि एक ही होता तो हमारा कहना है कि हम ही सम्यग्दृष्टि हैं। अतः अपने को सम्यग्दृष्टि बनाओ ऊपरसे छल कपट किया तो क्या फायदा ? अपनेको माने सम्यग्ज्ञानी और करे स्वेच्छाचारी यह तो अन्याय हुआ। सम्यग्दृष्टि निरन्तर अपने अभिप्रायोंपर दृष्टिपात करता है। भयङ्करसे भयङ्कर उपसर्गमें भी वह अपने श्रद्धानसे विचलित नहीं होता, सम्यक्त्वीको कितनी भी बाधा आये तो भी वह अपनेको मोक्षमार्गका पथिक ही मानता है।

———

गागर में सागर

गागर में सागर

इस भव वनके मध्यमें जिन विन जाने जीव।
भ्रमण यातना सहनकर पाते दुःख अतीव ॥ १ ॥
सर्वंहितङ्कर ज्ञानमय कर्मचक्रसे दूर।
आत्म लाभके हेतु तस चरण नमूं हत क्रूर ॥ २ ॥

आत्मज्ञान—

कब आवे वह शुभग दिन जा दिन होवे सूझ।
पर पदार्थको भिन्न लख होवे अपनी बूझ ॥ ३ ॥
जो कुछ है सो आपमें देखो हिये विचार।
दर्पण परछाहीं लखत श्वानहिं दुःख अपार ॥ ४ ॥
आतम आतम रटनसे नहिं पावहिं भव पार।
भोजनकी कथनी किये मिटे भूख क्या यार ॥ ५ ॥
यह भवसागर अगम है नाहीं इसका पार।
आप सम्हाँले सहज ही नैया होगी पार ॥ ६ ॥
केवल वस्तु स्वभाव जो सो है आतम भाव।
आत्मभाव जाने बिना न ह आवे निज दाव ॥ ७ ॥

ठीक दाव आये विना होय न निजका लाभ।
केवल पांसा फेंकते नहिं पौ बारह लाभ ॥ ८ ॥
जिसने छोड़ा आपको वह जगमें मति हीन।
घर घर मांगे भीखको बोल वचन अति दीन ॥ ९ ॥
आत्म ज्ञान पाये बिना भ्रमत सकल संसार।
इसके होते ही तरे भव दुख पारावार ॥१०॥
जो कुछ चाहो आत्मा ! सर्व सुलभ जग बीच।
स्वर्ग नरक सब मिलत है भावहिं ऊँचरु नीच ॥११॥
आज घड़ी दिन शुभ भई पायो निज गुण धाम।
मनकी चिन्ता मिट गई घटहिं विराजे राम ॥१२॥

ज्ञान—

ज्ञान बराबर तप नहीं जो होवे निर्दोष।
नहीं ढोलकी पोल है पड़े रहो दुख कोष ॥१३॥
जो सुजान जाने नहीं आपा परका भेद।
ज्ञान न उसका कर सके भव वनका विच्छेद ॥१४॥
सर्व द्रव्य निज भावमें रमते एकहि रूप।
याही तत्त्व प्रसादसे जीव होत शिव भूप ॥१५॥
भेद ज्ञान महिमा अगम वचन गम्य नहि होय।
दूध स्वाद आवे नहीं पीते मीठा तोय ॥१६॥

दृढ़ता और सदाचार—

दृढ़ताको धारण करहु तज दो खोटी चाल।
विना नाम भगवानके काटो भवका जाल ॥१७॥

सुख की कुञ्जी—

जगमें जो चाहो भला तजो आदतें चार।
हिंसा चोरी झूठ पुन और पराई नार ॥१८॥
जो सुख चाहत हो जिया ! तज दो बातें चार।
पर नारी पर चूगली परधन और लवार ॥१९॥

गरीबी—

दीन लखे सुख सबनको दीनहिं लखे न कोय।
भली विचारे दीनता नर हु देवता होय ॥२०॥

आपत्ति –

विपति भली ही मानिये भले दुखी हो गात।
धैर्य्य धर्म तिय मित्र ये चारउ परखे जात ॥२१॥

नम्रता—

ऊँचे पानी न टिके नीचे ही ठहराय।
नीचे हो जी भर पियै ऊँचा प्यासा जाय ॥२२॥

भूलने योग्य भूल—

भव बन्धनका मूल है अपनी ही वह भूल।
याके जाते ही मिटे सभी जगतका शूल ॥२३॥
हम चाहत सब इष्ट हो उदय करत कछु और।
चाहत हैं स्वातन्त्र्यको परे पराई पौर ॥२४॥

सङ्कोच—

हाँ में हाँ न मिलाइये कीजे तत्त्व विचार।
एकाकी लख आत्मा हो जावो भव पार ॥२५॥

इष्ट मित्र संकोच वश करो न सत्पथ घात।
नहिं तो वसु नृपसी दशा अन्तिम होगी तात ॥२६॥

पर पदार्थ—

जो चाहत निज वस्तु तुम परको तजहु सुजान।
पर पदार्थ संसर्गसे कभी न हो कल्याण ॥२७॥

हितकारी निज वस्तु है परसे वह नहिं होय।
परकी ममता मेंटकर लीन निजातम होय ॥२८॥

उपादान निज आत्मा अन्य सर्व परिहार।
स्वात्म रसिक बिन होय नहिं नौका भवदधि पार॥२९॥

जो सुख चाहो आपना तज दे विषकी बेल।
परमें निजकी कल्पना यही जगतका खेल ॥३०॥

जबतक मनमें बसत है पर पदार्थकी चाह।
तबलग दुख संसारमें चाहे होवे शाह ॥३१॥

पर परणति पर जानकर आप आप जप जाप।
आप आपको याद कर भवका मेटहु ताप ॥३२॥

पर पदार्थ निज मानकर करते निशिदिन पाप।
दुर्गतिसे डरते नहीं जगत करहिं सन्ताप ॥३३॥

समय गया नहिं कुछ किया नहिं जाना निजसार।
पर परणतिमें मगन हो सहते दुःख अपार ॥३४॥

परमें आपा मानकर दुखी होत संसार।
ज्यों परछाहीं श्वान लख भौंकत बारम्बार ॥३५॥

यह संसार महा प्रबल या में वैरी होय।
परमें आपा कल्पना आप रूप निज खोय ॥३६॥
जो सुख चाहत हो सदा त्यागो पर अभिमान।
आप वस्तुमें रम रहो शिव मग सुखकी खान ॥३७॥
आज काल कर जग मुवा किया न आतम काज।
पर पदार्थको ग्रहण कर भई न नेकहु लाज ॥३८॥
जिनको चाहत तूँ सदा वह नहिं तेरा होय।
स्वार्थ सधे पर किसीकी बात न पूँछे कोय ॥३९॥

पर सङ्गति—

सबसे सुखिया जगतमें होता है वह जीव।
जो पर सङ्गति परिहरहि ध्यावे आत्म सदीव ॥४०॥
जो परसङ्गतिको करहि वह मोही जग बीच।
आतम अन्य न जानके डोलत है दुठ नीच ॥४१॥
परका नेहा छोड़ दो जो चाहो सुख रीति।
यही दुःखका मूल है कहती यह सद् नीति ॥४२॥
जो सुख चाहो जीव तुम तज दो परका संग।
नहिं तो फिर पछतावगे होय रंगमें भंग ॥४३॥
छोड़ो परकी संगति शोधो निज परिणाम।
ऐसी ही करनी किये पावहुगे निजधाम ॥४४॥
अन्य समागम दुखद है या में संशय नहिं।
कमल समागमके किये भ्रमर प्राण नश जाहिं ॥४५॥

राग—

भवदधि कारण राग है ताहि मित्र! निरवार।
या विन सब करनी किये अन्त न हो संसार ॥४६॥
राग द्वेष मय आत्मा धारत है बहु वेष।
तिनमें निजको मानकर सहता दुःख अशेष ॥४७॥
जगमें वैरी दोय हैं एक राग अरु दोष।
इनहींके व्यापार तें नहिं मिलता सन्तोष ॥४८॥

मोह—

आदि अन्त विन बोध युत मोह सहित दुःख रूप।
मोह नाश कर हो गया निर्मल शिवका भूप ॥४९॥
किसको अन्धा नहिं किया मोह जगतके बीच।
किसे नचाया नाच नहिं कामदेव दुठ नीच ॥५०॥
जगमें साथी दोय हैं आतम अरु परमात्म।
और कल्पना है सभी मोह जनक तादात्म ॥५१॥
'एकोऽहं' की रटनसे एक होय नहिं भाव।
मोह भावके नाशसे रहे न दूजा भाव ॥५२॥
मङ्गलमय मूरति नहीं जड़ मन्दिरके माँहिं।
मोही जीवोंकी समझ जानत नहिं घट मांहि ॥५३॥

परिग्रह—

परिग्रह दुखकी खान है चैन न इसमें लेश।
इसके वशमें हैं सभी ब्रह्मा विष्णु महेश ॥५४॥

रोकड़ (पूँजी) —

जो रोकड़के मोह वश तजता नाहीं पाप।
सो पावहि अपकीर्ति जग चाह दाह सन्ताप ॥५५॥
रोकड़ ममता छाँड़ि जिन तज दीना अभिमान।
कौड़ी नाहीं पासमें लोग कहें भगवान ॥५६॥
रोकडके चक्कर फँसे नहिं गिनते अपराध।
अखिल जीवका घात कर चाहत हैं निज साध ॥५७॥
रोकड़से भी प्रेमकर जो चाहत कल्याण।
विष भक्षणसे प्रेमकर जिये चहत अनजान ॥५८॥
रोकड़की चिन्ता किये रोकड़ सम लघु कोय।
रोकड़ आते ही दुखी किस विधि रक्षा होय ॥५९॥
आकर जानेसे दुखी धिक् यह रोकड़ होय।
फिर भी जो ममता करे वह पग-पग धिक् होय ॥६०॥
रोकड़की चिन्ता किये दुखी सकल संसार।
पर पदार्थ निज मानकर नहिं पावत भव पार ॥६१॥
रोकड़ आपद मूल है जानत सब संसार।
इतने पर नहिं त्यागते किस विधि उतरें पार ॥६२॥
साधु कहे बेटा! सुनो नहिं धन कीना पार।
अंटीमें पैसा धरें क्या उतरोगे पार ॥६३॥
द्रव्य मोह अच्छा नहीं जानत सकल जहान।
फिर भी पैसाके लिये करत कुकर्म अजान ॥६४॥

जिन रोकड़ चिन्ता तजी जाना आतम भाव।
तिनकी मुद्रा देखकर क्रूर होत सम भाव ॥६५॥

व्यवहार नयसे—

रोकड़ बिन नहिं होत है इस जग में निर्वाह।
इसकी सत्ताके बिना होते लोग तबाह ॥६६॥

लोभ—

ज्ञानी तापस शूर कवि कोविद गुण आगार।
केहिके लोभ विडम्बना कीन्ह न इह संसार ॥६७॥

सन्तोषी जीवन—

इक रोटी अपनी भली चाहे जैसी होय।
ताजी बासी मुरमुरी रूखी सूखी कोय ॥६८॥
एक वसन तन ढकनको नया पुराना कोय।
एक उसारा रहनको जहां निर्भय रहु सोय ॥६९॥
राजपाटके ठाठसे बढ़कर समझे ताहि।
शीलवान सन्तोषयुत जो ज्ञानी जग मांहि ॥७०॥

कुसङ्गति—

मूरख की संगति किए होती गुण की हानि।
ज्यों पावक सङ्गति किये घीकी होती हानि ॥७१॥

दुःखशील संसार—

जो जो दुख संसारमें भोगे आतम राम।
तिनकी गणनाके किये नहिं पावत विश्राम ॥७२॥

सुखकी चाह —

सुख चाहत सब जीव हैं देख जगत जंजाल।
ज्ञानी मूर्ख अमीर हो या होवे कंगाल ॥७३॥

भवितव्य—

होत वही जो है सही छोड़ो निज अहंकार।
व्यर्थ वादके किएसे नशत ज्ञानभण्डार ॥७४॥

दिव्य सन्देश—

देख दशा संसारकी क्यों नहिं चेतत भाय।
आखिर चलना होयगा क्या पण्डित क्या राय ॥७५॥
राम रामके जापसे नहीं राम मय होय।
घट की माया छोड़ते आप राम मय होय ॥७६॥

पारिभाषिक शब्दकोष

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

कल्याणका मार्ग—

उदासीन निमित्त—पृष्ठ क्रमांक २, वाक्य क्रमांक ३, जो कार्यकी उत्पत्तिमें सहकार करते हैं वे उदासीन निमित्त कहलाते हैं। ये दो प्रकारके होते हैं। एक वे जो गति, स्थिति, वर्तना और अवगाहन रूप प्रत्येक कार्यके प्रति समान रूपसे कारण होते हैं। ऐसे कारण द्रव्य चार हैं—धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य और आकाश द्रव्य। इन चारों द्रव्योंके निमित्त से क्रमसे गति, स्थिति, वर्तना और अवगाहना ये चार कार्य होते हैं। दूसरे वे हैं जो कार्यभेदके अनुसार यथासम्भव बदलते रहते हैं। यथा—घटोत्पत्तिमें कुम्हार निमित्त है और अध्यापन कार्यमें अध्यापक निमित्त है आदि। ये दोनों प्रकारके निमित्त उदासीन इसलिये कहलाते हैं कि ये किसी भी कार्यको बलात् उत्पन्न नहीं करते किन्तु कार्यकी उत्पत्तिमें सहकार मात्र करते हैं।

चरमशरीरादिक—पृ० २, वा० ३, वह अन्तिम शरीर जिससे मुक्ति लाभ होता है। आदि पदसे कर्मभूमि आदिका ग्रहण किया है।

कषाय—पृ० २, वा० ६, मुख्य कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

जीव—पृ० ३, वा० ८, जिसमें चेतना शक्ति पाई जाती है वह जीव है। चेतनासे मुख्यतया ज्ञान, दर्शन लिये गये हैं।

पराधीनता—पृ० ३, वा० ९, जीवनमें स्वसे भिन्न पर पदार्थके आलम्बनकी अपेक्षा रखना ही पराधीनता है।

धर्म—पृ० ३ वा० १२ जीवनमें आये हुए विकारोंका त्याग करना या स्वभावकी ओर जाना ही धर्म है।

अरिहन्त - पृ० ५, वा० २८, जिसने राग, द्वेष, मोह, अज्ञान और अदर्शन पर विजय प्राप्त कर जीवन्मुक्त दशा प्राप्त कर ली है वे अरिहन्त कहलाते हैं। इन्हें अरहन्त या अर्हत् भी कहते हैं।

वचन योग—पृ० ७, वा० ५३, योग का अर्थ क्रिया है। वचनके निमित्तसे आत्मा-प्रदेशोंमें जो क्रिया होती है उसे वचन योग कहते हैं।

पुद्गल—पृ० ७, वा० ५३, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला द्रव्य।

बन्ध - पृ० ८, वा० ५३, पर परिणतिके निमित्तसे जीवके साथ अशुद्ध दशाके कारणभूत कर्मोंका संयुक्त होना ही बन्ध है। परपरिणति दो प्रकारकी होती है। परमें निजत्वकी कल्पना करना प्रथम प्रकारकी परपरिणति है और परमें रागादि भाव करना दूसरे प्रकारकी परपरिणति है।

देव—पृ० ८, वा० ५६, जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त जीव ही देव है।

गुरु—पृ० ८, वा० ५६, जिसने बाह्य परिग्रह और उसकी मूर्छा इन दोनों को संसार का कारण जान इनका त्याग कर

दिया है और जो स्वावलम्बन पूर्वक अपना जीवन बिताते हैं वे गुरु हैं।

भेदविज्ञान—पृ० ८, वा० ५६, शरीर और उसके कार्योंको जुदा अनुभव करना तथा आत्मा और उसके कार्योंको जुदा अनुभव करना भेदविज्ञान है।

शुभोपयोग—पृ० ८, वा० ५६, देव, गुरु और शास्त्र आदि स्वातन्त्र्य प्राप्तिके निमित्त हैं। इस रागभावके साथ उनमें चित्त लगाना शुभोपयोग है।

संसार—पृ० ६, वा० ५९, आत्माकी अशुद्ध परिणतिका नाम ही संसार है।

दशधा धर्म—पृ. ९, वा. ६२, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य।

औदयिक भाव—पृ. ९, वा. ६२, पूर्वकृत कर्म के उदय से होनेवाली आत्माकी विकृत परिणतिका नाम औदयिक भाव है।

आत्मशक्ति—

दिव्यध्वनि—पृ. ११, वा. २, तीर्थङ्करका उपदेश।

सम्यग्दर्शन—पृ. १२. वा. ६, प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र और परिपूर्ण है इस श्रद्धाके साथ ज्ञान दर्शनस्वभाव आत्माकी स्वतन्त्र सत्ताका अनुभव करना सम्यग्दर्शन है।

काललब्धि—पृ० १२, वा० ६, लब्धि योग्यताका दूसरा नाम है। जिस समय सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है उसे काललब्धि कहते हैं। यहाँ काल उपलक्षण है। इससे सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिकी हेतुभूत अन्य योग्यताएँ भी ली गई हैं।

निर्विकल्पक दशा—पृ० १२, वा० ८, रागबुद्धि और द्वेषबुद्धि

का नाम विकल्प है। जहाँ ऐसा विकल्प न होकर मात्र जानना देखना रह जाता है वह निर्विकल्पक दशा है।

अनन्त ज्ञान—पृ० १३, वा० ११, ज्ञान दो प्रकारका है—अनन्त ज्ञान और सान्त ज्ञान। जो राग, द्वेष और मोहके निमित्त से होनेवाले आवरणके कारण व्यवहित या न्यूनाधिक होता रहता है वह सान्त ज्ञान है; किन्तु जिसके उक्त कारणों के दूर हो जाने पर सतत एक समान ज्ञानकी धारा चालू रहती है वह ज्ञानधारा अनन्त ज्ञान है।

अनन्त सुख—पृ० १३, वा० ११, सुख भी दो प्रकार का है-अनन्त सुख और सान्त सुख। जो सुख पर पदार्थोंके आलम्बनके बिना होता है अतः सर्व काल एकसा बना रहता है वह अनन्त सुख है और इससे भिन्न सान्त सुख है। सान्त सुख सुख नहीं सुखाभास है।

आत्मनिर्मलता—

गृहस्थावस्था—पृ० १५, वा० १, जो स्वावलम्बनके महत्त्व को जान कर भी कमजोरी वश जीवन में उसे पूरी तरहसे उतारनेमें असमर्थ है, अतएव घर आदिमें राग आदि कर उनका परिग्रह करता है वह गृहस्थ है। ऐसे गृहस्थकी दशाका नाम ही गृहस्थावस्था है।

कर्मशत्रु—पृ० १५, वा० १, कर्म आत्माकी अशुद्ध परिणति-में निमित्त हैं इस लिए उन्हें कर्मशत्रु कहते हैं।

शास्त्र—पृ० १५, वा० २, जिन ग्रन्थों द्वारा स्वातन्त्र्य प्राप्ति की शिक्षा दी जाती है और साथ ही जिनमें संसार और संसारके कारणोंका निर्देश किया गया है वे शास्त्र हैं।

समवशरण पृ० १५, वा० ६, तीर्थकरोंकी सभा।

देव—पृ० १६, वा० ६, योनिविशेष

नारक– पृ० १६, वा० ६, योनिविशेष

मिथ्यात्व—पृ० १७, वा० १४, विपरीत श्रद्धा—घर, स्त्री, पुत्र, धन व शरीरादिमें अपनत्व मानना और आत्माकी स्वतन्त्र सत्ताका अनुभव नहीं करना।

तिर्यंच...पृ० १८, वा० २३, गाय, हाथी, घोड़ा, आदि।

मोक्षपथ—पृ० १८, वा० २३, स्वतन्त्रताका मार्ग। मुक्ति पथ, मोक्षमार्ग व मुक्तिमार्ग इसके पर्यायवाची नाम हैं।

आत्मविश्वास—

आनन्तानन्त—पृ० २२ वा० ६, वह संख्या जो केवल अतीन्द्रिय ज्ञान गम्य है।

कार्मणवर्गणा—पृ० २२, वा० ६, समान शक्तिवाले कर्म परमाणुओंका समुदाय।

रौद्रध्यान – पृ० २२, वा० ६, हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने व परिग्रहका संचय करनेके तीव्र विचार।

आर्तध्यान – पृ० २२, वा० ६, इष्टका वियोग होने पर दुखके साथ निरन्तर उसके मिलानेका विचार करना, अनिष्टका संयोग होनेपर दुखके साथ निरन्तर उसे दूर करनेका विचार करना, शारीरिक व मानसिक पीड़ा होनेपर उसे दूर करनेके लिए खेद खिन्न होना और भोगोंको जुटानेके लिए निरन्तर चिन्तित रहना।

अवधिज्ञान—पृ० २५, वा० १४, मर्यादित रूपसे परोक्ष पदार्थ को सामने रखी हुई वस्तु के समान जानना।

मनःपर्ययज्ञान—पृ० २५, वा० १४, दूसरेके मानस को प्रत्यक्ष रूपसे जानना।

केवलज्ञान—पृ० २५, वा० १४, जीवन्मुक्त दशामें प्राप्त होनेवाला ज्ञान ।

आत्मबल—पृ० २५, वा० १५, अन्य पदार्थ का सहारा लिए बिना जो वीर्य स्वभावसे आत्मामें उत्पन्न होता है वह । इसीका दूसरा नाम अनन्त बल भी है ।

मोक्षमार्ग—

परीषह विजयी—पृ० २७, वा० २, स्वेच्छासे भूख; प्यास आदि जन्य बाधा सहते हुए भी बाधा अनुभव नहीं करनेवाला ।

विभाव—पृ० २७, वा० ५, कर्मके निमित्तसे जो भाव आत्मामें होते हैं वे विभाव कहलाते हैं । जैसे, क्रोध, भाव, और मतिज्ञान आदि ।

सम्यग्ज्ञान—पृ० २८, वा० ६, सम्यग्दर्शन पूर्वक होनेवाला ज्ञान ।

शुद्धोपयोग—पृ० ३१, वा० ३३, राग, द्वेष रहित ज्ञान व्यापार ।

ज्ञान —

क्षयोपशम—पृ० ३६, वा० ६, कर्मके कुछ क्षय व कुछ उपशम दोनोंके मेलसे होनेवाला आत्माका भाव ।

मूर्छा—पृ० ३७, वा० ६, बाह्य पदार्थों में आसक्तिरूप परिणाम ।

निर्जरा—पृ० ३७, वा० ६, कर्मों का एकदेश क्षय ।

श्रुतज्ञान—पृ० ३७, वा० ७, मुख्यतया शास्त्र व उपदेश आदिके निमित्तसे होनेवाला ज्ञान ।

ज्ञानचेतना—पृ० ३८, वा० १६, आत्मा ज्ञान दर्शन स्वभाव है, वह राग-द्वेषसे रहित है ऐसा अनुभवमें आना।

चारित्र—

मिथ्या गुणस्थान—पृ० ३६, वा० ३, आत्माकी जिस अवस्थामें विपरीत श्रद्धा रहती है वह मिथ्यात्व गुणस्थान है।

देशसंयम—पृ० ३६, वा० ५, हिंसा आदि परिणामोंका एकदेश त्याग। बाह्य आलम्बनकी अपेक्षा इसे अणुव्रत भी कहते हैं। दूसरा नाम इसका देशचारित्र भी है।

संयम—पृ० ३६, वा० ६, हिंसा आदि परिणामोंका त्याग।

चरणानुयोग—पृ० ४१, वा० १५, मुख्यतया चारित्रका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र।

सकलचारित्र—पृ० ४१, वा० १६, हिंसा आदि परिणामोंका पूर्ण त्याग। इसे सकलसंयम भी कहते हैं।

श्रेणी—पृ० ४६, वा० २३, श्रेणीके दो भेद हैं—उपशम श्रणी और क्षपकश्रेणी। जिस अवस्थामें कर्मोंका उपशम किया जाता है वह उपशमश्रेणी है और जिस अवस्थामें कर्मोंका क्षय किया जाता है वह क्षपकश्रेणी है।

आठ प्रवचन मात्रिका—पृ० ४६, वा० २३, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और व्युत्सर्ग ये पाँच समितियाँ तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ।

पञ्च परमेष्ठी—पृ० ४६, वा० २५, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

व्यवहार धर्म—पृ० ४७, वा० २६, राग, द्वेषकी निवृत्तिके लिये बाह्य निमित्तोंके आलम्बनसे की गई क्रिया।

मानवधर्म—

आत्मोद्धार—पृ० ६५, वा० २, प्रयत्न द्वारा आत्मा का मोह, राग, द्वेष आदिसे रहित होना ही आत्मोद्धार है।

चार गति—पृ० ६६, वा० १८, नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति।

मनुष्यायु—पृ० ६७, वा० २१, आयुकर्मका एक भेद जिससे जीव मनुष्य योनिमें उत्पन्न होता है।

धर्म—

मोह—पृ० ६९, वा० २, विपरीत श्रद्धा।

क्षोभ—पृ० ६९, वा० २, राग-द्वेषरूप परिणति।

संज्ञी—पृ० ७१, वा० १७, जिनके मन है वे जीव।

असंज्ञी—पृ० ७१, वा० १७, जिनके मन नहीं है वे संसारी जीव।

निर्ग्रन्थ—पृ० ७१, वा० २२, जो स्त्री, धन, घर, वस्त्र आदि बाह्य परिग्रहसे रहित हैं और अन्तरङ्गमें जिनके मिथ्यात्व, कषाय आदि रूप परिणतिका अभाव हो गया है वे निर्ग्रन्थ हैं।

सुख—

तप—पृ० ७७, वा० २७, चित्तशुद्धि पूर्वक बाह्य आलम्बन का कम करना तप है।

ज्ञानावरण—पृ० ७८, वा० ३६, ज्ञानके प्रकट होनेमें बाधक कर्म।

शान्ति—

समता—पृ० ८१, वा० १०, आत्मामें राग-द्वेष रूप परिणतिका न होना ही समता है।

पञ्च कल्याणक—पृ० ८५, वा० ३८, तीर्थङ्करोंका गर्भ समयका उत्सव, जन्म-समयका उत्सव, दीक्षा-समयका उत्सव, ज्ञान-प्राप्ति-समयका उत्सव और निर्वाण-समयका उत्सव।

षोडश कारण—पृ० ८५, वा० ३८, तीर्थङ्कर होनेके सोलह कारण।

अष्टाह्निका व्रत—पृ० ८५, वा० ३८, कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ़के अन्तिम आठ दिनोंमें की जानेवाली धार्मिक विधि।

उद्यापन—पृ० ८५, ३८, नैमित्तिक व्रतोंकी समाप्तिके समय किया जानेवाला धार्मिक उत्सव।

भक्ति—

सामायिक—पृ० ८८, वा० ३, समता परिणामोंका नियमित विधिके साथ अभ्यास।

पुरुषार्थ—

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय—पृ० ९५, वा० १०, जिसके पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन है वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहलाता है।

निराकुलता—

शल्य—पृ० १०१, वा ३, माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य हैं।

दान—

द्रव्य-दृष्टि—पृ० १०९, पंक्ति १२, अभेद-दृष्टि।
पर्याय-दृष्टि—पृ० १०९, पंक्ति १४, भेद-दृष्टि।
तीर्थङ्कर—पृ० ११७, पंक्ति २२, धर्म-तीर्थके प्रधान उपदेष्टा।

स्वोपकार और परोपकार—

निश्चयनय—पृ० १२२, पंक्ति २, मूल पदार्थ की अपेक्षा या अभेद रूपसे विचार करनेवाली दृष्टि।

व्यवहारनय—पृ० १२३, पं० ९, निमित्तकी अपेक्षा या भेद रूप से विचार करनेवाली दृष्टि।

क्षमा—

चारित्रमोह—पृ० १२९, वा० १, कर्मका अवान्तर भेद, जिसके उदयसे आत्मा समीचीन चारित्र धारण करनेमें असमर्थ रहता है।

उपवास—पृ० १३१, वा० ८, सब प्रकारके भोजनका त्याग।

एकासन—पृ० १३१, वा० ८, दिन में एक बार भोजन।

ब्रह्मचर्य—

इन्द्रिय-संयम—पृ० १४७, वा० १०, पाँच इन्द्रियों और मनको वशमें करना।

कषाय—

मनोयोग—पृ० १७०, वा १३, मनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंमें क्रिया का होना।

मोह—

यथाख्यात चारित्र—पृ० १७६, वा० २०, रागद्वेषके अभावमें होनेवाली आत्मपरिणति।

स्वात्मानुभूति—पृ० १७६, वा० २०, अपने आत्माका इस प्रकार अनुभव कि मैं ज्ञान दर्शनस्वभाव हूँ ये शरीर, स्त्री, घर आदि मुझसे भिन्न हैं।

दर्शनमोह—पृ० १७६, वा० २१, कर्मका अवान्तर भेद जिसके निमित्तसे पर पदार्थोंमें अहंकार भाव होता है।

देशव्रती—पृ० १७७, वा० २५, जिसने स्वावलम्बन को एक देश जीवन में उतारना चालू किया है वह।

अव्रती—पृ० १७७, वा० २५, जो स्वावलम्बनके महत्त्वको जानकर भी जीवनमें उसे अंशतः या समग्र रूपसे उतारनेमें असमर्थ है वह। जो स्वावलम्बनके महत्वको नहीं समझा है वह तो अव्रती है ही।

मोहकर्म—पृ० १७७, वा २६, कर्मका एक अवान्तर भेद, जिससे जीव न तो अपनी स्वतन्त्रताका अनुभव करता है और न स्वावलम्बनको जीवनमें उतारनेमें ही समर्थ होता है।

रागद्वेष—

उपशम—पृ० १७८, वा० २, शान्त करना।

अध्यात्मशास्त्र—पृ० १७८, वा० २, जिस शास्त्रमें प्रत्येक आत्माकी स्वतन्त्र सत्ताका और उसके गुण धर्मोंका स्वतन्त्र भावसे विचार किया गया हो वह अध्यात्मशास्त्र है।

साम्यभाव—पृ० १७८, वा० ३, समता परिणाम जो कि रागद्वेषके अभावमें होते हैं।

योगशक्ति—पृ० १७८, वा० ५, जिससे आत्मा सकम्प बना रहता है।

स्थिति बन्ध—पृ० १७९, वा० ५, बँधनेवाले कर्मोंमें स्थिति का पड़ना स्थितिबन्ध है।

अनुभागबन्ध—पृ० १७९, वा० ५, बँधनेवाले कर्मोंमें फल-दान शक्तिका पड़ना अनुभागबन्ध है।

द्रव्यकर्म—पृ० १८०, वा० १५, जीवस सम्बद्ध जिन पुद्गल पिण्डोंमें शुभाशुभ फल देनेकी शक्ति पड़ जाती है वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं।

पर्वके दिन—पृ० १८०, वा० १६, जिन दिनोंको धर्मादि कार्योंके लिये विशेष रूपसे निश्चित कर लिया है या जिन दिनोंमें कोई सांस्कृतिक घटना घटी है वे दिन पर्व दिन कहलाते हैं।

मैत्रीभाव—पृ० १८१, वा० १७, जैसे हम स्वतन्त्रताके अधिकारी हैं वैसे ही संसारके अन्य जीव भी उसके अधिकारी हैं ऐसा मानकर उनकी उन्नतिमें सहायक होना और उनसे संसार वासनाकी पूर्तिकी आशा न रखना ही मैत्रीभाव है।

लोभ लालच—

उच्चवंश—पृ० १८२, वा० ६, वंशका अर्थ है आचारवालों की परम्परा या आचारकी परम्परा। इसलिये उच्चवंशका अर्थ हुआ उच्च आचारवालोंकी परम्परा या उच्च आचारकी परम्परा।

परिग्रह—

पाँच पाप—पृ० १८३, वा० १, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह।

अहिंसा—पृ० १८३, वा० ३, जीवनमें आये हुए विकारोंको दूर करना और अन्यकी स्वतन्त्रताका घात करनेकी चेष्टा न करना।

समाजवाद—पृ० १८४, वा० ४, आर्थिक आधारसे सब मनुष्योंको एक भूमिकापर ले आनेवाला विचारप्रवाह। कम्यूनिष्टवाद इसीका रूपान्तर है।

सम्प्रदायवादी--पृ० १८४, वा० ४, विवक्षित तत्त्वज्ञानके बहाने कल्पित की गई रेखाओंको धर्म बतलानेवाले।

तत्त्वदृष्टि--पृ० १८४, वा० ४, वास्तव दृष्टि।

सुधासीकर—

निवृत्तिमार्ग--पृ० २०१, वा० २०, जीवनमें आये हुए विकारोंके त्यागका मार्ग।

शुद्धोपयोगी—पृ० २०४, वा० ४२, रागद्वेष रूप प्रवृत्तिसे रहित होकर जड़ चेतन प्रत्येक पदार्थको मात्र जानना शुद्धोपयोग है।

ब्रह्मचर्य—पृ० २०५, वा० ४८, स्त्री मात्रसे दूषित चित्तवृत्तिको हटाकर उसे आत्मस्वरूपके चिन्तनमें लगाना ब्रह्मचर्य है।

क्षमा—पृ० २०७, वा० ६७, क्रोधका त्याग या अवैरभाव।

मनोनिग्रह--२०८, वा० ७६, विषयोंसे हटाकर मनको अपने अधीन कर लेना।

दैनन्दिनीके पृष्ठ--

निरीहवृत्ति—पृ० २१६, वा० ६५, सांसारिक अभिलाषाओंके त्यागरूप परिणति।

पर्याय—पृ० २२३, वा० ९५, द्रव्यकी अवस्था।

कर्मफल चेतना—पृ० २२४, वा० ९९, ज्ञानके सिवा अन्य अनात्मीय कार्योंका अपनेको भोक्ता अनुभव करना और तद्रूप हो जाना कर्मफल चेतना है।

कर्मचेतना—पृ० २२५, वा० ९६, ज्ञानके सिवा अपनेको अन्य अनात्मीय कार्योंका कर्ता अनुभव करना कर्मचेतना है।

संसार—

अमूर्त—पृ० २२९, पंक्ति ४, रूप, रस, गन्ध आदि पुद्गल-धर्मोंसे रहित।

मूर्त—पृ० २२९, पंक्ति ५, रूप, रस आदि पुद्गलधर्मवाला।

विजातीय—पृ० २२९, पंक्ति ७, भिन्न-भिन्न जातिके दो द्रव्य।

परमाणु—पृ० २२९, पंक्ति १०, जिसका दूसरा विभाग सम्भव नहीं ऐसा सबसे छोटा अणु।

सजातीय—पृ० २२६, पंक्ति १३, एक जातिके दो द्रव्य।

चार्वाक—पृ० २२९, पंक्ति २०, आत्मा और परलोकको नहीं माननेवाला।

निगोद—पृ० २३०, पंक्ति १६, वनस्पति योनिका अवान्तर भेद। ये एक शरीरके आश्रयसे अनन्तानन्त जीव रहते हैं। इनमेंसे एकके आहार लेने पर सबका आहार हो जाता है। एकके श्वासोच्छ्वास लेने पर सबको श्वासोच्छ्वासका ग्रहण होजाता है और एकके मरने पर सब मर जाते हैं

स्पर्शन इन्द्रिय—पृ० २३०, पंक्ति १७, जिससे केवल स्पर्शका ज्ञान होता है।

द्वीन्द्रिय जीव—पृ० २३०, पंक्ति २३, जिसके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ हों।

त्रीन्द्रिय जीव—पृ० २३०, पंक्ति २४, जिसके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हों।

चतुरिन्द्रिय जीव—पृ० २३०, पंक्ति २४, जिसके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ हों।

असैनी पञ्चेन्द्रिय—पृ० २३१, पंक्ति १, जिसके पाँच इन्द्रियाँ तो हों किन्तु मन न हो।

नैयायिक—पृ० २३६, पंक्ति १५, न्यायदर्शनको माननेवाले।

सर्वार्थसिद्धि—पृ० २३७, पंक्ति २४, देवोंका सर्वोत्कृष्ट स्थान।

क्षायिकसम्यक्त्व—पृ० २४३, पंक्ति १३, सम्यग्दर्शनके प्रतिबन्धक कारणोंके सर्वथा अभावसे प्रकट होनेवाला आत्माका गुण।

भोगभूमि—पृ० २४४, पंक्ति २, जहाँ खेती आदि साधनोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु प्रकृति प्रदत्त साधनोंसे जीवन निर्वाह होजाता है वह भोगभूमि है।

धर्मादि चार द्रव्य—पृ० २५१, पंक्ति ३, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य।

उपयोग स्वभाव—पृ० २५३, पंक्ति ८, ज्ञान-दर्शन स्वभाव।

निश्चय और व्यवहार—

धर्म द्रव्य—पृ० २६१, पंक्ति ४, जो जीव और पुद्गलकी गमन क्रियामें सहायक हो।

अधर्म द्रव्य—पृ० २६१, पंक्ति ४, जो जीव और पुद्गलकी स्थिति क्रियामें सहायक हो।

आकाश—पृ० २६१, पंक्ति ४, जो सब द्रव्योंको अवकाश दे।

काल—पृ० २६१, पंक्ति ४, जो सब द्रव्योंके परिणमनमें सहायक हो।

ग्यारह अङ्ग—पृ० २६३, पंक्ति ३, जैनियोंके प्रसिद्ध ग्यारह मूल शास्त्र जिनकी रचना तीर्थङ्करोंके प्रधान शिष्य करते हैं।

स्थितीकरण अङ्ग—

अन्तरात्मा—पृ० २६६, पंक्ति ८, जो बाहरको ओर न देखकर भीतरकी ओर देखता है। अर्थात् जो आत्माको शरीरादिसे भिन्न अनुभव करता है वह अन्तरात्मा है।

बहिरात्मा—पृ० २६६, पंक्ति ११ जो शरीरादिको ही आत्मा अनुभवता है वह बहिरात्मा है।

भगवान् महावीर—

दैगम्बरी दीक्षा—पृ० ३०४, पंक्ति २, सकल परिग्रहका त्याग कर जीवनमें पूर्ण स्वावलम्बनको स्वीकार करनेकी दीक्षा।

अप्रत्याख्यान कषाय—पृ० ३०६, पंक्ति २, जिसके उदयमें किसी प्रकारका चारित्ररूप परिणाम नहीं होता।

प्रत्याख्यान कषाय—पृ० ३०६, पंक्ति ३, जिसके उदयमें मुनिव्रत स्वीकार करनेके भाव नहीं होते।

बाह्याभ्यन्तर परिग्रह—पृ० ३०७, पंक्ति ५, जमीन, जायदाद मकान आदि बाह्य परिग्रह है और मिथ्यात्व, कषाय आदि रूप परिणाम आभ्यन्तर परिग्रह है।

निमित्तकारण—पृ० ३०७, पंक्ति १४, कार्यकी उत्पत्तिमें जो सहकार करता है वह।

अध्यवसान—पृ० ३११, पंक्ति ९, जीवके भाव।

अजीव—पृ० ३१२, पंक्ति ११, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच द्रव्योंको अजीव कहते हैं।

लोक—पृ० ३१२, पंक्ति ११, जिसमें जीव आदि छहों द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं।

परिग्रह—पृ० ३३६, पंक्ति १, अन्य पदार्थोंमें यह मैं हूँ या मेरा है ऐसी मूर्च्छाका होना परिग्रह है और इसके होने पर जीव अन्य पदार्थोंका संचय करता है, इसलिये वह भी परिग्रह है।

मुनिव्रत—पृ० ३३७, पंक्ति १३, जीवनमें पूर्ण स्वावलम्बनकी दीक्षा लेनेवाले साधुओंका व्रत मुनिव्रत कहलाता है।

पुरुषार्थ—पृ० ३३८, पंक्ति २३, पुरुषका बुद्धिपूर्वक व्यापार।

शुद्ध आत्मा—पृ० ३४०, पंक्ति १२, कर्मोपाधिसे रहित आत्मा।

परमानन्द—पृ० ३४०, पंक्ति १४, निराकुलत रूप सुख।

परमात्मा—पृ० ३४०, पंक्ति २०, जीवन्मुक्त आत्मा और सिद्धात्मा।

ज्ञायकस्वस्वभाव—पृ० ३४२, पंक्ति ३, जाननेवाला आत्मा है। अतः ज्ञायकस्वभाव उसका दूसरा नाम है।

नरकायु—पृ० ३४४, पंक्ति ७, नरक योनिविशेष है। उसे प्राप्त करानेवाला कर्म।

ग्रैवेयिक—पृ० ३५१, पंक्ति १२, उत्तमजातिके देवोंके रहनेका विशेष स्थान।

द्रव्यलिंगी—पृ० ३५१, पंक्ति १५, बाह्य चारित्र पर दृष्टि रखनेवाला और अन्तरङ्गके परिणामोंकी संम्हाल न करनेवाला साधु।

भावलिंगी—पृ० ३५१, पंक्ति १५, अन्तरङ्ग परिणामोंकी पूरी तरह सम्हाल करनेवाला वीतराग साधु।

अद्वैत—पृ० ३५१, पंक्ति २३, अन्य जड़ चेतन मेरे नहीं, मैं उनसे भिन्न एक हूं ऐसा अनुभवमें आना ही अद्वैत है। किन्तु इसके विपरीत जड़ चेतन सबको एक मानना अद्वैत नहीं है।

———

ग्रन्थमें जैन महात्मा श्रीगणेशप्रसाद वर्णी द्वारा व्यक्त किये गये विचारों तथा उनके व्याख्यानोंका संग्रह है। वर्णीजीकी जीवन-गाथाके अतिरिक्त उसमें पाँच वर्षकी डायरी भी दी गयी है जिससे उनके जीवनको अत्यधिक निकटसे देखनेका अवसर मिलता है। उनके लेख काफी विचारपूर्ण और गम्भीर हैं, जिससे जीवनको यथेष्ट ज्ञान और दिशाका संकेत मिलता है। पवित्र जीवनयापनकेनिमित्त जिसपर देश और लोककल्याण निर्भर है ऐसी पुस्तकोंकी भारतको ही क्या समस्त विश्वको आवश्यकता है। भारत ही ऐसा देश है जहाँ वर्णीजी जैसे महापुरुष आजभी अँधेरेमें अपने जीवनका उदाहरण प्रस्तुत करके प्रकाश दे रहे हैं। पुस्तक मननीय और सग्रहणीय है।

दैनिक 'आज' काशी

२ अप्रैल १९५०

वर्णी ग्रन्थमाला के महत्वपूर्ण प्रकाशन

पञ्चाध्यायी—व्या० वा० पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्त शास्त्री। शंका समाधान और विशेषार्थों से सुसज्जित अनुपम विवेचन। स्वाध्याय प्रेमियों के लिये महत्वपूर्ण आध्यात्म ग्रन्थ। मूल्य ६)

तत्त्वार्थसूत्र—पं० फूलचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री। पंडितजी की स्वतंत्र एवं अनुपमकृति, तत्वार्थसूत्र के सभी विषयों का सरल भाषा में विवेचन। मूल्य ५)

वर्णीवाणी—तृतीय संस्करण-पूज्यवर्णीजी के उपदेशों का संग्रह। मूल्य ४)

अपभ्रंश प्रकाश—श्री देवेन्द्रकुमारजी एम-ए०साहित्य रत्न। विद्वान लेखक की खोज पूर्णकृति-जैन अपभ्रंश साहित्य का सरल हिन्दी अनुवाद। हिन्दी के साथ समन्वयात्मक विवेचन। मूल्य ३)

मेरीजीवन गाथा—पूज्य वर्णीजी की आत्मकथा। मूल्य ६।)

विश्वशान्ति और अपरिग्रहवाद- ।)

अनेकान्त और स्याद्वाद— ।)

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, २।३८ भदैनी-बनारस।